विषय-सूची

दो शब्द

पाठको के समक्ष भिक्षु-ग्रन्थमाला का तीसरा ग्रन्थ 'शील की नव बाड' के रूप मे उपस्थित है। स्वामीजी की इस कृति के कई सस्करण निकल चुके है। पर इसका सानुवाद और सटिप्पण हिन्दी अनुवादयुक्त सस्करण यह प्रथम ही है। साधु और गृहस्थ दोनो के लिए ही ब्रह्मचर्य अत्यन्त महत्व का विषय है। भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य मे स्थिरता और समाधि प्राप्त करने के लिए जिन नियमो की प्ररूपणा की, उन्ही की विशद चर्चा प्रस्तुत कृति मे है। मूल कृति मारवाडी भाषा मे है। यह सस्करण उसका हिन्दी अनुवाद सामने लाता है।

ब्रह्मचर्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर गभीर और विशद विवेचन करनेवाले दो महापुरुष सन्त टॉल्स्टॉय और महात्मा गाधी के विचारो को भूमिका मे विस्तार से दिया गया है और जैन दृष्टि के साथ उनकी यथाशक्य तुलना की गई है।

यहॉ प्रसगवश महासभा के इस विषयक दो अन्य प्रकाशनो की ओर भी पाठको का ध्यान आकर्षित किया जाता है। पाठक उन पुस्तको को भी प्रस्तुत ग्रन्थ के साथ पढेगे तो विषय की गभीर जानकारी हो सकेगी। इन प्रकाशनो के नाम हैं—(१) ब्रह्मचर्य (महात्मा गाधी के ब्रह्मचर्य विषयक विचारो का दोहन) और (२) ब्रह्मचर्य (आगमो पर से ब्रह्मचर्य विषयक विचारो का सकलन)।

आशा है, महासभा का यह प्रकाशन पाठको के लिए अत्यन्त लाभप्रद होगा।

जैन श्वेताम्बर तेरापन्थी महासभा
३, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट,
कलकत्ता-१
२८, दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया
व्यवस्थापक,
साहित्य-विभाग

भूमिका की विषय सूची

भूमिका

१-ब्रह्मचर्य का परिभाषा

'शील की नव बाड' मे प्रयुक्त 'शील' का अर्थ ब्रह्मचर्य है और 'बाड' का अर्थ है ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय अथवा ब्रह्मचारी के रहन-सहन की मर्यादाएँ और शिष्टाचार।

श्री मङ्गलदेव शास्त्री के अनुसार सृष्टि के समस्त पदार्थो का जो अव्यय, कूटस्थ, शाश्वत, दिव्य मूलकारण है वह 'ब्रह्म' है अथवा ज्ञानरूप वेद 'ब्रह्म' है। ऐसे 'ब्रह्म' की प्राप्ति के उद्देश्य से व्रत-ग्रहण करना ब्रह्मचर्य है[1]।

श्री विनोबा कहते हैं "ब्रह्मचर्य शब्द का मतलब है ब्रह्म की खोजमें अपना जीवन-क्रम रखना, सबसे विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना। उसमे नीचे की बात नही कही है [2]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं: "ब्रह्मचर्य के मूल अर्थ को सब याद रखें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की—सत्य की शोध में चर्या, अर्थात् तत्—सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ मे से सर्वेन्द्रियसयमरूपी विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रियसयम रूपी अधूरे अर्थ को तो हमे भूल ही जाना चाहिए[3]।" उन्होने अन्यत्र कहा है "ब्रह्मचर्य क्या है? वह जीवन की ऐसी चर्या है जो हमें ब्रह्म—ईश्वर तक पहुँचाती है। इसमे जनन-क्रिया पर सम्पूर्ण सयम का समावेश हो जाता है। यह सयम मन, वचन और कर्म से होना चाहिए [4]।"

उपर्युक्त तीनो ही विचारको ने 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ मे सुन्दरता लाने की चेष्टा की है और उसे बडा व्यापक विशाल रूप दिया है। पर वैसा अर्थ वेदो मे उपलब्ध ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्य शब्द का नही मिलता। सायण ने ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ करते हुए लिखा है—"ब्रह्मचारी ब्रह्मणि वेदात्मके अध्येतव्ये चरितु शीलम् यस्य स [5]"—वेदात्मक ब्रह्म को अध्ययन करना जिसका आचरण—शील है उसे ब्रह्मचारी कहते हैं। ब्रह्मचर्य की परिभाषा इस रूप मे मिलती है—"वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिए आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है[6]।" यहाँ कर्म का अर्थ है समिधादान, भिक्षाचर्या और ऊर्ध्वरेतस्कत्व आदि। कर्म शब्द मे उपस्थ-सयम, इन्द्रिय-सयम का समावेश भले ही किया जा सके पर वेद प्रयुक्त ब्रह्मचर्य शब्द की जो प्राचीन परिभाषा है वह ऐसा अर्थ नही देती, यह स्पष्ट है। महर्षि पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य का अर्थ 'वस्ति निरोध' किया है।

अब हम जैन आगमो मे वर्णित 'ब्रह्मचर्य' शब्द की व्याख्या पर आवे।

सूत्रकृताङ्ग मे कहा है: "ब्रह्मचर्य को ग्रहण कर मुमुक्षु पदार्थ शाश्वत ही हैं, अशाश्वत ही हैं, लोक नही है, अलोक नही है, जीव नही है, अजीव नही है आदि-आदि दृष्टियां न रखे [7]।" यहां "ब्रह्मचर्य" शब्द की व्याख्या करते हुए श्री शीलाङ्क लिखते हैं—"जिसमे सत्य, तप, भूत-दया

१—भारतीय सस्कृति का विकास (प्र० स०) पृ० २२८

सर्वेषामपि भूतानां यत्कारणमव्ययम्।
कूटस्थ शाश्वत दिव्य, वेदो वा, ज्ञानमेव यत्॥
तदेतदुभय ब्रह्म ब्रह्मशब्देन कथ्यते।
तदुद्दिश्य व्रतं यस्य ब्रह्मचारी स उच्यते॥

२—कार्यकर्ता-वर्ग ब्रह्मचर्य पृ० ३१-३२

३—मगल प्रभात पृ० १६-१७

४—Self-Restraint V Self-Indulgence p 165 से अनूदित

५—अथर्ववेद ११ ५ १ सायण

६—अथर्ववेद ११ ५ १७ सायण

७—सूत्रकृतांग २ ५ १-३२

एव इन्द्रिय-निरोध रूप ब्रह्म की चर्या—अनुष्ठान हो उस मौनीन्द्र-प्रवचन—जिन-प्रवचन को ब्रह्मचर्य कहते हैं [१]।" "मोक्ष का हेतु सम्यक् ज्ञान-दर्शन-चरित्रात्मक मार्ग ब्रह्मचर्य है [२]।"

निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने आचाराङ्ग का वर्णन करते हुए लिखा है · "बारह अङ्गो मे आचाराङ्ग प्रथम अङ्ग है। उसमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। वह प्रवचन का साररूप है [३]।" वे आगे जाकर लिखते हैं: "वेद—आचाराङ्ग ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन मय है [४]।" इसका तात्पर्य यह हुआ कि आचाराङ्ग के ब्रह्मचर्य नामक नौ अध्ययन प्रवचन के साररूप हैं और उनमें मोक्ष के उपाय का वर्णन है। इस तरह ब्रह्मचर्य शब्द मोक्ष की प्राप्ति के लिए आवश्यक सारे प्रशस्त गुण और आचरण का द्योतक शब्द माना गया है [५]। उसमे सारे मूल और उत्तर गुणो की साधना का समावेश होता है [६]। उसमे सारा मोक्ष-मार्ग समा जाता है।

निर्युक्तिकार अन्यत्र कहते हैं "भाव ब्रह्म दो प्रकार का होता है—एक मुनि का वस्ति-सयम (उपस्थ-सयम) और दूसरा मुनि का सम्पूर्ण सयम [७]।"

उपर्युक्त विवेचन से ब्रह्मचर्य के दो अर्थ सामने आते हैं :

१—जिसमें मोक्ष के लिए ब्रह्म—सर्व प्रकार के सयम की चर्या—अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है। इसमे सर्व मूल उत्तर गुणो की चर्या का समावेश होता है।

२—वस्ति-संयम अर्थात् वस्ति-निरोध ब्रह्मचर्य है। इस अर्थ में सर्व दिव्य और औदारिक काम और रति-सुखो से मन-वचन-काय

१—सूत्रकृताङ्ग २ ५ १ और उसकी टीका :

आदाय वम्मचेर च आसुपन्ने इम वइ।

अस्सि धम्मे अणायार नायरेज्ज कयाइवि॥

ब्रह्मचर्य —सत्यतपोभूतदयेन्द्रियनिरोध लक्षणं तच्चर्यते अनुष्ठीयते यस्मिन् तन्मौनीन्द्र' प्रवचन ब्रह्मचर्यमित्युच्यते।

२—वही :

मौनीन्द्र' प्रवचन ब्रह्मचर्यमित्युच्यते। . मौनीन्द्रप्रवचन तु मोक्षमार्गहेतुतया सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकम्

३—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ९ ·

आयारो अगाण पढम अगं दुवालसण्हंपि।

इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स॥

४—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ११ :

णववंभचेरमइओ अट्ठारसपयसहस्सिओ वेओ।

हवइ य सपचचूलो वहुवहुतरओ पयग्गेणं॥

५—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० ३० ·

भावे गइमाहारो गुणो गुणवओ पसत्थमपसत्था।

गुणचरणे परात्थेण वभचेरा नव हवति॥

६—वही गा० ३० की टीका

नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमनुशील्यन्ते

७—वही गा० २८

दव्व सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसजमो चेव।

भावे उ वत्थिसजम णायव्वो सजमो चेव॥

भावब्रह्म तु साधूनां वस्तिसयम , अष्टादशभेदरूपोऽप्यय सयम एव , सप्तदशविधसयमाभिन्नरूपत्वादन्येति अष्टादशभेदास्त्वमी

श्रौर कृत-कारित-अनुमति रूप से विरति ब्रह्मचर्य है[1]।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी, संत विनोबा आदि आधुनिक विचारकों का चिन्तन प्राचीन जैन चिन्तन से भिन्न नहीं है। वैदिक धारा के अनुसार ईश्वर ब्रह्म है और जैन विचारधारा के अनुसार मोक्ष ब्रह्म है। इतना ही अन्तर है। तुलना से स्पष्ट होगा कि आगमों मे उपलब्ध ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म और व्यापक है।

बौद्ध पिटकों मे ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। यह नीचे के विवेचन से स्पष्ट होगा—

१—पापी मार बुद्ध से बोला—"भन्ते! भगवान् अब परिनिर्वाण को प्राप्त हो। यह परिनिर्वाण का काल है।" तब बुद्ध ने उत्तर दिया—"पापी! मैं तब तक परिनिर्वाण को नहीं प्राप्त होऊँगा, जब तक कि यह ब्रह्मचर्य ऋद्ध, विस्तारित, बहुजनगृहीत, विशाल, देवताओं और मनुष्यों तक सुप्रकाशित न हो जायेगा।" यहाँ स्पष्टत 'ब्रह्मचर्य' शब्द का अर्थ बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग है[2]। इस अर्थ मे 'ब्रह्मचर्य' शब्द का प्रयोग बौद्ध त्रिपिटकों मे अनेक स्थलों पर मिलता है। वहाँ ब्रह्मचर्य-वास का अर्थ है बौद्धधर्म मे वास[3]।

२—भगवान का धर्म स्वाख्यात है। वह स्वाख्यात क्यों है? अर्थ व्यञ्जन सहित सर्वांश मे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करने से स्वाख्यात है[4]। यहाँ ब्रह्मचर्य का अर्थ है वह चर्या जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

३—ब्रह्मचर्य अर्थात् मैथुन-विरमण।

ब्रह्मचर्य शब्द के ये अर्थ जैनधर्म मे प्राप्त अर्थों जैसे ही हैं।

२-जीवन में ब्रह्मचर्य के दोनों अर्थों की व्याप्ति

ब्रह्मचर्य के उपर्युक्त दोनो अर्थों की व्याप्ति जीवन मे इस प्रकार होती है। जब मनुष्य जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—इन पदार्थों के स्वरूप को जान लेता है तब देव और मनुष्यों के कामभोगों को नश्वर जानने लगता है। वह सोचने लगता है—"काम भोग दु खावह हैं। उनका फल बड़ा कटु होता है। वे विष के समान हैं। शरीर फेन के बुद्बुद् की तरह क्षणभंगुर है। उसे पहले या पीछे अवश्य छोड़ना पड़ता है। जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए ससार में मैं अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा।" इस तरह वह विरक्त हो जाता है। जब मनुष्य दैविक और मानुषिक भोगों से इस प्रकार विरक्त होता है, तब वह अन्दर और बाहर के अनेकविध ममत्व को उसी प्रकार छोड़ देता है जिस तरह महा नाग कांचली को। जैसे कपड़े में लगी हुई रेणु—रज को झाड़ दिया जाता है, उसी प्रकार वह ऋद्ध, वित्त, मित्र, पुत्र, स्त्री और सम्बन्धीजनों के मोह को छिटका कर निष्पृह हो जाता है। जब मनुष्य निष्पृह होता है, तब मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है। जब मनुष्य मुण्ड हो अनगारवृत्ति को धारण करता है, तब वह उत्कृष्ट सयम और अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है[5]।

इस श्रामण्य का ग्रहण ही उपर्युक्त प्रथम कोटि का ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रथम व्यापक अर्थ को ध्यान मे रख कर ही कहा गया है—जो ऐसे श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करता है उसे सहस्रों गुण धारण करने पड़ते हैं, इसमें जीवन-पर्यन्त विश्राम नहीं। यह लोह-भार की

१—आचाराङ्ग निर्युक्ति गा० २८ की टीका

दिव्यात्कामरतिसुखात् त्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम्।
औदारिकादपि तथा तद् ब्रह्माष्टादशविकल्पम्॥

२—दीघ-निकाय महापरिनिब्बाण सुत्त पृ० १३१

३—वही पोट्ठपाद पृ० ७५

४—विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) पृ० १६५

५—(क) दशवैकालिक ४ १४-१६

(ख) उत्तराध्ययन १६ ११-१२,१४,२४,८७-८६

तरह गुणो का बडा बोझ है[1]।

उपर्युक्त श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) को ग्रहण करते समय सर्व पापो का त्याग कर मुमुक्षु को जिन महाव्रतो को ग्रहण करना पडता है उनमे उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है[3]। यह महाव्रत अब्रह्म की विरति रूप कहा गया है[4]। इस तरह श्रामण्य (ब्रह्मचर्य) ग्रहण करते समय अन्य महाव्रतो के साथ महाव्रत ब्रह्मचर्य को ग्रहण करना उपर्युक्त उपस्थ-संयम रूप दूसरी कोटि के ब्रह्मचर्य का धारण करना है महाव्रत ब्रह्मचर्य सर्व मैथुन विरमण रूप होता है[5]। उसके ग्रहण की प्रतिज्ञा की शब्दावलि इस प्रकार है

"हे भदन्त! इसके बाद चौथे महाव्रत मे मैथुन से विरमण करना होता है। हे भदन्त! मैं सर्व मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूं। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी—जो भी मैथुन है मैं उसका स्वय सेवन नही करूँगा, दूसरे से उसका सेवन नही कराऊँगा और न मैथुन सेवन करनेवाला का अनुमोदन करूँगा। त्रिविध-त्रिविध रूप से—मन, वचन और काया तथा करने, कराने और अनुमोदन रूप से मैथुन सेवन का मुझे यावज्जीवन के लिए प्रत्याख्यान है। हे भदन्त! मैंने अतीत मे मैथुन सेवन किया, उससे अलग होता हूँ और पाप का सेवन करने वाली आत्मा का त्याग करता हूं। मैं सर्व मैथुन से विरति रूप इस चौथे महाव्रत मे अपने को उपस्थित करता हूँ[6]।"

व्रत-परिपालन, ज्ञान-वृद्धि, कषाय-जय, स्वतत्र वृत्ति की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि श्रामण्य ग्रहण कर श्रमण ब्रह्म-धर्मगुरु के चरणो मे रहे। इस उद्देश्य से गुरुकुलवास करने को भी ब्रह्मचर्य कहा है[7]।

१—उत्तराध्ययन १९ · २५,३६

२—इन महाव्रतों का उल्लेख अनेक आगमों में है। देखिए दशवैकालिक ४.१–६,१०.१०-२५, उत्तराध्ययन १९ २६-३१, आचाराङ्ग श्रु० २ १५, स्थानांग ३८९, समवायांग ५। सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है इह खलु सव्वओ सव्वत्ताए मुडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइयस्स सव्वओ पाणाइवायाओ वेरमणं मुसावाय-अदिण्णादाण-मेहुणपरिग्गह-राईभोयणाओ वेरमण। अयमाउसो अणगारसामाइए धम्मे पण्णत्ते। (औपपातिक सू० ५७)

३—(क) उत्तराध्ययन १९ ३४ ·

कावोया जा इमा वित्ती केसलोओ अ दारुणो।
दुक्खं बभव्वय घोर धारेउ य महप्पणो॥

४—वही १९ २९

विरई अबभचेरस्स, कामभोगरसन्नुणा।
उग्गं महव्वय बंभ, धारेयव्व सुदुकर॥

५—समवायांग ५

सव्वाओ मेहूणाओ वेरमण

६—(क) दशवैकालिक ४ ४

(ख) आचाराग श्रु० २.१५

७—(क) तत्त्वार्थसूत्र ९ ६ भाष्य १०

व्रतपरिपालनाय ज्ञानाभिवृद्धये कषायपरिपाकाय च गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यमस्वातन्त्र्य गर्वधीनत्वं गुरुनिर्देशस्थायित्वमित्यर्थ च

(ख) वही ९ ६ सर्वार्थसिद्धि

स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्

(ग) वही ९ ६ तत्त्वार्थवार्तिक २३

अस्वातन्त्र्यार्थं गुरौ ब्रह्मणि चर्यमिति। अथवा ब्रह्म गुरुस्तस्मिंश्चरण तदनुविधानमस्य अस्वातन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं ब्रह्मचर्यमवतिष्ठते

मैथुन शब्द की व्याख्या इस प्रकार है स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है। मिथुन के भाव-विशेष अथवा कर्म-विशेष को मैथुन कहते हैं। मैथुन ही अब्रह्म है[1]।

आचार्य पूज्यपाद ने विस्तार करते हुए लिखा है—मोह के उदय होने पर राग-परिणाम से स्त्री और पुरुष मे जो परस्पर सस्पर्श की इच्छा होती है, वह मिथुन है। और उनका कार्य अर्थात् सभोग-क्रिया मैथुन है। दोनो के पारस्परिक सर्व भाव अथवा सर्व कर्म मैथुन नही, राग-परिणाम के निमित्त से होनेवाली चेष्टा मैथुन है[2]।

श्री अकलङ्कदेव एक विशेष बात कहते हैं—हस्त, पाद, पुद्गल सघट्टनादि से एक व्यक्ति का अब्रह्म सेवन भी मैथुन है। क्योकि यहाँ एक व्यक्ति ही मोहोदय से प्रकट हुए कामरूपी पिशाच के सपर्क से दो हो जाता है और दो के कर्म को मैथुन कहने मे कोई बाधा नही[3]। उन्होने यह भी कहा—इसी तरह पुरुष-पुरुष या स्त्री-स्त्री के बीच राग भाव से अनिष्ट चेष्टा भी अब्रह्म है[4]।

उपर्युक्त विवेचन के साथ पाक्षिक सूत्र के विवेचन[5] को जोडने से उपस्थ-सयम रूप ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है. मन-वचन-काय से तथा कृत-कारित-अनुमति रूप से दैविक मानुषिक, तिर्यच सम्बन्धी सर्व प्रकार के वैषयिक भाव और कर्मो से विरति। द्रव्य की अपेक्षा सजीव अथवा निर्जीव किसी भी वस्तु से मैथुन-सेवन नही करना, क्षेत्र की दृष्टि से ऊर्ध्व, अधो अथवा तिर्यग् लोक मे कही भी मैथुन-सेवन नही करना, काल की अपेक्षा दिन या रात मे किसी भी समय मैथुन-सेवन नही करना और भाव की अपेक्षा राग या द्वेष किसी भी भावना से मैथुन का सेवन नही करना ब्रह्मचर्य है[5]।

महात्मा गाधी ने लिखा है—"मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियो का सदा सब विषयो मे सयम ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक सयम मात्र नहीं है बल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम-वासना का त्याग। इस रूप मे वह आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा मार्ग है[6]।"

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए सर्वेन्द्रिय सयम की आवश्यकता को जैनधर्म मे भी सर्वोपरि स्थान प्राप्त है। वहाँ मन, वचन और काय से ही नहीं पर कृत-कारित-अनुमोदन से भी काम वासना के त्याग को ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए परमावश्यक बतलाया है। स्वामीजी सर्वेन्द्रियजय—विषय-जय को एक परकोट की उपमा देते हुए कहते हैं—

> शब्द रूप गन्ध रस फरस, भला भूडा हलका भारी सरस।
> यां सू राग धेष करणो नाही, सील रहसी एहवा कोट माही॥

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ ११ और भाष्य

मैथुनमब्रह्म

स्त्रीपुसयोर्मिथुनभावो मिथुनकर्म वा मैथुन तदब्रह्म

२—तत्त्वार्थसूत्र ७ १६ सर्वार्थसिद्धि

स्त्रीपुसयोश्च चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयोः परस्परस्पर्शन प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य कर्म मैथुनमित्युच्यते। न सर्वं कर्म। स्त्रीपुसयो रागपरिणामनिमित्त चेष्टित मैथुनमिति

३—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १६ ८

एकस्य द्वितीयोपपत्तौ मैथुनत्वसिद्धे —तदेकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्व तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाच-वशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धे मैथुनव्यवहारसिद्धिः

४—तत्त्वार्थवार्तिक ७ १६ ६

५—पाक्षिकसूत्र

से मेहुणे चउव्विहे पन्नत्त तजहा—दव्वओ खित्तओ कालओ भावओ। दव्वओ ण मेहुणे रूवेसु वा रूवसहगएसु वा। खित्तओ ण मेहुणे उड्ढलोए वा अहोलोए वा तिरियलोए वा। कालओ ण मेहुणे दिया वा राओ वा। भावओ ण मेहुणे रागेण वा दोसेण वा

६—ब्रह्मचर्य (प्रथम भाग) पृ० ३

इस तरह स्पष्ट है कि स्वामीजी ने सम्पूर्ण इन्द्रियो के सयम—विषय के जीतने को ब्रह्मचर्य की रक्षा के प्रबलतम साधन के रूप में ग्रहण किया है। इस तरह महात्मा गांधी और जैन परिभाषा की व्याख्या अन्तरश एक दूसरे के साथ मिल जाती है।

सक्षेप में स्व पर शरीर मे प्रवृत्ति का त्याग कर शुद्ध बुद्धि से ब्रह्म मे—स्व आत्मा में चर्या ब्रह्मचर्य है[1]।

३-शाश्वत सनातन धर्म

भगवान महावीर के ठीक पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। वे सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण और सर्व बहिर्दादान (परिग्रह) विरमण—इन चारयामो का प्ररूपण करते थे। भगवान महावीर के समय मे भी अनेक पार्श्वपात्य निर्ग्रंथ साधु वर्तमान थे जो चातुर्याम का पालन और प्रचार करते थे[2]। महावीर ने उपर्युक्त चारयामो मे सर्व बहिर्दादान विरमण के पहले सर्व मैथुन विरमण को और जोड दिया और पाँचयाम का उपदेश आरम्भ किया। उनके निर्ग्रन्थ साधु पाँचयामो का पालन करने लगे। यह एक चर्चा का विषय बन गया। पार्श्वनाथ के शिष्य केशीकुमार और वर्द्धमान के शिष्य गौतम दोनो ही विद्या और चारित्र मे परिपूर्ण थे। इस शका को जानकर दोनो अपने-अपने शिष्य समुदाय के साथ तिन्दुक वनमे मिले[3]। और दोनो मे निम्न वार्तालाप हुआ

केशी ने पूछा गौतम! वर्द्धमान पांचशिक्षा रूप धर्म का उपदेश करते हैं और पार्श्वनाथ ने चारयाम रूप धर्म का ही उपदेश दिया। एक ही कार्य के लिए प्रवृत्त इन दोनो मे भेद होने का क्या कारण[4]? इस प्रकार धर्म के दो भेद होने पर आपको सशय क्यो नही होता?"

गौतम बोले . "प्रज्ञा ही धर्म को सम्यक् रूप मे देखती है। तत्त्व का विनिश्चय प्रज्ञा से होता है। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि ऋजुजड थे और अन्तिम तीर्थङ्कर के मुनि वक्रजड हैं। मध्यवर्ती तीर्थंकरो के मुनि ऋजुप्राज्ञ थे। इससे धर्म के दो भेद देखे जाते हैं। प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि कठिनता से धर्म समझते और अन्तिम जिन के मुनियो के लिए धर्म-पालन कठिन है। मध्यवर्ती तीर्थंकरो के मुनियो के लिए धर्म समझना और पालन करना सुलभ होता है। अत प्रथम और चरम तीर्थङ्कर के मार्ग मे ब्रह्मचर्य याम का पृथक् प्ररूपण ही सुखावह है[5]।" अन्य तीर्थङ्कर चारयाम का ही प्ररूपण करते हैं[6]।"

१—या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुच प्रवृत्ति ।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौम ये पान्ति ते यान्ति पर प्रमोदम् ॥

२—(क) भगवती २ ५
तेण काले ण ते ण समये ण पासावच्चिज्जा थेरा भगवतो सहुंसुहेणं विहरमाणा जेणेव तुगिया नगरी तेणेव उवागच्छति .. तए ण ते थेरा भगवतो तिस समणोवासयाण चाउज्जां धम्म परिकहति

(ख) सूत्रकृताङ्ग २ ७ .
तए ण से उदए पेढालपुत्ते समण भगव महावीर वदिता नमसित्ता एव वयासी—इच्छामि ण भते! तुब्भ अतिए चाउज्जमाओ धम्माओ पचमहव्वइयं सपडिक्कमण धम्म उवसपज्जित्ता ण विहरित्तए ।

३—उत्तराध्ययन २३ १-१५

४—उत्तराध्ययन २३ २३-२४
चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पचसिक्खिओ ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥
एगकज्जपवन्नाण विसेसे कि नु कारण ।
धम्मे दुविहे मेहावि कह विप्पच्चओ न ते ॥

५—वही २३ २५-२७,८७

६—स्थानाङ्ग
पच्छिमवज्जा मज्झिमगा बावीस अरिहता भगवता चाउज्जाम धम्म पण्णवेति त जहां सव्वतो पाणातिवायाओ वेरमण एव मुसावायाओ वेरमण सव्वातो अदिन्नादाणाओ वेरमण सव्वओ बहिद्धादाणाओ वेरमण

इस चर्चा के बाद केशी श्रमण ने श्रमणसंघसहित पाँचयाम रूप धर्म को ग्रहण किया[1]।

उपर्युक्त वार्तालाप के फलित इस प्रकार हैं

१—भगवान महावीर ने जो पाँचयाम का उपदेश किया, यह कोई नई बात नही थी। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव भी पाँचयाम का उपदेश करते थे।

२—पार्श्वनाथ के मुनि ऋजुप्राज्ञ थे अत मैथुन विरमण याम को बहिर्दादान (परिग्रह) के अन्तर्गत मानने मे उनको कठिनाई नही होती और चारयाम के धारक होने पर भी मैथुन विरमण को बहिर्दादान विरमण के अन्तर्गत मान व्यवहारत पाँचो का पालन करते थे।

३—प्रथम तीर्थङ्कर के मुनि कठिनता से समझते अत उनके सुखावबोध के लिए सर्व मैथुन विरमण का एक अलग याम के रूप मे उपदेश किया गया। चरम तीर्थङ्कर के मुनियो के लिए पालन करना कठिन था। अत ब्रह्मचर्य के पालन पर सम्यक् जोर देने के लिए महावीर ने सर्व मैथुन विरमण महाव्रत को पुन पृथक् कर पाँचयाम का उपदेश दिया।

इस तरह स्पष्ट हो जाता है कि 'सर्व मैथुन विरमण महाव्रत' अर्थात् 'ब्रह्मचर्य महाव्रत' जैन परम्परा मे एक सनातन धर्म के रूपमे स्वीकृत रहा—कभी पृथक् महाव्रत के रूप मे और कभी बहिर्दादान विरमण महाव्रत के अन्तर्गत व्यवहार धर्म के रूप मे।

इस बात को ध्यान मे रख कर ही कहा गया है—"ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है। यह जिन-देशित है। पूर्व मे इस धर्म के पालन से अनेक जीव सिद्ध हुए हैं, अभी होते हैं और आगे भी होंगे[2]।"

४-आश्रम व्यवस्था और ब्रह्मचर्य का स्थान

मनुस्मृति के अनुसार सारे धर्म का मूल वेद हैं—"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (२ ६)। उसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास—इन चारो आश्रमो की उत्पत्ति वेद से बताई गई है[3]। पर वेदो मे—सहिता और ब्राह्मणो मे आश्रम शब्द का उल्लेख नही मिलता। और न ब्रह्मचर्यादि चारो आश्रमो के नाम ही मिलते हैं। अत चतुराश्रम-व्यवस्था वेद-प्रसूत है, ऐसा नही कहा जा सकता। वेदो मे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य शब्द मिलते हैं[4]। शतपथ आदि प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थो में ब्रह्मचर्य शब्द उपलब्ध है[5]। इससे प्रमाणित होता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम की कल्पना का बीज वेदो मे उपलब्ध था। वेदो मे "हे वधु! हम दोनो की सौभाग्य-स्मृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणि-ग्रहण करता हूँ। मैंने तुम्हे देवताओ से प्रसाद रूप मे गार्हपत्य के लिए—गृहस्थ-धर्म के पालन के लिए पाया है[6]—ऐसे सूक्त भी पाये जाते हैं जिससे कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम की कल्पना का आधार भी वेदो मे है। पर वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के बीज वेदो में उपलब्ध नही हैं। वेदो के "तुम

१—उत्तराध्ययन २३ ८७

एव तु ससए छिन्ने केसी घोरपरक्कमे।
अभिवन्दित्ता सिरसा गोयम तु महायस ॥
पच महव्वयधम्म पडिवज्जइ भावओ।
पुरिमस्स पच्छिमम्मि मग्गे तत्थ सुहावहे ॥

२—उत्तराध्ययन १६ १७

एसे धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे ॥

३—मनुस्मृति १२ ६७

चातुर्वर्ण्य त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा पृथक्।
भूत भव्य भविष्य च सर्व वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥

४—(क) ऋग्वेद १० १०६ ५, अथर्ववेद ५ १७ ५, तैत्तिरीय सहिता २ १०.५
(ख) अथर्ववेद ११ ५ १-२६

५—शतपथ ब्राह्मण ६ ५ ४ १२

६—ऋग्वेद १० ८५ ३६

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त
मह्य त्वादुर्गार्हपत्याय देवा ।

मुझ पति के साथ वृद्धावस्था को प्राप्त करो [१]", "पति पत्नी के साथ जीवन-पर्यन्त अग्निहोत्र करे[२]", "पति पत्नीसह जीवनपर्यन्त दर्श और पूर्णमास यागो को करे[३]"—आदि विधानो से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम की कल्पना के आधार वेद नही हैं।

उपनिषद् काल मे आश्रम-व्यवस्था का क्रमशः उत्तरोत्तर विकास देखा जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् मे प्रथम तीन आश्रमो का सकेत रूप मे वर्णन है[४]। अन्य उपनिषदो मे सन्यास-ग्रहण के उल्लेख हैं[५]। जाबालोपनिषद् (४) मे चारो आश्रमो का स्पष्ट रूप मे नाम-निर्देश है।

धर्मसूत्रो के युग मे चतुराश्रम-व्यवस्था अच्छी तरह देखी जाती है। प्राचीन-से-प्राचीन धर्मसूत्र मे भी चारो आश्रमो का उल्लेख पाया जाता है।

उपर्युक्त चार आश्रमो के ग्रहण की व्यवस्था के सम्बन्ध मे छान्दोग्य उपनिषद् में निम्न दो विधान मिलते हैं[६]

(१) ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृही होना चाहिए। गृहस्थ के बाद वनी—वानप्रस्थ होना चाहिए। वानप्रस्थ के बाद प्रव्रजित होना चाहिए। यह समुच्चय पक्ष कहलाता है।

(२) यदि अन्यथा देखे अर्थात् उत्कट् वैराग्य हो तो ब्रह्मचर्य से ही सन्यास ग्रहण करे वा गृहस्थाश्रम से वा वानप्रस्थ से सन्यास मे गमन करे अथवा जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी प्रव्रजित हो। यह विकल्प पक्ष कहलाता है।

(३) तीसरा मत गौतम और बौधायन जैसे प्राचीन धर्म सूत्रो का है। इनके अनुसार आश्रम एक ही है और वह है गृहस्थ आश्रम[७]। ब्रह्मचर्य आश्रम गृहस्थ आश्रम की भूमिका मात्र है। इसे बाध पक्ष कहते हैं।

समुच्चय पक्ष के अनुसार आश्रमो को उनके क्रम से ही ग्रहण किया जा सकता है। बीच के आश्रम को छोडकर बाद का ग्रहण नही किया जा सकता। उदाहरण स्वरूप ब्रह्मचर्य से अथवा गार्हस्थ आश्रम से सीधा सन्यास ग्रहण नही किया जा सकता। इस मत के सम्बन्ध में श्री काने लिखते हैं "यह मत विवाह अथवा वैवाहिक जीवन (Sexual life) को अपवित्र अथवा सन्यास से निम्नकोटि का नही मानता। इतना ही नही यह गार्हस्थ्य को सन्यास से उच्च स्थान देता है। समुच्चय रूप से अधिकांश धर्मशास्त्रो का झुकाव गार्हस्थ्य आश्रम की महिमा बढाने तथा वानप्रस्थ और सन्यास को पीछे ढकेलने की ओर रहा है। यह बात यहाँ तक पहुँची है कि कितने ही ग्रंथो मे यह उल्लेख आया है कि कलि-काल में वानप्रस्थ और सन्यास वर्जित हैं[८]।" आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे आश्रमो का क्रम इस प्रकार है—"आश्रम चार हैं— गार्हस्थ्य, आचार्यकुल-वास, मौन और वानप्रस्थ।" यहाँ 'आचार्य कुलवास' ब्रह्मचर्य का द्योतक है और 'मौन' सन्यास का। यहाँ गार्हस्थ्य आश्रम को सब आश्रमो से पूर्व रखा है। इसका कारण वही है जो श्री काने ने उल्लिखित किया है।

समुच्चय और विकल्प पक्ष की आलोचना करते हुए बौधायन धर्मसूत्र में लिखा है—"प्रह्लाद के पुत्र कपिल ने देवो के प्रति स्पर्धा के कारण आश्रम-भेदो को खडा किया है। मनीषी इन पर ध्यान नही देते।"

१—ऋग्वेद १० ८५ ३६ ·
गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्त
मया पत्या जरदष्टिर्यथास

२—यावज्जीवमग्निहोत्र जुहोति

३—यावज्जीव दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्

४—छान्दोग्य उपनिषद् २ २३ १

५—बृहदारण्यक उपनिषद् ३ ५ १, ४ ५ २, मुण्डक उपनिषद् १ २ ११, ३ २ ६

६—जाबालोपनिषद् ४
ब्रह्मचर्य परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्
यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वावनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत

७—(क) गौतम धर्मसूत्र ३ १,३५
तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते। ऐकाश्रम्य त्वाचार्य प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थ्यस्य
(ख) बौधायन धर्मसूत्र २ ६ २६
ऐकाश्रम्य त्वाचार्य अप्रजननत्वादितरेषाम्।

८—History of Dharmasastra Vol II Part I p 424

बौधायन ने यह भी कहा ,—"वास्तव मे आश्रम एक है—गृहस्थाश्रम[1]।"

यहाँ संक्षेप मे यह भी जान लेना आवश्यक है कि ब्रह्मचर्य आश्रम मे प्रवेश किस तरह होता था और ब्रह्मचारी के विशेष धर्म व कर्त्तव्य क्या थे। बालक आचार्य से कहता—मैं ब्रह्मचर्य के लिए आया हूँ। मुझे ब्रह्मचारी करें। आचार्य विद्यार्थी से उसका नाम पूछता। इसके बाद आचार्य उपनयन करते—उसे अपने नजदीक लेते। और उसके हाथ को ग्रहण कर कहते—तुम इन्द्र के ब्रह्मचारी हो, अग्नि तुम्हारा आचार्य है, मैं तुम्हारा आचार्य हूँ। इसके बाद आचार्य उसे भूतो को अर्पित करते। आचार्य शिक्षा देते—जल पीओ, कर्म करो, समिधा दो, दिन मे मत सोओ, मधु मत खाओ। इसके बाद आचार्य सावित्री मन्त्र का उच्चारण करते[2]। इस तरह छात्र ब्रह्मचारी अथवा ब्रह्मचर्याश्रम मे प्रतिष्ठित होता।

ब्रह्मचारी गुरुकुल मे वास करता। आचार्य की शुश्रूषा और समिधा-दान आदि सारे कार्य करने के बाद जो समय मिलता उसमे वह वेदाभ्यास करता[3]। उसे भूमि पर शयन करना पड़ता। ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता। ब्रह्मचर्य उसके विद्यार्थी जीवन का सहचर व्रत था।

वेदाध्ययन-काल साधारणत एक परिमित काल था। इसकी आदर्श अवधि १२ वर्ष की कही गयी है पर कोई एक वेद का अध्ययन करने के बाद भी गुरुकुल वास से वापिस घर जा सकता था। वैसे ही कोई चाहता तो १२ वर्ष से अधिक समय तक भी वेदाध्ययन चला सकता था। ये सब विद्यार्थी ब्रह्मचारी कहलाते थे[4]। इनके अतिरिक्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी भी होते। वे जीवन-पर्यन्त वेदाभ्यास का नियम लेते और यावज्जीवन ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते। नैष्ठिक ब्रह्मचारी की परम्परा स्मृतियो से प्राचीन नही कही जा सकती हालाकि इसका बीज उपनिषद् काल मे देखा जाता है[5]।

वेदाध्ययन से मुक्त होने पर विद्यार्थी वापिस अपने घर आता था। वह स्नातक कहलाता। अब वह गार्हस्थ्य के सर्व भोगो को भोगने के लिए स्वतन्त्र था। वेदाध्ययन काल से मुक्त होने पर विवाह कर सन्तानोत्पत्ति करना उसका आवश्यक कर्त्तव्य होता था।

ऊपर के विस्तृत विवेचन का फलितार्थ यह है

(१) वैदिक काल मे वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम नही थे। गार्हस्थ्य प्रधान था। बाल्यावस्था मे छात्र गुरुकुल मे वास कर वेदाभ्यास करते। इसे ब्रह्मचर्य कहा जाता और वेदाभ्यास करने वाले छात्र ब्रह्मचारी कहलाते थे।

(२) ब्रह्मचर्य आश्रम का मुख्य अर्थ है गुरुकुल मे रहते हुए ब्रह्म—वेदो की चर्या—अभ्यास। वेदाभ्यास काल मे अन्य नियमो के साथ विद्यार्थी के लिए ब्रह्मचर्य का पालन भी अनिवार्य था। परन्तु इस कारण से वह ब्रह्मचारी नही कहलाता था, वेदाभ्यास के कारण ब्रह्मचारी कहलाता था। यह इससे भी स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य ग्रहण करते समय भी "सर्व मैथुन विरमण" जैसा कोई व्रत न छात्र लेता था और न आचार्य दिलाते थ।

(३) वैदिक काल मे वानप्रस्थ और सन्यास की कल्पना न रहने से मुख्य आश्रम गार्हस्थ्य ही रहा। उस समय प्रजोत्पत्ति पर विशेष बल दिया जाता रहा। इस परिस्थिति मे जीवन-व्यापी 'सर्व अब्रह्म विरमण' की कल्पना वेदो में नही देखी जाती।

(४) उपनिषद् काल मे क्रमश वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम सामने आये। इस व्यवस्था मे उत्सर्ग मार्ग मे सन्यास का स्थान अन्तिम रहा। अत सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य जीवन के अन्तिम चरण मे साध्य होता और वानप्रस्थ सपत्नीक भी होता था।

(५) उपनिषद् काल मे 'यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्'—इस विकल्प पक्ष ने ब्रह्मचर्य आश्रम से सीधा सन्यास आश्रम में जा सकने का मार्ग खोल कर जीवन-व्यापी पूर्ण ब्रह्मचर्य के पालन की भावना को बल दिया पर धर्मसूत्रो के काल मे इस व्यवस्था पर आक्रमण हुए। वानप्रस्थ और सन्यास को अवेदविहित कह कर उन्हें बहिष्कृत किया जाने लगा। 'गार्हस्थ्य आश्रम ही एक मात्र आश्रम है' कह कर गार्हस्थ्य को पुन प्रतिष्ठित करने से सर्व अब्रह्म विरमण की भावना पनप न पाई।

१—बौधायन धर्मसूत्र २ ६ २६-३१

ऐकाश्रम्य त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् तत्रोदाहरन्ति। प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस स एतान्भेदांश्चकार देवै स्पर्धमानस्तान्मनीषी नाद्रियेत।

२—शतपथ ११ ५ ४ १-१७

३—छान्दोग्य उपनिषद् ८ १५ १

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधान गुरो कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य।

४—History of Dharmasastra Vol II Part I pp 319-352

५—छान्दोग्य उपनिषद् २ २३ १

जैन धर्म मे आश्रम-व्यवस्था को कभी स्थान नही मिला। ऐसी परिस्थिति मे "जब वैराग्य हो तभी प्रव्रजित हो जाओ" यह उत्सर्ग मार्ग रहा। वैराग्य होने पर सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य भी जीवन के प्रथम चरण मे यावज्जीवन के लिए ग्रहण किया जा सकता है। इसी कारण कुमार अवस्था में अन्य महाव्रतो के साथ सर्व मैथुन विरमण व्रत ग्रहण कर प्रव्रज्या लेने के महत्वपूर्ण प्रसगो का उल्लेख आगमो मे मिलता है।

जैन धर्म और वैदिक धर्म मे आश्रम-व्यवस्था को लेकर एक महान अन्तर है। जैन धर्म इस जीवन-क्रम को स्वाभाविक नही मानता क्योकि जीवन, कमल के पत्ते पर पडे हुए ओस-बिन्दु की तरह, अस्थिर है। वैसी हालत मे निर्विकल्प धर्म-पालन का क्रम शेष मे रखना मनुष्य जीवन की वास्तविक स्थिति—'आवीचिमरण' को भूलने जैसा है। जैन धर्म ने इसी दृष्टि से इस आश्रम भेद की जीवन-व्यवस्था को कभी स्वीकार नही किया और धर्म मे शीघ्रता नही होती, इसी बात को अग्रसर रखा है। दोनो सस्कृतियो की भिन्न-भिन्न विचारसरणियो का तुलनात्मक ज्ञान निम्न प्रसग से होगा।

जन्म, जरा और मृत्यु के भय से व्याकुल होकर और मोक्ष-प्राप्ति मे चित्त को स्थिर कर ससार-चक्र से विमुक्त होने की उत्सुकता से भृगु पुरोहित के दो पुत्रो ने प्रव्रज्या लेने का विचार किया। वे अपने पिता से आकर बोले "यह विहार—मनुष्य-शरीर अशाश्वत है। विघ्न बहुत हैं। आयु भी दीर्घ नही। हमे घरमें रति—आनन्द नही मिलता। आप आज्ञा दे। हम मौन (श्रामण्य) धारण करेंगे।" यह सुन कर भृगु पुरोहित बोला "वेदवित् कहते हैं कि पुत्र-रहित को लोक व परलोक की प्राप्ति नही होती। हे पुत्रो ! तुम लोग वेदो को पढकर, ब्राह्मणो को भोजन करा कर, स्त्रियो के साथ भोग भोग कर, पुत्रो को घर सौंप फिर अरण्यवासी प्रशस्त मुनि बनना[१]।"

उपर्युक्त कथन मे वैदिक सस्कृति के चार आश्रमो के जीवन-क्रम का ही वर्णन है। ब्रह्मचर्याश्रम मे वेदाध्ययन के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के मगलाचार के रूप में स्नातको को भोजन कराने की विधि थी। पिता ने पुत्रो से कहा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रम बिताने के बाद सन्यास लो।

इस क्रम को तथ्यहीन बतलाते हुए बालको ने कहा—"हे पिताजी ! वेदाध्ययन रक्षा नहीं करता। भोजन कराये हुए द्विज तमतमा ले जाते हैं और उत्पन्न हुए पुत्र रक्षक नही होते। ऐसी परिस्थिति मे हम लोग आप की बात को कैसे मानें ?"

भृगु पुत्रो ने ब्राह्मणो को भोजन कराने मे पाप बतलाते हुए गृहस्थाश्रम का खण्डन किया और मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रथम गृहस्थाश्रमी होने की बात को मानने से इन्कार कर दिया। इस आश्रम-व्यवस्था को ब्राह्मणो ने क्यो नही स्वीकार किया इसका कारण यह है "अमोघ शस्त्र-धारा के पडने से सर्व दिशाओ मे पीडित हुए इस लोक मे अब हम घर मे रह कर आनन्द को प्राप्त नही कर सकते। यह लोक मृत्यु से पीडित हो रहा है। जरा से घिरा हुआ है। रात-दिन अमोघ शस्त्र-धार की तरह बह रहे हैं। जो रात्रि जाती है, वह वापिस नही आती। अधर्म करनेवालो की रात्रियाँ निष्फल जाती हैं। जो धर्म का आचरण करते हैं उनकी रात्रियाँ सफल होती हैं। जिसकी मृत्यु के साथ मित्रता है, जो उससे भागकर बच सकता है, जो यह जनता है कि मैं नही मरूँगा, वही कल की आशा कर सकता है। हम आज ही धर्मग्रहण करेंगे। श्रद्धा-पूर्वक विषय—राग को दूर करना ही योग्य है[२]।"

ब्राह्मण कुमारो ने जो उत्तर दिया वह जैन-धर्म की विचार-पद्धति है। जहाँ पल का भी भरोसा नही वहाँ वर्षों का भरोसा करना निरी मूर्खता है। 'यह करूँगा' 'वह करूँगा' ऐसा करते-करते ही काल मनुष्य-जीवन को हर लेता है। वैसी हालत मे एक समय का भी प्रमाद करना भयङ्कर भूल है। जैन धर्म की यह विचार धारा, स्पष्टत उस वैदिक धारा से भिन्न है जो आश्रम रूप मे जीवन के चार भाग करती है।

इसके बाद कुमारो ने मौन ग्रहण किया। यह मौन और कुछ नही था। सर्व सयम रूप ब्रह्मचर्य और उसको ग्रहण करते समय जो पाँच महाव्रत अङ्गीकार किये जाते हैं और जिनमें सर्व मैथुन विरमण भी होता है, वही था।

आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध मे डॉ० ए एल बासम के निम्न विचार मननीय हैं "आश्रम-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था के बाद का विचार है। आश्रम-व्यवस्था, वास्तव मे एक आदर्श को उपस्थित करती है न कि यथार्थ को। अनेक युवक जीवन के प्रथम क्रम ब्रह्मचर्य आश्रम का

१—उत्त० १४ ९

अहिज्ज वेए परिविस्स विप्पे पुत्त परिट्ठप्प गिहसि जाया।
भोच्चाण भोए सह इत्थियाहिं आरण्णगा होह मुणी पसत्था॥

२—उत्तराध्ययन अ० १४ गा० ६-२८

उनके बताये हुए रूप मे कभी पालन नही करते थे। और बहुत थोडे ही दूसरे क्रम गार्हस्थ्य आश्रम के उस पार पहुँचते। प्राचीन भारत के बहुत से आरण्यक और मुनि आयु मे वृद्ध नही थे और उन्होने गार्हस्थ्य आश्रम को या तो सक्षिप्त किया था अथवा उसे बाद ही दे दिया। चार आश्रमो की पुरातना तथ्यो का आदर्शीकरण है और अध्ययन, गार्हस्थ्य और श्रामण्य की विरोधी मागो को एक जीवन-काल मे स्थान देने का कृत्रिम प्रयत्न है। यह सभव है कि आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति का आशिक कारण उन पर्वैदिक बौद्ध और जैन सम्प्रदायो का प्रतिवाद करना रहा हो जो कि युवको को भी मुनित्व ग्रहण करने की प्रेरणा देते रहे और गार्हस्थ्य-जीवन को सम्पूर्णत बाद देते रहे। आरभ मे बौद्ध धर्म और जैन धर्म की यह प्रणाली ब्राह्मणो की स्वीकृति प्राप्त नही कर सकी, हालाकि बाद मे उनके लिए स्थान बनाना पडा[१]।"

५-ब्रह्मचर्य और अन्य महाव्रत

एक बार गणधर गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से पूछा "भते। मैथुन सेवन करनेवाले पुरुष के किस प्रकार का असयम होता है?" महावीर ने उत्तर दिया "हे गौतम। जैसे एक पुरुष रूई की नली या बूर की नली मे तप्त शलाका डाल उसे विध्वस कर दे। मैथुन-सेवन करनेवाले का असयम ऐसा होता है[२]।"

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त बात को इस प्रकार रखा है "सहवास मे प्राणीवध का सर्वत्र सद्भाव रहता है अत हिंसा भी अवश्य होती है। जिस प्रकार तिलो की नली मे तप्त लोह के डालने से तिल भुन जाते हैं, उसी प्रकार मैथुन-क्रिया से योनि मे बहुत जीवो का सहार होता है। कामोद्रेक से किञ्चित् भी अनङ्गरमणादि क्रिया की जाती है उसमे भी रागादि की उत्पत्ति के निमित्त से हिंसा होती है[३]।"

अब्रह्म मे हिंसा ही नही अन्य पाप भी हैं। आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं "अहिंसादि गुण जिसके पालन से सुरक्षित रहते या बढते हैं, वह ब्रह्म है। जिसके होने से अहिंसादि गुण सुरक्षित नही रहते, वह अब्रह्म है। अब्रह्म क्या है? मैथुन। मैथुन से हिंसादि दोषो का पोषण होता है। जो मैथुन-सेवन मे दक्ष है, वह चर-अचर सब प्रकार के प्राणियो की हिंसा करता है, झूठ बोलता है, बिना दी हुई वस्तु लेता है तथा चेतन और अचेतन दोनो प्रकार के परिग्रह को स्वीकार करता है[४]।"

१—The Wonder that was India pp 158-159

२—भगवती २ ५

मेहुणेण भते! सेवमाणस्स केरिसिए असजमे कज्जइ? गोयमा! से जहा नामए केई पुरिसे रूयनालियं वा, बूरनालियं वा तत्तेण कणएणं समविद्धसेज्जा, एरिसएण गोयमा! मेहुण सेवमाणस्स असजमे कज्जइ।

३—(क) पुरुषार्थसिद्ध युपाय १०७, १०८, १०९

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात्॥
हिस्यन्ते तिलनाल्या तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा यौनौ हिस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥
यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात॥

(ख) ज्ञानार्णव १३.२

मैथुनाचरणे मूढ म्रियन्ते जन्तुकोटय।
योनिरन्ध्रसमुत्पन्ना लिङ्गसघट्टपीडिताः॥

४—तत्त्वार्थसूत्र ७ १६ सर्वार्थसिद्धि

अहिसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृहन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। न ब्रह्म अब्रह्म इति। किं तत्? मैथुनम्। तत्र हिसादयो दोषाः पुष्यन्ति। यस्मान्मैथुनसेवनप्रवण स्थास्नूंश्चरिष्णून् प्राणिनो हिनस्ति मृषावादमाचष्ट अदत्तमादत्त अचेतनमितर च परिग्रह गृह्णाति।

जैन धर्म मे सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण—इन पाँच को महाव्रत कहते हैं, यह पहले बताया जा चुका है। जो श्रामण्य (ब्रह्मचर्य) को ग्रहण करता है उसे इन पाँचो महाव्रतो को एक साथ ग्रहण करना होता है। जो इन्हे युगपत् रूप से सम्पूर्ण रूप से ग्रहण नही करता, वह किसी का पालन नही कर सकता। स्वामीजी ने इस बात को अपनी एक अन्य कृति गुरु-शिष्य के सवाद रूप में बडे ही सुन्दर और मौलिक ढग से समझाया है। उसका सार इस प्रकार है :

गुरु : हिंसा, चोरी, झूठ, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इन दुष्कर्मो के आचरण से जीव कर्मो को उपार्जन कर चार गति रूप ससार में भ्रमण करता है। अहिंसा, अमिथ्या, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँचो महाव्रतो का निरतिचार पालन करनेवाला पुरुष नये कर्मो का उपार्जन न करता हुआ पुराने कर्मो का क्षय करता है और इस प्रकार अपनी आत्मा को निर्मल कर मोक्ष प्राप्त करता है।

शिष्य : मैं पहला महाव्रत ग्रहण करता हूँ—मै छ प्रकार के जीवो की हिंसा नही करूँगा परन्तु मेरी जबान इतनी वश मे नही कि मैं झूठ छोड सकू। अत मुझे झूठ बोलने की छूट है।

गुरु : भगवान के बताये हुए पांच महाव्रत इस तरह ग्रहण नही किये जाते। जब तुम झूठ बोलने का त्याग नही करते तब यह विश्वास कैसे हो कि तुम हिंसा मे धर्म नही ठहराओगे। झूठ बोलनेवाला यह कहते सकोच कैसे करेगा कि देव, गुरु और धर्म के लिए प्राणियो की हिंसा करने मे बुराई नही और आरभादि मे जीव भली गति को प्राप्त करता है। मिथ्या भाषण द्वारा कोई इस सिद्धान्त का प्रचार करने लग जाय कि हिंसा में भी धर्म है तो महाव्रत की तो बात दूर रही सम्यक्त्व—सत्य दृष्टि का भी लोप हो जाय।

शिष्य : स्वामिन्! मैं हिंसा और झूठ दोनो का त्याग करूँगा परन्तु चोरी नही छोड सकता। धन मे मुझे अत्यन्त मोह है।

गुरु : यदि तू जीव-हिंसा और झूठ को छोडता है तो तेरी चोरी कैसी निभेगी? यदि तू चोरी कर सत्य बोलेगा तो लोग तुझे चोरी कब करने देंगे। परधन की चोरी करने से मालिक दु ख पाता है। किसी को दु ख देना हिंसा है। यदि तू कहेगा कि इसमें हिंसा नही तो पहले दोनो ही महाव्रत चकनाचूर हो जायेंगे। क्योंकि हिंसा को अस्वीकार करने से झूठ का दोष भी लगेगा।

शिष्य : मै तीनो महाव्रतो को अच्छी तरह ग्रहण करता हूँ। परन्तु चौथा महाव्रत स्वीकार करना मुझ से नही बनता। मोहोदय से आत्मा स्ववश नही। मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक नही रह सकता।

गुरु : अब्रह्मचर्य के सेवन से पहले तीनो महाव्रत भग होते हैं। अब्रह्मचर्य सब गुणो को एक पलक मात्र मे उसी तरह छार कर देता है जिस तरह धुनी हुई रूई को आग। मैथुन से पचेन्द्रिय जीवो की हिंसा होती है। हिंसा नही होती, ऐसा कहने से झूठ का दोष लगता है। परप्राण का हरण चोरी है। अब्रह्मचर्य सेवन से प्रभु की आज्ञा का भङ्ग होता है—चोरी लगती है। इस तरह तीनो ही महाव्रत खण्डित हो जाते हैं।

शिष्य : मैं चारो ही महाव्रतो को ग्रहण करता हूँ, परन्तु पाँचवां महाव्रत कैसे ग्रहण करूँ? ममता छोडना मेरे लिए कठिन है। मैं नव ही प्रकार का परिग्रह रखूँगा।

गुरु : क्षेत्र-वस्तु, धन-धान्य, द्विपद-चौपद, हिरण्य-सुवर्ण और कुम्भी धातु—ये परिग्रह, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य—इन चारो आस्रवो के मूलाधार हैं। तू परिग्रह की छूट रख कर अन्य व्रतो का किस तरह पालन कर सकेगा? ऐसा कहना तो तुम्हारी निरी भूल है।

शिष्य : खैर, मैं पाँचो ही आस्रवो का त्याग करता हूँ पर एक करण तीन योग से। मेरे स्नेही—सगी बहुत हैं अत मैं कराने और अनुमोदन करने की छूट रखता हूँ।

गुरु : घर मे तो तुम्हे कोई पूछता ही नही था और खाने के लिए तुम्हे अन्न भी नही मिलता था और अब भगवान के साधुओ का वेष ग्रहण करने की इच्छा कर राज्य करने चले हो! तुमने त्याग कर कितना त्यागा है? अब तो तुम लोक मे हुक्म चलाने की कामना रखते हो। इस हिसाब से तुम एक महाराजा से कम कहाँ हो?

शिष्य : मैं पाँचो ही आस्रवो का दो करण तीन योग से त्याग करता हूँ। अब केवल अनुमोदन की छूट रहती है।

गुरु : अनुमोदन की छूट रखने से तू अपने लिए किया हुआ आहार आदि स्वीकार करेगा। सयोग बना रहेगा। इससे पाँचो ही महाव्रतो मे विकार उत्पन्न होगा। हिंसा आदि पाँचो पापो मे अनुमोदन की भावना—हर्ष भावना रहने से उनके प्रति तुम्हारा आदर भाव नही छूटेगा। इस तरह मन, वचन और काय—इन तीनो ही योगो के विषयो में तुम्हारा आर्त—रौद्र ध्यान रहेगा। पांच आस्रवो का तीन करण तीन योग से

परिग्रह किये बिना कोई अनगार नहीं हो सकता। गृह और कुल त्याग से ही अनगार होता है।

फिर बोला आत्म-कल्याण के लिए सब पाँचो महाव्रत तीन करण तीन योगपूर्वक यावज्जीवन के लिए ग्रहण करावे[१]।

जैन धर्म मे कार्य करने के तीन साधन बताये गये हैं—मन, वचन और काय। इन्हे करण कहा जाता है। कार्य तीन तरह से होता है- करना, कराना और अनुमोदन करना। इन्हे योग कहा जाता है।

हिंसा, झूठ, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह, इन सब के त्याग एक साथ तीन करण और तीन योग से किये जाते हैं तब ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के महाव्रत सिद्ध होते हैं अन्यथा नहीं। किसी भी एक महाव्रत की रक्षा का उपाय दूसरे महाव्रत हैं।

जैसे पाँचो महाव्रतो को एक साथ ग्रहण करना पड़ता है, वैसे ही उनका पालन भी युगपत् रूप से करना पड़ता है। जो एक महाव्रत को भङ्ग करता है वह सब को भङ्ग करता है। स्वामीजी ने इस तत्त्व को निम्न प्रकार से समझाया है

"एक भिखारी को पाँच रोटी जितना आटा मिला। वह रोटी बनाने बैठा। उसने एक रोटी पका कर चूल्हे के पीछे रख दी। दूसरी रोटी तवे पर सिक रही थी। तीसरी अंगारो पर थी। चौथी रोटी का आटा उसके हाथ मे था और पाँचवी रोटी का कठौती मे। एक कुत्ता आया और कठौती से आटा का उठा ले गया। भिखारी उसके पीछे दौड़ा। वह ठोकर खाकर गिर पड़ा। उसके हाथ मे जो एक रोटी का आटा था वह धूल मे गिर पड़ा। वापस आया इतने मे चूल्हे के पीछे रखी हुई रोटी बिल्ली ले गयी। तवे की रोटी तवे पर ही जल गयी। अंगारो पर रखी हुई वहीं छार हो गई। एक रोटी का आटा जाने से बाकी चार रोटियाँ भी चली गयी। कदाश एक रोटी के नष्ट होने पर सारी रोटियाँ नष्ट न भी हों, पर यह सुनिश्चित है कि एक महाव्रत के भङ्ग होने पर सभी महाव्रत भङ्ग हो जाते हैं[२]।"

इसी तथ्य के कारण आगम मे कहा गया है—"एक ब्रह्मचर्य व्रत के भङ्ग होने से सहसा सब गुण भङ्ग हो जाते हैं, मर्दित हो जाते हैं, मथित हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं, पर्वत से गिरी हुई वस्तु की तरह टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं[३]।"

महात्मा गाधी लिखते हैं "पतञ्जलि ने पाँच यामो का वर्णन किया है। यह सम्भव नहीं कि इनमें से किसी एक को लेकर उसकी साधना की जा सके। ऐसा शायद हो सकता है तो सिर्फ सत्य के सम्बन्ध मे ही, क्योकि दूसरे चार याम इसमे गर्भित हैं और उससे निकाले जा सकते हैं। पर जीवन इतना सरल नहीं। एक सिद्धान्त मे से अनेक निकाले जा सकते हैं तो भी एक सर्वोपरि सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उपसिद्धान्तो को जानना पड़ता है।

"यह भी समझना चाहिए कि सब व्रत समान हैं। एक टूटा कि सब टूटे। हम मे यह विश्वास साधारणत घर कर गया है कि सत्य और अहिंसा का भङ्ग क्षम्य है। अचौर्य और परिग्रह की तो हम बात ही नहीं करते, उनके पालन की आवश्यकता को हम कम ही महसूस करते हैं। उधर कल्पनाप्रसूत ब्रह्मचर्य का भङ्ग भी क्रोध उत्पन्न करता है। जिस समाज मे मूल्यो का ऐसा बड़ा-घटा आंकन होता है उसमे कोई बड़ा दोष होना चाहिए। जब ब्रह्मचर्य को हम अलग कर देते हैं तो उसका स्थूल पालन भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। अत यह आवश्यक है कि सब यामो को एक समझ कर अपनाया जाय। इससे ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण अर्थ और मर्म को हृदयगम करने मे सफलता मिलेगी[४]।"

इसी तरह उन्होंने एक बार कहा "पाँच मुख्य व्रत मेरे आध्यात्मिक साधना के पाँच स्तम्भ हैं। ब्रह्मचर्य उनमे से एक है। परन्तु पाँचो अविभक्त और सम्बद्ध हैं। वे एक दूसरे से सम्बन्धित और एक दूसरे पर आधारित हैं। यदि उनमे से एक का भङ्ग होता है तो सबका भङ्ग होता है[५]।"

१—मूल ढाल के लिए देखिए भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (ख १) आचार की चोपई ढा० २४ पृ० ८९८ ९। इस ढाल का अनुवाद "आचार्य सत भीखणजी" नामक पुस्तक में प्रकाशित किया जा चुका है। देखिए पृ० १८७

२—भिक्खु दृष्टान्त पृ० ४१

३—प्रश्नव्याकरण २ ४

जमि य भग्गमि होइ सहसा सव्व सभग्गम (हि) थियचुन्नियकुसल्लियपव्वडियखडियपरिसडियविणासिय।

४—Harijan जून ८, १९४७ पृ० १८० के लेख के अंश का अनुवाद

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol 1 P 585

महात्मा गांधी और स्वामीजी के विचारो मे जो साम्य है, वह स्वय प्रकट है।

स्वामीजी ने किसी भी एक महाव्रत को दूसरे महाव्रतो के लिए कवच स्वरूप बताया है। यह भाव महात्मा गान्धी के निम्न विचारो मे समर्थित है

"ब्रह्मचर्य एकादश व्रतो मे से एक व्रत है। इस पर से कहा जा सकता है कि ब्रह्मचर्य की मर्यादा या वाड एकादश व्रतो का पालन है। मगर एकादश व्रतो को कोई वाड न माने। वाड तो किसी खास हालत के लिए होती है। हालत वदली और वाड भी गई। मगर एकादश व्रत का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। उसके विना ब्रह्मचर्य पालन नही हो सकता[1]।"

६-ब्रह्मचर्य और स्त्री-पुरुष का अभेद

तथागत बुद्ध के जीवन की एक घटना इस प्रकार मिलती है। एक वार वे शाक्यो के कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में विहार कर रहे थे। तब महाप्रजापति गौतमी वहाँ आई और वन्दना कर एक ओर खडी हो बोली "भन्ते! अच्छा हो स्त्रियाँ भी तथागत के धर्म-विनय मे प्रव्रज्या पावे।" बुद्ध बोले "गौतमी! तुम्हे ऐसा न रुचे।" गौतमी ने दूसरी-तीसरी बार भी निवेदन किया पर तथागत ने वही उत्तर दिया। गौतमी दु खी, अश्रुमुखी हो भगवान को अभिवादन कर चली गई। इसके वाद तथागत वैशाली को चल दिये। वहाँ महावन की कूटागारशाला मे ठहरे। महाप्रजापति गौतमी केशो को कटा, कपायवस्त्र पहिन वहुत-सी शाक्य-स्त्रियो के साथ कूटागारशाला मे पहुँची। वहाँ द्वारकोष्ठक के वाहर खडी हुई। उसके पैर फुले हुए थे। शरीर धूल से भरा था। वह दु खी, अश्रुमुखी, रोती हुई खडी थी। उसे देख आयुष्मान् आनन्द ने पूछा—"गौतमी! तू ऐसे क्यो खडी है?" वह बोली "भन्ते आनन्द! तथागत धर्म-विनय मे स्त्रियो की प्रव्रज्या की अनुज्ञा नही देते।" "गौतमी! तू यही रह। मैं भगवान से प्रार्थना करता हूँ।" आनन्द तथागत को अभिवादन कर एक ओर बैठ बोले "भन्ते! अच्छा हो स्त्रियो को प्रव्रज्या मिले।" "नही आनन्द! ऐसा न रुचे।" आनन्द बोले "भन्ते! क्या स्त्रियाँ प्रव्रजित हो स्रोत-आपत्तिफल, सकृदागामिफल, अनागामिफल, अर्हत्त्वफल को साक्षात् कर सकती हैं?" "साक्षात् कर सकती हैं आनन्द!" "भन्ते! यदि स्त्रियाँ इस योग्य हैं तो अभिभाविका, पोपिका, क्षीरदायिका, भगवान की मौसी महाप्रजापति गौतमी वहुत उपकार करनेवाली है। उसने जननी के मरने पर भगवान को दूध पिलाया। भन्ते! अच्छा हो स्त्रियो को प्रव्रज्या मिले।" गौतमी ने तथागत के उसी समय स्थापित आठ गुरु-धर्मो को स्वीकार किया। वाद मे उसकी उपसम्पदा—प्रव्रज्या हुई।

प्रव्रज्याके वाद बुद्ध आनन्द से बोले "आनन्द! यदि तथागत-प्रवेदित धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या न पाती तो यह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी होता, सद्धर्म सहस्र वर्ष तक ठहरता। अव ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी न होगा, सद्धर्म पाँच ही सौ वर्ष ठहरेगा। आनन्द! जैसे वहुत स्त्रीवाले और थोडे पुरुषोवाले कुल, चोरो द्वारा, भँडियाहो द्वारा आसानी से ध्वसनीय होते हैं, उसी प्रकार जिस धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर-स्थायी नही होता। जैसे आनन्द! सम्पन्न लहलहाते धान के खेत में सेतट्ठिका नामक रोग की जाति पलती है, जिससे वह शालि-क्षेत्र चिरस्थायी नही होता, जैसे सम्पन्न ऊख के खेत मे मांजेष्ठिका नामक रोग-जाति पलती है, जिससे वह ऊख का खेत चिरस्थायी नही होता, ऐसे ही आनन्द! जिस धर्म-विनय मे स्त्रियाँ प्रव्रज्या पाती हैं, वह ब्रह्मचर्य चिर स्थायी नही होता[2]।"

इस घटना से प्रकट है कि वौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध स्वय ही नारी के कर्तृत्व के प्रति शकाशील थे। इसी कारण नारी की प्रव्रज्या का प्रश्न सामने आने पर वे पेशोपेश में पड गये। यह शका नारी के ब्रह्मचर्य पालन की क्षमता के विषय में थी। वे नारी की आजीवन ब्रह्मचर्य की पात्रता को अन्त तक गले नही उतार सके। जैन धर्म के साहित्य मे ऐसी शका या भ्रान्ति कही भी परिलक्षित नही होती। जैन धर्म में नारी के प्रति ब्रह्मचर्य पालन के विषय में वैसी ही अशकाशील भावना देखी जाती है जैसी कि पुरुष के प्रति। स्त्री मे भी आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की आत्मिक शक्ति और सामर्थ्य होने मे उतना ही विश्वास देखा जाता है जितना कि पुरुष मे इनके होने के प्रति।

वैदिक परम्परा में नारी को सहधर्मिणी कहा गया है। पुरुष नारी को अपने साथ बैठाये विना धार्मिक अनुष्ठान अथवा क्रिया-कलापो को पूरा नही कर सकता—ऐसी भावना है। इस तरह वैदिक परम्परा नारी को अपूर्व सम्मान प्रदान करती है परन्तु वहाँ नारी पुरुष की पर-

१—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ५४

२—विनय पिटक चुल्लवग्ग भिक्षुणी-स्कधक ऽऽ १।२ पृ० ५०९-२१ का सार

नारी की तरह नसती है। यदि वहाँ पुरुष नारी को छोड कर धर्म अनुष्ठान नही कर सकता तो नारी भी पुरुष से दूर रह कर आध्यात्मिक कल्याण को व्यापक रूप मे सम्पादित नही कर सकती—ऐसी विचार-धारा है। वैदिक परम्परा ने नारी-सन्यास को स्थान नही, इसलिए पुरुष से दूर रह कर स्वतन्त्र रूप से चरम कोटि की आध्यात्मिक भावना के उदाहरण प्रचुर मात्रा मे नही मिलते। जैन परम्परा मे नारी के लिए सन्यास भी हर समय खुला रहा है अत उच्चतम कोटि की आध्यात्मिक भावना मे स्त्रियाँ पुरुषो के समान ही दीप्त रही।

वैदिक परम्परा मे नारी जाति को गौरवपूर्ण उत्थापन दिया गया है और नारी को पुरुष-मित्र और समकक्ष के रूप मे अकित करने के दृष्टान्त सामने आते है, परन्तु उनमे अकित वर्णन अधिकाश मे नारी को अर्धाङ्गिनी के रूप मे ही उपस्थित करते हैं। नारी का स्वतत्र व्यक्तित्व वहा प्रस्फुटित दिखाई नही देता और उसकी बहुत ही थोडी-सी अभिव्यक्ति वहा मिलती है। परन्तु जैन धर्म मे नारी का स्वतत्र व्यक्तित्व शुरू से ही स्वीकृत है और उसके समान ही उसके व्यक्तित्व के विकास के लिए सम्पूर्ण आध्यात्मिक साधना का मार्ग खुला है।

जैन धर्म मे नारी की धर्म-भावना को वही आदर दिया जाता है जो पुरुष की धर्म-भावना को। वैवाहिक-जीवन में नारी पुरुष की सहचारिणी रहती है, उसकी सेवा-शुश्रूषा करती है और गृहस्थी का भार योग्यतापूर्वक वहन करती है। परन्तु साथ ही साथ आत्मा के उत्कर्ष के लिए आत्मा की खोज-खोज एव आध्यात्मिक चिन्तन और साधना मे भी अपना यथेष्ट समय लगाती है। वैदिक परम्परा में नारी के स्वावलम्बी जीवन की कल्पना नहीं है और यदि है तो अपवाद रूप मे ही। परन्तु जैन धर्म मे स्वावलम्बी नारी-जीवन की कल्पना प्रचुर-प्रमाण में मिलती है। पुरुष के साथ सहधर्मिणी होकर रहना उसके जीवन का कोई चूडान्त नही, यदि वह चाहे तो आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर भी आदर्श-जीवन व्यतिवाहित करने के लिए स्वतत्र है।

वैदिक परम्परा मे नारी का धार्मिक सघ नही। बौद्ध परम्परा मे भिक्षुणी सघ विच्छिन्न प्राय है। जैन परम्परा मे साध्वियो का भिक्षुणी सघ आज भी भारत-भूमि को पवित्र करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में जैन धर्म मे नारी को उतनी ही स्वतत्रता है जितनी पुरुष को। जैसे पुरुष सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण और सर्व परिग्रह विरमण रूपी महाव्रतो को ग्रहण करने मे स्वतत्र है, वैसे ही नारी भी।

इस विषय मे सब धर्मो की स्थिति को उपस्थित करते हुए सत विनोबा लिखते हैं

"इस्लाम ने यह विचार रखा है कि गृहस्थ धर्म ही पूर्ण आदर्श है। बाकी के आदर्श, जैसे ब्रह्मचारी का, गौण आदर्श है। वैसे भगवान ईसा तो आदरणीय थे, वे ब्रह्मचारी थे, परन्तु उनका जीवन पूर्ण जीवन नही माना जायगा। मुहम्मद का आदर्श पूर्ण है। वे गृहस्थ थे। वैसे ब्रह्मचारी को एक्सपर्ट (विशेषज्ञ) जैसा माना जायगा। विशेषज्ञ एकांकी होते हैं, परन्तु समाज को उनकी भी जरूरत होती है। इसी तरह, जिन्होने शुरू से आखिर तक ब्रह्मचारी का जीवन बिताया, उनका आदर्श पूर्ण नही। पुरुषोत्तम, पूर्ण आदर्श तो गृहस्थ ही है। स्त्रियो के लिए और पुरुषो के लिए, दोनो के लिए, गृहस्थ का ही आदर्श है। इस दृष्टि से मुसलमानो का चिन्तन चलता है।

"वैदिक धर्म मे ब्रह्मचारी को ही आदर्श माना गया है। बीच के जमाने में स्त्री-पुरुषो मे भेद माना गया। जिससे हिन्दूधर्म की दुर्दशा हो गयी। पुरुष को तो ब्रह्मचर्य का अधिकार रहा, लेकिन स्त्री को इसका अधिकार नही रहा। इसलिए स्त्री को गृहस्थाश्रमी बनना ही चाहिए। ऐसा माना गया। अगर वह गृहस्थाश्रमी नही बनती है, तो अधर्म होता है। इस तरह बीच के जमाने में यह एक बहुत बडा दोष पैदा हुआ। इसलिए अब इस जमाने में सशोधन करना जरूरी है। हक देने पर भी उसका पालन करनेवाले कम ही होंगे। परन्तु कम हो या ज्यादा, स्त्री के लिए ब्रह्मचर्य का अधिकार नही है, यह बात ही गलत है। उससे आध्यात्मिक डिसएबिलिटी (अपात्रता) पैदा होती है। अगर कोई व्यावहारिक अपात्रता होती, तो उसमें सुधार करना सम्भव है। लेकिन आध्यात्मिक ही अपात्रता हो, तो वह बडे दुख की बात है। हिन्दुस्तान में बीच के जमाने मे जो तेजोहानि हुई, उसका यह भी कारण है कि स्त्रियो को ब्रह्मचर्य का अधिकार नही रहा। लेकिन उपनिषदो में उल्टी बात है। वहाँ स्त्री-पुरुषो में कोई भेद नही किया गया है। हिन्दुओ मे स्त्री की अपात्रता मानी गयी है। यह सब गलत है।

"लेकिन, जैनो मे स्त्री और पुरुष, दोनो को समान माना है। ईसाइयो मे जो कैथोलिक हैं, वे स्त्री-पुरुषो को समान मानते हैं। लेकिन जो प्रोटेस्टेन्ट होते हैं, उनका खयाल करीब-करीब मुसलमानो के जैसा ही है। वे मानते हैं कि ब्रह्मचर्य अशक्य वस्तु है और गृहस्थाश्रम ही आदर्श है। लेकिन कैथोलिको मे भाई और बहनें दोनो ब्रह्मचारी होते हैं[१]।"

१—कार्यकर्ता-वर्ग · ब्रह्मचर्य पृ० ३५-४० का सार

स्त्रियो को पुरुषो के समान आध्यात्मिक अधिकार देकर महावीर ने कितना बडा काम किया—इस सम्बन्ध मे सत विनोबा लिखते हैं

"महावीर के सम्प्रदाय मे स्त्री-पुरुषो का किसी प्रकार कोई भेद नही किया गया है। पुरुषो को जितने आध्यात्मिक अधिकार मिलते हैं, उतने ही स्त्रियो को भी हो सकते हैं। इन आध्यात्मिक अधिकारो मे महावीर ने कोई भेद-बुद्धि नही रखी, जिसके परिणामस्वरूप उनके शिष्यो में जितने श्रमण थे, उनसे ज्यादा श्रमणियाँ थी। वह प्रथा आजतक जैन धर्म मे चली आ रही है। आज भी जैन सन्यासिनी होती हैं। यह एक बहुत बडी विशेषता माननी चाहिए। जो डर बुद्ध को था, वह महावीर को नही था, यह देखकर आश्चर्य होता है। महावीर निडर दीख पडते हैं। इसका मेरे मन पर बहुत असर है। इसीलिए मुझे महावीर की तरफ विशेष आकर्षण है। महापुरुषो की भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं, लेकिन कहना पडेगा कि गौतम बुद्ध को व्यावहारिक भूमिका छू सकी और महावीर को वह छू नही सकी। उन्होने स्त्री-पुरुषो मे तत्त्वत भेद नही रखा। वे इतने दृढ प्रतिज्ञ रहे कि मेरे मन मे उनके लिए एक विशेष ही आदर है। इसी मे उनकी महावीरता है।

"महावीर स्वामी के बाद २५०० साल हुए, लेकिन हिम्मत नही हो सकती कि बहिनो को दीक्षा दे। मैंने सुना कि चार साल पहले रामकृष्ण परमहस मठ मे स्त्रियो को दीक्षा दी जाय—ऐसा तय किया गया। स्त्री और पुरुषो का आश्रम अलग रखा जाय, यह अलग बात है। लेकिन अबतक स्त्रियो को दीक्षा ही नही मिलती थी, वह अब मिल रही है। इस पर से अदाज लगता है कि महावीर ने २५०० साल पहले उसे करने मे कितना बडा पराक्रम किया[1]"

दादा धर्माधिकारी लिखते हैं "हम लोगो की अक्सर यह धारणा रही है कि स्त्रियो के विषय मे प्राचीन आदर्श ऊँचे थे। और बातो मे वे रहे होगे, लेकिन इतना मुझे नम्रतापूर्वक कह देना चाहिए कि स्त्रियो सम्बन्धी सारे प्राचीन आदर्श, स्त्रियो की मनुष्यता की हानि और अपमान करनेवाले थे। किसी धर्म मे स्त्री का स्वतत्र व्यक्तित्व कभी नही रहा। मेरी माँ कोई धार्मिक विधि अकेले नही कर सकती। मेरे पिताजी की वह सहधर्मिणी है, मुख्य धर्मिणी नही। पिताजी न हो, तो उसका अपना कोई धर्म नही है। पिताजी जो पुण्य करते हैं, उसका आधा पुण्य अपने-आप उसे मिल जाता है और वह जो पाप करती है, उसका आधा पाप पिताजी को अपने-आप लग जाता है। वह जो पुण्य करती है, उसका आधा पिताजी को नही मिलता और पिताजी जो पाप करते हैं, उसका आधा उसे नहीं लगता। यह मर्यादा है। इसलिए मुख्य धर्म और मुख्य कर्त्तव्य पुरुष का है, स्त्री की केवल सहधर्मिणी की भूमिका है, वह सह-जीवनी है, उसका अपना स्वतन्त्र जीवन नही है। जैनो और बौद्धो के कुछ प्रयासो को हम छोड दे, तो आज तक की जो परम्परा और समाज-स्थिति है, वह यह है कि स्त्री की भूमिका गौण और दोयम रही है। उसका अस्तित्व स्वतत्र नहीं रहा। इसलिए ब्रह्मचर्य उसका मुख्य धर्म कभी नही माना गया। पुरुष का मुख्य धर्म ब्रह्मचर्य माना गया।

"स्त्री मुझसे कहती है कि पुरुष की अपेक्षा स्त्रियाँ अधिक नैतिक हैं। अधिक नैतिकता का मतलब यह तो नही कि अधिक सयमी हैं, अधिक ब्रह्मचर्यनिष्ठ हैं। ब्रह्मचर्य का तो उनके लिए निषेध है। मेरा नम्र सुझाव यह है कि स्त्री के जीवन मे ब्रह्मचर्य का स्थान वही होना चाहिए, जो पुरुष के जीवन मे है। इसे मैं ब्रह्मचर्य जीवन का सामाजिक मूल्य कहता हूँ[2]।"

७-ब्रह्मचर्य और संयम का हेतु क्या हो ?

आचार्य विनोबा भावे से किसी ने यह प्रश्न किया था कि भूदान यज्ञ के लिए कोई ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहता हो तो आप उसके बारे मे क्या कहेंगे ? इसका जो उत्तर उन्होने दिया वह सच्चे उद्देश्य को बताने की दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण और मननीय है। ब्रह्मचर्य व सयम का पालन किस हेतु से होना चाहिए—इस पर उन्होने पहले भी एक बार प्रकाश डाला था। दोनो विचार नीचे दिये जाते हैं

१—ब्रह्मचर्य का ठीक मतलब भी हमे समझ लेना चाहिए। भीष्म को हम आदर्श ब्रह्मचारी मानते हैं, परन्तु भीष्म ने अपने पिता के लिये ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया। उनको ब्रह्म की उपासना की प्रेरणा उसमे पहले नही हुई थी। वे तो शादी करनेवाले थे। फिर भी उन्होने ब्रह्मचर्य-व्रत बहुत अच्छी तरह से निभा लिया। परन्तु उनको हम आदर्श ब्रह्मचारी नही कह सकते। साक्षात् ब्रह्म के लिए जो ब्रह्मचारी रहेगा, वही आदर्श होगा। उसी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है, जो लोग देश के लिए ब्रह्मचारी रहते हैं, उनके व्रत को ब्रह्मचर्य नही तद्देशचर्य

१—श्रमण वर्ष ६ अक ६ पृ० ३७-३६ का सार

२—सर्वोदय-दर्शन पृ० २३५-६, २३८-६

कहना चाहिये। साक्षात् ब्रह्म की प्राप्ति के लिए देह से मुक्त होने के साधन के माने ही ब्रह्मचर्य है। भीष्म आखिर मे ऐसे ब्रह्मचारी वने थे और महान् ज्ञानी हुए, फिर भी वे पहले वैसे नही थे। शुक के समान वे आरम्भ मे आदर्श ब्रह्मचारी नही थे। आजकल कुछ लोगो का देशचर्य या स्वराज-चर्य चलता है और वे उसे वहुत अच्छी तरह से निभाते भी हैं। परन्तु फिर भी उसको ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता। उनमे से कई ऐसे होते हैं जो देशचर्य को बाद मे ब्रह्मचर्य मे परिवर्तित कर देते है।

भूदान यज्ञ ऐसा कोई कार्य नही है कि जिसके लिए विद्यार्थी को आमरण, आजीवन ब्रह्मचारी रहने की आवश्यकता हो। ब्रह्मचर्य की जिसे अन्दर से प्रेरणा होती है उसे बाहर से कोई निमित्त मिल जाता है तो वह उसका लाभ उठाता है। भीष्म और गान्धीजी के साथ भी यही हुआ था। गान्धीजी ने सामान्य जन-सेवा के खयाल मे ब्रह्मचर्य का आरम्भ किया और अच्छे ब्रह्मचर्य मे उसकी परिणति की। तो भूदान यज्ञ अगर किसी के लिए वैसा निमित्त वन जाता है तो वह उसका लाभ उठा सकता है परन्तु खास उस काम के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेने की कोई जरूरत नही है।

२—कुछ लोग—'संयम से सतति-नियमन करो', ऐसा प्रतिपादन करते हैं। लेकिन यह ठीक नही। सयम का अपना स्वतत्र मूल्य है। सतति कम करने के लिए सयम को न खपाइये। सयम से आनन्द मिलता है, इसलिए सयमी होने को लोगो से कहिए। उसके लिए भौतिक नफा-नुकसान न सिखाइये।

जैन आगम मे सर्व प्राणातिपात विरमण, सर्व मृषावाद विरमण, सर्व अदत्तादान विरमण, सर्व मैथुन विरमण, सर्व परिग्रह विरमण और सर्व-रात्रि भोजन विरमण—इन प्रतिज्ञाओ को ग्रहण करने के वाद साधक का आत्म-तोष इस प्रकार प्रकट होता है "इन पांच महाव्रत और छठे रात्रि-भोजन विरमण को मैंने आत्म-हित के लिए ग्रहण किया है[1]। इससे स्पष्ट है कि महाव्रतो के—जिनमें ब्रह्मचर्य महाव्रत भी है—ग्रहण का हेतु जैन आगमो मे भी 'आत्महित' ही बताया गया है।

वैदिक संस्कृति मे भी ब्रह्मचर्य का उद्देश्य यही कहा गया है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य क्या होना चाहिए, यह उपनिषद् के निम्न वार्तालाप से प्रकट होगा

"हम आत्मा को जानना चाहते हैं जिसे जानने पर जीव सम्पूर्ण लोको और समस्त भोगो को प्राप्त कर लेता है"—ऐसा निश्चय कर देवताओ का राजा इन्द्र और असुरो का राजा विरोचन ये दोनो—परस्पर स्पर्धा मे हाथो में समिधाएँ लेकर प्रजापति के पास आए। और वत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यवास किया।

प्रजापति ने कहा—"ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तुम किस चीज की इच्छा करते हो?"

इन्द्र और विरोचन वोले "जो आत्मा पाप-रहित, जरा-रहित, मृत्यु-रहित, शोक-रहित, क्षुधा-रहित, तृषा-रहित, सत्यकाम और सत्य-सकल्प है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसे विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए, यह आपका वाक्य है। आत्मा को जानने की इच्छा से हम यहाँ ब्रह्मचर्यवास में हैं।"

प्रजापति ने कहा—"यह जो नेत्रो में दिखायी देता है—आत्मा है। यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है[2]।"

उपर्युक्त वार्तालाप में ब्रह्मचर्य का उद्देश्य आत्म-प्राप्ति वतलाया गया है। साथ ही यह भी बता दिया गया है कि आत्मा ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त होती है। यह ही बात जैन धर्म मे सयम रूप ब्रह्मचर्य के उद्देश्य और फल के सम्बन्ध मे कही गयी है।

जैन आगम दशवैकालिक सूत्र में कहा है

"निश्चय ही आचार-समाधि के चार भेद हैं। यथा—

(१) इहलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(२) परलोक के लिए आचार का पालन न करे।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लाघा के लिए आचार का पालन न करे।

(४) अरिहत-निर्दिष्ट हेतु निर्जरा—आत्म-शुद्धि के सिवा अन्य किसी प्रयोजन के लिए आचार का अनुष्ठान न करे[3]।"

इससे भी स्पष्ट है कि साधक के लिए ब्रह्मचर्य का हेतु आत्म-हित, आत्म-शुद्धि ही हो सकता है।

१—दशवैकालिक ४ ६

इच्चेइयाइं पञ्च महव्वयाइ राईभोयणवेरमणछट्ठाइ अत्त-हियट्ठयाए उवसपज्जित्ताण विहरामि।

२—छान्दोग्योपनिषद् ८ ७ २-४

३—दशवैकालिक ९ ४ ५

चउव्विहा खलु आयार-समाही भवइ, त जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठाए आयारमहिट्ठेज्जा, नन्नत्थ आरहतेहि हेऊहि आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थं पय भवइ।

८-व्रत-ग्रहण में विवेक आवश्यक

कभी-कभी मनुष्य वस्तु की दुष्करता पर पूरा विचार नही करता और व्रत-ग्रहण कर लेता है। फल यह होता है कि या तो वह उसे भङ्ग कर दूर हो जाता है अथवा छिपे-छिपे अनाचार का सेवन करने लगता है। ज्ञानियो ने कहा है—जो बात जैसी हो वैसी जान कर व्रत-ग्रहण करो। आगम मे कहा है—"कामभोग के रस को जान चुका उसके लिए अब्रह्मचर्य से विरति और यावज्जीवन के लिए उग्र महाव्रत ब्रह्मचर्य का धारण करना अत्यन्त दुष्कर है[1]", "सयम बालू के कवल की तरह निरस है[2]", "जैसे वायु से थैला भरना कठिन है, उसी प्रकार क्लीव के लिए सयम का पालन कठिन है[3]", "जिस तरह भुजाओ से रत्नाकर—समुद्र का तैरना दुष्कर है, उसी तरह अनुपशांत आत्मा द्वारा दमरूपी समुद्र का तैरना दुष्कर है[4]", "जैसे लोहे के यवो का चबाना दुष्कर है, उसी प्रकार सयम का पालन दुष्कर है[5]", "जिस तरह प्रज्वलित अग्नि-शिखा का पीना अत्यन्त दुष्कर है, उसी प्रकार तरुणावस्था मे श्रामण्य का पालन दुष्कर है[6]", "जो सुख मे रहा है, सुकुमार है, ऐशोआराम में पला है, वह श्रामण्य के पालन में समर्थ नही होता[7]"। इन कथनो का अर्थ यह है कि व्रत-ग्रहण के पूर्व उसकी दुष्करता को पूर्ण रूप से समझ कर आगे कदम बढाया जाय।

इसी तरह आगम मे कहा है—"साधक! अपने बल, स्थाम, श्रद्धा, आरोग्य को देख कर तथा क्षेत्र और काल को जान कर उसके अनुसार आत्मा को धर्म-कर्म मे नियोजित करे[8]।" इस का अर्थ यह कि वस्तु की दुष्करता के अनुपात मे उसके बल, स्थाम, श्रद्धा आदि कितने समर्थ हैं, यह भी देख ले। सार यह है कि जो वस्तु की दुष्करता को समझ तथा अपने बल सामर्थ्य के अनुसार आगे कदम बढाता है, वह स्खलित या अनाचारी नही होता।

जो ऐसा नही करता उसकी क्या गति होती है, उसका भी बडा गम्भीर विवेचन आगमो मे है—"कायर मनुष्य जब तक विजयी पुरुष को नही देखता तब तक अपने को शूर मानता है, परन्तु वास्तविक सग्राम के समय वह उसी तरह क्षोभ को प्राप्त होता है जिस तरह युद्ध में प्रवृत्त दृढधर्मी महारथी कृष्ण को देख कर शिशुपाल हुआ था[9]।" "अपने को शूर माननेवाला पुरुष सग्राम के अग्र-भाग में चला तो जाता है परन्तु जब युद्ध छिड जाता है और ऐसी घबडाहट मचती है कि माता भी अपनी गोद से गिरते हुए पुत्र की सुध न ले सके, तब शत्रुओ के प्रहार से क्षतविक्षत अल्प पराक्रमी पुरुष दीन बन जाता है[10]।" "ब्रह्मचर्य पालन मे हारे हुए मदमति पुरुष उसी तरह विषाद का अनुभव करते हैं, जिस तरह जाल मे फँसी हुई मछली[11]।" "जैसे युद्ध के समय कायर पुरुष यह शका करता है कि कौन जानता है किस की विजय होगी,

---

१—उत्तराध्ययन १६ २६

२—वही १६ ३८

३—वही १६ ४१

४—वही १६ ४३

५—वही १६ ३६

६—वही १६ ४०

७—वही १६ ३५

८—दशवैकालिक ८ ३५

बलं थामं च पेहाए, सद्धामारोगमप्पणो।

खेत्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निजुंजए॥

६—सूत्रकृताङ्ग १,३-१ १

१०—वही १,३-१ ७

११—वही १,३-१ १३

पीछे की ओर ताकता है और गड्ढा गहन और छिपा हुआ स्थान देखता है, उसी प्रकार निर्बल साधक अनागत भय की आशका मे एकान्त की शरण ले लेते हैं[1]।'

इस विषय मे सत टॉल्स्टॉय ने जो विचार दिये हैं, वे आगम-गाथाओ की अनुभूत टीका से लगते हैं। वे कहते हैं "हम कई बार पहले ही मे अपनी विजय की रोचक कल्पना मे तल्लीन हो जाते हैं, यह एक भारी कमजोरी है। ऐसे काम मे हम लग जाते हैं, जो हमारी शक्ति से बाहर है। जिसका पूरा करना न करना हमारी शक्ति के अन्दर की बात नही। क्योकि पहले तो हम इस बात की कल्पना नही कर सकते कि हमे आगे चल कर किन-किन परिस्थितियो मे से गुजरना होगा। दूसरे, इस तरह की एकाएक प्रतिज्ञा करने से हमें अपने उद्देश की ओर—सर्वोच्च ब्रह्मचर्य के निकट जाने मे कोई सहायता नही मिलती, उलटे भीतर कमजोर रह जाने के कारण, हमारा पतन अलबत्ता शीघ्र होता है।

"पहले तो लोग बाहरी ब्रह्मचर्य को ही अपना उद्देश्य मान लेते हैं। फिर या तो वे ससार को छोड देते हैं या स्त्रियो मे दूर-दूर भागते हैं। इतने पर भी जब कामवासना से पिण्ड नही छूटता, तब अपनी इन्द्रियो को ही काट डालते हैं।

"दूसरे, केवल बाहरी ब्रह्मचर्य को यह समझ कर आदर्श मान लेना ग़लत है कि हम कभी तो जरूर उस तक पहुँच जायेंगे, क्योकि ऐसा करने से प्रत्येक प्रलोभन और प्रत्येक पतन उनकी आशाओ को एकदम नष्ट कर देता है और फिर इस बात पर से भी उसका विश्वास उठने लग जाता है कि ब्रह्मचर्य का आदर्श कभी सम्भवनीय या युक्तिसगत भी है या नही। वह कहने लग जाता है कि ब्रह्मचारी रहना असभव है और मैंने अपने सामने एक गलत आदर्श रख छोडा है। फिर वह एकदम इतना शिथिल हो जाता कि अपने को पूरी तरह भोग-विलास के अधीन कर देता है।

"यह तो उस योद्धा के समान हुआ, जो युद्ध मे विजय-प्राप्त करने की इच्छा से अपने बाहु पर गुप्त शक्तिवाला तावीज बांध लेता है और आँखें मूद कर विश्वास करता है कि वह तावीज युद्ध-प्रहारो से या मौत मे उसकी रक्षा करता है। पर ज्योही उसे तलवार का एकाध वार लगा नही कि उसका सारा धैर्य और पौरुष भगा नही। हम अपूर्ण मनुष्य तो यही निश्चय कर सकते हैं कि हम अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार, अपनी भूत और वर्तमान अवस्था तथा चारित्र्य का खयाल कर, अधिक से अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करें।

"दूसरे हम इस बात का भी खयाल न करें कि हम किसी काम को मनुष्यो की दृष्टि मे ऊँचा उठने के लिए कर रहे हैं। हमारे न्याय-कर्ता मनुष्य नहीं, हमारी अन्तरात्मा और परमेश्वर है। फिर हमारी प्रगति मे कोई बाधक नही हो सकता। तब प्रलोभन हम पर कोई असर नहीं कर सकेंगे और प्रत्येक वस्तु हमें उस सर्वोच्च आदर्श की ओर बढने मे सहायक होगी। पशुता को छोड कर हम नारायण-पद की ओर बढते जायेंगे[2]।"

यहां इस विवेक की बात इसलिए रखी गयी है कि ब्रह्मचर्य या तो महाव्रत के रूप में ग्रहण किया जाता है अथवा अणुव्रत के रूप में। महाव्रत के रूप के त्याग सर्व व्यापक होते हैं और अणुव्रत के रूप के त्याग स्वदार-सतोष—परदार-त्याग रूप। इनमे किस मार्ग को ग्रहण करे, यह साधक के चुनाव का विषय है। चुनाव में विवेक आवश्यक है।

९-ब्रह्मचर्य महाव्रत के रूप में

समूचे जैन धर्म का उपदेश सक्षेप मे कहना हो तो इस प्रकार रखा जा सकता है "एक से विरति करो और एक मे प्रवृत्ति। असयम मे निवृत्ति करो और सयम में प्रवृत्ति[3]। क्रिया मे रुचि करो और अक्रिया को छोडो[4]। हिंसा, अलीक, चोरी, अब्रह्म तथा भोगलिप्सा और लोभ

१—सूत्रकृताङ्ग १,३-३ १,

२—स्त्री और पुरुष पृ० ३८-४१ से सक्षिप्त

३—उत्तराध्ययन ३१ २

एगओ विरइ कुज्जा एगओ य पवत्तण।
असजमे नियत्ति च सजमे य पवत्तण॥

४—वही १८ ३३

किरिय च रोयई धीरे अकिरिय परिव्वजए।
दिट्ठीए दिट्ठीसपन्ने धम्म चरसु दुच्चर॥

(परिग्रह) का परिवर्जन करो[१] और अहिंसा, सत्य, अचौर्य—अस्तेय, ब्रह्म और अपरिग्रह—इन पांच महाव्रतो को ग्रहण करो[२]।" सक्षेप मे यही जिन-उपदिष्ट धर्म है। इस धर्म को कठिन—दुष्कर कहा है, पर उपदेश भी इसी को ग्रहण कर धैर्यपूर्वक पालन करने का दिया है।

हिंसा आदि पाँचो पाप और अहिंसा आदि पांचो धर्मो का अति सूक्ष्म गभीर मनोवैज्ञानिक विश्लेपण जैनो के प्रश्नव्याकरण सूत्र मे मिलता है। आचाराङ्ग सूत्र भी इनका सूक्ष्म प्रतिपादन करता है। कहा जा सकता है कि सारा जैन वाङ्मय इन्ही की भिन्न-भिन्न रूप मे चर्चा का विस्तृत भण्डार है।

ऋग्वेद मे 'सत्य' और 'ब्रह्मचर्य' शब्द प्राप्त हैं। शतपथ ब्राह्मण मे सत्य बोलने का कहा गया है और ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर पाँचो यामो में से अन्य यामो के नाम इनमे ही नही अन्य वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी नही मिलते। सारे यामो का उल्लेख और उन पर विशद व्याख्या या विवेचन किसी वेद अथवा ब्राह्मण ग्रन्थ मे नही देखा जाता। महाव्रत शब्द भी वहां नही है। छांदोग्य उपनिषद् में सत्य के साथ अहिंसा का उल्लेख मिलता है। बृहद् आरण्यक उपनिषद् मे दया शब्द प्राप्त है। ब्रह्मचर्य का भी उल्लेख है। पर उपनिषदो मे से किसी में भी अन्य यामो का उल्लेख नही और न उनके स्वरूप का सूक्ष्म प्रतिपादन है। याम या महाव्रत शब्दो का उल्लेख वहाँ भी नही।

स्मृतियो मे जिन्हे साधारण या सामान्य धर्म कहा गया है, उनका उल्लेख वेद, ब्राह्मण या उपनिषदो में नही है। अत साधारण धर्मों की कल्पना भी उपनिषद्-काल के बाद की ही कही जा सकती है।

स्मृतियो मे भी पांच याम या महाव्रतो का उल्लेख नही पर साधारण धर्मो के भिन्न-भिन्न प्रतिपादनो में ही अहिंसा, सत्य, अचौर्य और ब्रह्मचर्य का उल्लेख उपलब्ध है। गौतम धर्मशास्त्र मे दया, शान्ति, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा—इन आठ को आत्म-गुण कहा है। अस्पृहा को अपरिग्रह कहा जाय तो उस धर्म का यह पहला उल्लेख है।

यह निश्चय है कि ऐसे साधारण उल्लेखो के उपरांत अहिंसा आदि तत्वो या धर्म-सिद्धान्तो का सूक्ष्म विवेचन या प्रतिपादन वैदिक सस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे नही है। मनुष्य सत्य क्यो बोले, अहिंसा से दूर क्यो रहे—ऐसे प्रश्नो का निचोड उनमें नही मिलता।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जिन याम आदि धर्मो का उल्लेख वेद-उपनिषदो मे नही, वे बाद के साहित्य मे कहाँ से आये। इसका उत्तर सक्षेप मे इतना ही दिया जा सकता है कि सस्कृतियाँ एक दूसरे के प्रभाव से सर्वथा अछूती नही रह पाती। श्रमण-सस्कृति का अचूक प्रभाव वैदिक सस्कृति पर भी पडा है और उसके चिन्तन मे श्रमण-सस्कृति के अत्यन्त महत्वपूर्ण अंशो ने भी स्थान प्राप्त किया है और बाद में अपने ढग का उनका विस्तार हुआ है।

आधुनिक विचारको में महात्मा गांधी ने व्रतो पर गभीर विवेचन दिया है और वह विवेचन जैन आगमिक वर्णन से काफी मिलता-जुलता है। दोनो की समानता पहले एक लेख में दिखाई जा चुकी है[३]।

जिन पांच महाव्रतो का ऊपर उल्लेख आया है उनके ग्रहण करने की शब्दावली इस रूप मे मिलती है:

१—मैं प्रथम महाव्रत में सर्व प्राणातिपात का त्याग करता हूँ। मैं यावज्जीवन के लिए सूक्ष्म या बादर, स्थावर या जगम—किसी भी प्राणी की मन, वचन और काया से स्वय हिंसा नही करूँगा, दूसरे से हिंसा नही कराऊँगा और न हिंसा करनेवाले का अनुमोदन करूँगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको व्युत्सर्ग करता—उससे हटाता हूँ।

१—उत्तराध्ययन ३५ ३

तहेव हिंस अलियं चोज्ज अबम्भसेवण।
इच्छाकामं च लोभं च सजओ परिवज्जए॥

२—वही २१ १२

अहिंससच्च च अतेणग च
तत्तो य बम्भ अपरिग्गह च।
पडिवज्जिया पच महव्वयाणि
चरिज्ज धम्म जिणदेसिय विदू॥

३—विवरण पत्रिका, वर्ष ८ अक ८ पृ० १५० से: 'गांधी और गाधीवाद'

२—मै दूसरे महाव्रत मे यावज्जीवन के लिए सर्व प्रकार के मृषा—झूठ बोलने का (वाणी दोष का) त्याग करता हूँ। क्रोध मे, लोभ से, भय से या हास्य से मै मन वचन और काया से झूठ नही बोलूगा, न दूसरो से झूठ बुलाऊँगा, न झूठ बोलते हुए अन्य किसी का अनुमोदन करूँगा। मै अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आप को उससे हटाता हूँ।

३—मै तीसरे महाव्रत मे यावज्जीवन के लिए सर्व अदत्त का त्याग करता हूँ। गाव, नगर या अरण्य मे अल्प या बहुत, छोटी या बडी, सचित्त या अचित्त कोई भी वस्तु बिना दी हुई नही लूगा, न दूसरे से लिवाऊँगा और न कोई दूसरा लेता होगा तो उसे अनुमति दूगा। मै अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

४—मैं चौथे महाव्रत मे सर्व प्रकार के मैथुन का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का स्वय सेवन नही करूँगा, दूसरे से सेवन नही कराऊँगा और सेवन करनेवाले का अनुमोदन नही करूगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ।

५—मैं पाचवें महाव्रत मे सर्व प्रकार के परिग्रह का यावज्जीवन के लिए त्याग करता हूँ। मैं अल्प या बहुत, अणु व स्थूल, सचित्त या अचित्त किसी भी परिग्रह को ग्रहण नही करूँगा, न ग्रहण कराऊँगा, न परिग्रह ग्रहण करनेवाले का अनुमोदन करूगा। मैं अतीत के उस पाप से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और अपने आपको उससे हटाता हूँ[1]।

जो ब्रह्मचर्य को महाव्रत के रूप मे ग्रहण करना चाहेगा उसे उपर्युक्त महाव्रतो को उपर्युक्त रूप मे एक साथ ग्रहण करना होगा। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन पहले किया जा चुका है।

१०-ब्रह्मचर्य अणुव्रत के रूप में

यहां प्रश्न हो सकता है कि महाव्रत तो अत्यन्त दुष्कर हैं, उन्हें तो ससार-त्यागी ही ग्रहण कर सकता है। जो गार्हस्थ्य मे रहते हुए अहिंसा आदि को अपनाना चाहे वह क्या करे ?

महावीर ने तीन तरह के मनुष्यो की कल्पना दी है

(१) एक ऐसे हैं जो परलोक की चिन्ता ही नही करते और जो चिरजीवन की ही प्रशसा करते हैं। जो हिंसा आदि पर-क्लेशकारी पापो से जरा भी विरत नही होते और महान् आरम्भ, महान् समारम्भ और नाना पाप कर्म कर उदार मानुषिक भोगो मे ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं। ये अविरत हैं। ऐसे व्यक्ति दो कोटि के होते हैं—एक जिन्हें धर्म पर तो विश्वास है पर जो पापो को छोड नही सकते। दूसरे वे जो धर्म मे भी विश्वास नही करते और पापो को भी नही छोडते।

(२) दूसरे ऐसे हैं जो धन-सम्पत्ति, घर-बार, माता-पिता और शरीर की आसक्ति को छोडकर सर्वथा निरारम्भी और निष्परिग्रही जीवन बिताते हैं। ये ही हिंसा आदि पापो से मन, वचन और काया द्वारा न करने, न कराने और न अनुमोदन करने रूप से सर्वथा जीवनपर्यंत विरत होते हैं। इनके उपर्युक्त पांचो महाव्रत होते हैं। ये सर्व विरत कहलाते हैं।

(३) तीसरे ऐसे हैं जो धर्म मे विश्वास करते हुए भी पापो को सर्वथा छोडकर महाव्रत नही ले सकते। जो अपने मे महाव्रतो को ग्रहण करने का सामर्थ्य नही पाते, वे आदर्श मे विश्वास रखते हुए यथाशक्ति पापो को छोड स्थूल व्रतो को ग्रहण करते हैं। उनकी प्रतिज्ञाओ मे स्थूल हिंसा-त्याग, स्थूल झूठ-त्याग, स्थूल चोरी-त्याग, स्वदार-सन्तोष—परदार-त्याग, स्थूल परिग्रह-त्याग, दिक्मर्यादा, उपभोग-परिभोग-परिमाण, अपध्यानादि रूप अनर्थ दण्ड-त्याग, सामायिक—आत्म-पर्युपासन, पौषधोपवास—ब्रह्मचर्यपूर्वक उपवास और अतिथिसविभाग—इन बारह व्रतो का समावेश होता है। इन्हे विरताविरत कहते हैं।

भगवान ने पहले वर्ग को अधर्मपक्षी, कृष्णपक्षी आदि कहा है। ऐसे जीवन को उन्होने अनार्य, अन्यायपूर्ण, अशुद्ध, मिथ्या और असाधु कहा है।

उन्होने दूसरे वर्ग को धर्मपक्षी, शुक्लपक्षी आदि कहा है। ऐसे उपशात जीवन को उन्होने आर्य, सशुद्ध, न्यायसगत, एकांत, सम्यक् और साधु कहा है।

१—आचाराङ्ग २ २४

उन्होने तीसरे पक्ष को शुक्लकृष्णपक्षी कहा है। विरति की अपेक्षा से ऐसा जीवन सम्यक् और संशुद्ध होता है और अविरति की अपेक्षा से असम्यक् और असंशुद्ध होता है[1]।

विरताविरत के व्रत स्थूल होने के कारण व्रत की मर्यादा के बाहर कितनी ही छूटें रह जाती हैं। ये छूटें जीवन का अधर्म पक्ष हैं। आदर्श पालन की आत्मशक्ति की न्यूनता की सूचक हैं। व्रतो की अपेक्षा से उसका जीवन धार्मिक माना गया है और अव्रत—छूटो की अपेक्षा अधार्मिक। इसी कारण उसके जीवन को मिश्रपक्षी, धर्माधर्मी आदि कहा गया है। जो छूटो को जितना कम करता है, वह आदर्श के उतना ही नजदीक जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो महाव्रतों को ग्रहण करने की सामर्थ्य नही रखता, वह स्थूल व्रतों का ग्रहण कर सकता है।

भगवान महावीर के समय मे अणुव्रत—स्थूलव्रत लेने की परिपाटी थी, उसके चित्र आगमो मे अंकित हैं। जो महाव्रतों को ग्रहण करने मे असमर्थ होता वह कहता

"हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे श्रद्धा है। हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ-प्रवचन में प्रतीति है। हे भन्ते ! मुझे निर्ग्रन्थ प्रवचन मे रुचि है। यह ऐसा ही है भन्ते ! यह तथ्य है भन्ते ! यह अवितथ है भन्ते ! हे भन्ते ! मैं इसकी ईच्छा करता हूँ। हे भन्ते ! इसकी प्रति इच्छा करता हूँ। हे भन्ते ! इसकी इच्छा, प्रति इच्छा करता हूँ। आप कहते हैं वैसा ही है। आप देवानुप्रिय के समीप अनेक व्यक्ति मुण्ड हो आगारिता से अनगारिता में प्रव्रजित होते हैं। पर मैं वैसे मुण्ड हो प्रव्रज्या ग्रहण करने में असमर्थ हूँ। मैं देवानुप्रिय से पांच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप द्वादशविध गृहिधर्म लेना चाहता हूँ[2]।"

जो वात अन्य व्रतो के वारे मे है वही ब्रह्मचर्य महाव्रत के वारे में है। ब्रह्मचर्य महाव्रत ही सर्वोच्च आदर्श है। पर जो उसे ग्रहण नही कर सकता, वह कम-से-कम स्थूल मैथुन विरमण व्रत को तो ग्रहण करे—यह जैन धर्म की भावना है।

गृहपति आनन्द ने महावीर से यह व्रत इस रूप में लिया—"अपनी एक शिवानन्दा भार्या को छोड कर अन्य सर्व मैथुन-विधि का प्रत्याख्यान करता हूँ।"

इस व्रत का एक प्राचीन रूप इस प्रकार मिलता है: "चतुर्थ अणुव्रत स्थूल मैथुन से विरमणरूप है। मैं जीवनपर्यन्त देवता-देवांगना सम्वन्धी मैथुन का द्विविध त्रिविध से प्रत्याख्यान करता हू। अर्थात् मैं ऐसे मैथुन का मन, वचन और काया से सेवन नही करूँगा, नही कराऊँगा। परपुरुष—स्त्री-पुरुष और तिर्यञ्च-तिर्यञ्ची विषयक मैथुन का एक एकविध एकविध से अर्थात् शरीर से सेवन नही करुगा।"

इसका अर्थ यह है—

(१) इसमें व्रतग्रहीता द्वारा स्वदार सम्वन्धी सर्व प्रकार के मैथुन की छूट रखी गई है।

(२) देवता-देवांगना के सम्वन्ध में मन, वचन और काय से अनुमोदन की छूट रखी गयी है।

(३) पर-स्त्री और तिर्यञ्च सम्वन्ध में शरीर से मैथुन सेवन कराने और अनुमोदन की छूट तथा मन और वचन से करने, कराने एव अनुमोदन की छूट रखी गई है।

इसका कारण यह है कि गार्हस्थ्य में अनुमोदन होता रहता है और अपनी अधीन सन्तान और पशु-पक्षी आदि के मैथुन-प्रसगो का शरीर से कराना और अनुमोदन भी होते ही हैं। मन और वचन पर सयम न होने से अथवा आवश्यकतावश उनसे भी करने, कराने और अनुमोदन की छूट रखी गई है।

महात्मा गांधी ने लिखा है "हाँ, व्रत की मर्यादा होनी चाहिए। ताकत के उपरांत व्रत लेनेवाला अविचारी गिना जायगा। व्रत मे शर्तो के लिए अवकाश है। व्रत अर्थात् कठिन से कठिन वस्तु करना ऐसा अर्थ नहीं है। व्रत अर्थात् सहज अथवा कठिन वस्तु नियमपूर्वक करने का निश्चय[3]।"

इस स्थूल व्रत के सम्वन्ध मे इतना उल्लेख और है "इस चतुर्थ स्थूल मैथुन विरमण व्रत के पांच अतिचार जानने चाहिए और उनका आचरण नही करना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—(१) इत्वरपरिगृहीतागमन (२) अपरिगृहीतागमन (३) अनगक्रीडा (४) परविवाहकरण और (५) कामभोगतीव्राभिलाषा।"

१—(क) सूत्रकृताङ्ग २ १, २ २ (ख) औपपातिक सू० १२३ १२४, (ग) दशाश्रुतस्कध द० ६
२—उपासकदशा १ १२
३—धर्ममथन पृ० १२६-७

इनका अर्थ यह है

(१) थोड़े समय के लिए दूसरे के द्वारा गृहीत अविवाहित स्त्री को इत्वरपरिगृहीता कहते हैं। वह वास्तव में परदार न होने पर भी अणुव्रती उसे परदार समझे और उसके साथ मैथुन सेवन न करे।

(२) किसी के द्वारा अगृहीत वेश्या आदि परदार नहीं पर अणुव्रती उसे परदार समझे और उनके साथ मैथुन-सेवन न करे।

(३) आलिंगनादि क्रीडा अथवा अप्राकृतिक क्रीडा को अनगक्रीडा कहते हैं। अणुव्रती उन्हें भी मैथुन समझे और परस्त्री अथवा किसी के साथ ऐसा दुराचार न करे।

(४) अपनी सन्तान अथवा परिवार के व्यक्तियों के अतिरिक्त परसतति का विवाह न करे।

(५) कामभोग की तीव्र अभिलाषा न रखे अथवा कामभोग का तीव्र परिणाम से सेवन न करे।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि आदर्श तो सबके लिए महाव्रत ही है, पर पाप-त्याग की सीमा प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार कर सकता है।

स्थूल मैथुन-व्रत कामवासना और पत्नीत्व-भावना का स्थानबद्ध कर देता है। स्वदार-संतोष का अर्थ है—अब्रह्म में अपनी पत्नी की सीमा के बाहर न जाना। जैन धर्म कहता है कि अपनी पत्नी तक सीमित रहना भी ब्रह्मचर्य नहीं है, कामवासना का ही सेवन है। अत स्वदार-संतोषी काम-वासना और भोगवृत्ति को क्षीण करता चला जाय। सीमित करने की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया अन्य व्रतों में ही निहित है। दिग्व्रत द्वारा वह दिशाओं की सीमा कर ले और उन सीमा-मर्यादा के बाद अब्रह्म का सेवन न करे। उस क्षेत्र-मर्यादा के बाहर वह पत्नी के साथ भी ब्रह्मचारी रहे। भोगोपभोग व्रत में दिनों की मर्यादा कर ले और उन दिनों के उपरांत विषय-सेवन में प्रवृत्त न हो। इसी तरह दिवा-मैथुन का त्याग कर मर्यादित हो जाय। आर्त-रौद्र ध्यान से बचकर मानसिक सयम साधे। अपनी मर्यादाओं को दैनिक नियमों द्वारा और भी सीमित करे। पर्व दिनों में पौषधोपवास कर ब्रह्मचर्य में रात्रियाँ बिताये। अपने जीवन को इस तरह दिनोदिन सयमी करता हुआ अपने साथी की ब्रह्मचर्य-भावना को भी बढाता जाय। और इस तरह बढते-बढते अपनी पत्नी के प्रति भी पूर्ण ब्रह्मचारी हो जाय। जैन धर्म का यही उपदेश है कि अपने गृहस्थ-जीवन में भी पति-पत्नी अति भोगी न हों और विषय-वासना को दिनों-दिन घटाते जांय।

महात्मा गांधी लिखते हैं "अपनी स्त्री के साथ सग चालू रख कर भी जो पर-स्त्री सग छोडता है, वह ठीक करता है। उसका ब्रह्मचर्य सीमित भले ही माना जाय लेकिन इसे ब्रह्मचारी मानना, इस महा शब्द का खून करने के बराबर है[1]।"

जैन धर्म की दृष्टि से भी गृहस्थ वास्तव में ही ब्रह्मचारी नहीं है। वह स्वदार-संतोषी है। अपनी स्त्री के साथ भोग भोगने की उसकी छूट व्रत नहीं, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। छूट की अपेक्षा वह अब्रह्मचारी है। परदार त्याग की अपेक्षा वह ब्रह्मचारी है।

उपनिषद् में एक विचार मिलता है—"जो दिन में स्त्री के साथ सयोग करता है, वह प्राण को क्षीण करता है और जो रात में स्त्री के साथ सयोग करता है, वह ब्रह्मचर्य ही है[2]।"

इसके बदले में जैन धर्म का विचार है—ऐसा मनुष्य दिवा-मैथुन के त्याग की अपेक्षा से अणुव्रती है और रात्रि-मैथुन की अपेक्षा से अब्रह्मचारी। मैथुन-काल—रात्रि में भी सभोग करनेवाला ब्रह्मचारी नहीं है।

स्मृति में उल्लेख है—"जो छ दूषित रात्रि, निन्दित आठ रात तथा पर्व दिन का त्याग कर सोलह रात में केवल दो रात स्त्री-सगम करता है, वह चाहे जिस आश्रम में हो ब्रह्मचारी है[3]।"

जैन धर्म के अनुसार अन्य रात्रियों का त्याग ब्रह्मचर्य है। दो रात्रि का भोग अब्रह्म है, उसमें कोई ब्रह्मचारी नहीं कहा जा सकता।

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ७०१

२—प्रश्नोपनिषद् १ १३

प्राण वा एते प्रस्कन्दति ये दिवा रत्या सयुज्यन्ते
ब्रह्मचर्य्यमेवेतद्यद्रात्रौ रत्या सयुज्यन्ते।

३—मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ५०

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

११-विवाहित-जीवन और भोग-मर्यादा

ईसा का आदेश है—"अपने माता-पिता, बीवी-बच्चे आदि को छोड कर मेरा अनुसरण कर।" प्रश्न है जो माता-पिता, बीवी-बच्चे को नही छोडता क्या वह ईसा का अनुसरण नही कर सकता ? मत टॉल्स्टॉय इसका उत्तर देते हुए लिखते हैं—"इन शब्दो का अर्थ तुमने गलत समझा है। जब मनुष्य के चित्त मे धार्मिक और पारिवारिक कर्तव्यो के बीच युद्ध छिड जाय, तब समझौते की शर्तें बाहर मे पेश नही की जा सकती। बाहरी नियम या उपदेश कोई काम नही कर सकते। इनको तो मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार खुद ही सुलझाना चाहिए। आदर्श तो वही रहेगा—'अपनी पत्नी को छोड कर मेरे पीछे चल' पर यह बात तो केवल वह आदमी और परमात्मा ही जानता है कि इस आदेश का पालन वह कहाँ तक कर सकता है[१] ?"

टॉल्स्टॉय के कथन का अभिप्राय यह है कि अगर ऐसी शक्ति न हो तो वह पुरुष पत्नी के साथ रहता हुआ ही यथाशक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करे। उन्होने लिखा है "मै तो केवल एक ही बात सोच और कह सकता हूँ। विवाह हो जाने पर भी पाप को बढाने का मौका न देते हुए अपनी शक्ति भर और जीवन भर अविवाहित का-सा संयमशील जीवन व्यतीत करने की कोशिश करनी चाहिए[२]।"

"मनुष्य को चाहिए कि वह हमेशा और हर हालत मे, चाहे वह विवाहित हो या अविवाहित, जहाँ तक वह रह सकता हो ब्रह्मचर्य से रहे। यदि वह आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकता है, तो इससे अच्छा वह और कुछ कर ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह अपने आपको रोक नही सकता, अपनी इन्द्रियो पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त करने में असमर्थ है, तो उसे चाहिए कि जहाँ तक हो सके, वह अपनी इस निर्बलता के बहुत कम वशीभूत हो, और किसी अवस्था में विषयोपभोग को आनन्द की वस्तु न समझे[३]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं "विविध रगो का चाहे-जैसा मिश्रण सौन्दर्य का चिह्न नही है, और न हर तरह का आनन्द ही अपने-आप मे कोई अच्छाई है। कला और उसकी जो दृष्टि है उसने मनुष्य को यह सिखाया है कि वह उपयोगिता मे ही आनन्द की खोज करे। इस प्रकार अपने विकास के प्रारंभिक काल मे ही उसने यह जान लिया था कि खाने के लिए ही उसे खाना नही खाना चाहिए, बल्कि जीवन टिका रहे, इसलिए खाना चाहिए। इसी प्रकार जब उसने विषय-सहवास या मैथुनजनित आनन्द की बात पर विचार किया तो उसे मालूम पडा कि अन्य प्रत्येक इन्द्रिय की भांति जननेन्द्रिय का भी उपयोग दुरुपयोग होता है और इसका उचित कार्य याने सदुपयोग इसी में है कि केवल प्रजनन या संतानोत्पत्ति के ही लिए सहवास किया जाय। इसके सिवा और अन्य प्रयोजन से किया जानेवाला सहवास अ-सुन्दर है[४]।

"यही अर्थ गृहस्थाश्रमी के ब्रह्मचर्य का है अर्थात्—स्त्री-पुरुष का मिलन सिर्फ संतानोत्पत्ति के लिए ही उचित है, भोग-तृप्ति के लिए कभी नही। यह हुई कानूनी बात अथवा आदर्श की बात। यदि हम इस आदर्श को स्वीकार करें तो यह समझ सकते हैं कि भोगेच्छा की तृप्ति अनुचित है और हमें उसका यथोचित त्याग करना चाहिए। आजकल भोग-तृप्ति को आदर्श बताया जाता है। ऐसा आदर्श कभी हो नही सकता, यह स्वयसिद्ध है। यदि भोग आदर्श है तो उसे मर्यादित नही होना चाहिए। अमर्यादित भोग से नाश होता है, यह सभी स्वीकार करते हैं। त्याग ही आदर्श हो सकता है और प्राचीन काल से रहा है[५]।

"स्त्री-पुरुष के समागम का उद्देश्य इन्द्रिय-सुख नही, बल्कि सन्तानोत्पादन है और जहाँ संतान की इच्छा न हो वहाँ संभोग पाप है[६]।"

महात्मा गांधी के अनुसार स्त्री-भोग विवाहित जीवन में भी अल्प बार ही हो सकता है। उन्होने लिखा है—"संतति के कारण ही तो एक ही बार मिलन हो सकता है, अगर वह निष्फल गया तो दोबारा उन स्त्री-पुरुषो का मिलन होना ही नही चाहिए। इस नियम को जानने के बाद इतना ही कहा जा सकता है कि जब तक स्त्री ने गर्भ धारण नही किया तब तक, प्रत्येक ऋतुकाल के बाद, प्रतिमास एक बार स्त्री-पुरुष मिलन क्षतव्य हो सकता है, और यह मिलन भोग-तृप्ति के लिए न माना जाय[७]।"

जैन धर्म के अनुसार संतान-प्राप्ति के लिए सहवास भी विषय-सेवन है और उसे ब्रह्मचर्य नही कहा जा सकता जैसा कि कहा गया है—"जो दंपत्ति गृहस्थाश्रम में रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर संयोग और एकांत करते हैं, वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[८]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ६७

२—वही पृ० ६८

३—वही पृ० ३६

४—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० २५-२६

५—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ०१८

६—अनीति की राह पर पृ० ७४

७—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १७

८—वही पृ० ८१

एक पुरानी कथा इस रूप में मिलती है :

वशिष्ठ की कुटिया के सामने एक नदी बहती थी। दूसरे किनारे विश्वामित्र तप करते थे। वशिष्ठ गृहस्थ थे। जब भोजन पक जाता तो पहले अरुंधती थाल परोसकर विश्वामित्र को खिलाने जाती, बाद को वशिष्ठ के घर पर सब लोग भोजन करते, यह नित्य-क्रम था। एक रोज बारिश हुई और नदी में बाढ़ आ गई। अरुंधती उस पार न जा सकी। उसने वशिष्ठ से इसका उपाय पूछा। उन्होंने ने कहा—'जाओ, नदी से कहना, मैं सदा निराहारी विश्वामित्र को भोजन देने जा रही हूँ, मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने इसी प्रकार नदी से कहा—और उसने रास्ता दे दिया। तब अरुंधती के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ कि विश्वामित्र रोज तो खाना खाते हैं, फिर निराहारी कैसे हुए? जब विश्वामित्र खाना खा चुके तब अरुंधती ने उनसे पूछा—'मैं वापस कैसे जाऊँ, नदी में तो बाढ़ है?' विश्वामित्र ने उलट कर पूछा—'तो आई कैसे?' उत्तर में अरुंधती ने वशिष्ठ का पूर्वोक्त नुसखा बतलाया। तब विश्वामित्र ने कहा—'अच्छा तुम नदी से कहना, सदा ब्रह्मचारी वशिष्ठ के यहाँ लौट रही हूँ। नदी, मुझे रास्ता दे दो।' अरुंधती ने ऐसा ही किया और उसे रास्ता मिल गया। अब तो उसके अचरज का ठिकाना न रहा। वशिष्ठ के सौ पुत्रों की तो वह स्वयं ही माता थी। उसने वशिष्ठ से इसका रहस्य पूछा कि—विश्वामित्र को सदा निराहारी और आप को सदा ब्रह्मचारी कैसे मानूँ? वशिष्ठ ने बताया—'जो केवल शरीर-रक्षण के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से भोजन करता है, वह नित्य भोजन करते हुए भी निराहारी है और जो केवल स्व-धर्म पालन के लिए अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करता है, वह संभोग करते हुए भी ब्रह्मचारी ही है[1]।'

इस पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गांधी लिखते हैं

" धार्मिक दृष्टि से देखें तो एक ही संतति 'धर्मज' या 'धर्मजा' है। मैं पुत्र और पुत्री के बीच भेद नहीं करता हूँ, दोनों एक समान स्वागत के योग्य हैं। वशिष्ठ, विश्वामित्र का दृष्टान्त साररूप में अच्छा है उससे इतना ही सार निकालना काफी है कि सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ संयोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नहीं है। कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संभोग त्याज्य है। उसे निंद्य मानने की आवश्यकता नहीं। असंख्य स्त्री-पुरुषों का मिलन भोग के ही कारण होता है, और होता रहेगा। [2]"

इस विषय में संत टॉल्स्टॉय के विचार प्रायः उपर्युक्त विचारों से मिलते हैं

"मैं समझता हूँ विवाह में सहवास (संभोग) एक आचारविरुद्ध कर्म (व्यभिचार) नहीं है, परन्तु इस बात को प्रमाण के साथ लिखने के पहले मैं इस प्रश्न पर कुछ अधिक ध्यानपूर्वक विचार कर लेना चाहता हूँ। क्योंकि इस कथन में भी कुछ सत्यता प्रतीत होती है कि काम-पिपासा बुझाने के लिए अपनी धर्म-पत्नी के साथ भी किया गया संभोग पाप है। मैं तो समझता हूँ इन्द्रिय-विच्छेद कर देना वैसा ही पाप-कर्म है, जैसा कि विषय-सुख के लिए संभोग (रति) करना। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार कि आवश्यकता से अधिक खा लेना। जो भोजन मनुष्य को अपने अन्य भाइयों की सेवा करने के योग्य बनाता है, वह न्यायोचित भोजन है, और इसी प्रकार वह मैथुन भी न्यायोचित (जायज) है, जो सन्तानोत्पत्त्यर्थ (वंश चलाने के उद्देश्य से) किया जाता है।

" यह कहना सही है कि स्व-पत्नी के साथ किया हुआ संभोग भी आचार-विरुद्ध अर्थात् व्यभिचार है, यदि वह बिना आध्यात्मिक (विशुद्ध) प्रेम के, केवल विषय-सुख के लिए और इसलिए नियत समय के ऊपर न किया गया हो, पर यह कहना सर्वथा अनुचित और भ्रममूलक है कि सन्तानोत्पत्त्यर्थ और विशुद्ध आध्यात्मिक प्रेम के होते हुए किया गया मैथुन भी पाप है। वास्तव में वह पाप नहीं किन्तु ईश्वर की आज्ञा का पालन करना है[3]।"

संभोग के दो प्रयोजन हो सकते हैं—एक विषय-वासना की पूर्ति और दो जरूरत से प्रजोत्पादन। ऊपर के दोनों वक्तव्यों का सार यह है कि विवाहित जीवन का यह नियम होना चाहिए कि कोई भी पति-पत्नी बिना आवश्यकता के प्रजोत्पत्ति न करें और प्रजोत्पादन के हेतु बिना संभोग न करें। महात्मा गांधी की दृष्टि से संभोग एक ही सन्तान के लिए हो सकता है, उसके बाद नहीं होना चाहिए। संत टॉल्स्टॉय के अनुसार

१—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८५

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ८५-८७ का सार

३—स्त्री और पुरुष पृ० ५६-६० से संक्षिप्त

कर्त्तव्यपूर्वक जितनी सन्तानो के पालन की क्षमता दम्पति मे हो, उतनी सन्तानो के लिए हो सकता है। हिन्दू शास्त्रो के अनुसार भी एक सन्तति का विधान नही है, जैसा कि उपर्युक्त कथा से स्पष्ट है।

महात्मा गांधी के अनुसार कामाग्नि की तृप्ति के कारण किया हुआ संभोग त्याज्य है—निन्द्य नही। सत टॉल्स्टॉय कहते हैं "यदि तू स्त्री को—भले ही वह तेरी पत्नी हो—एक भोग और आमोद-प्रमोद की सामग्री समझता है तो व्यभिचार करता है। विषयानन्द .. पतन है[1]।"

जैन दृष्टि से विषय-तृप्ति और सन्तानोत्पत्ति—ये दोनो ही हेतु सावद्य—पापपूर्ण हैं। सन्तान की कामना स्वय एक वासना है। सभोग-क्रिया में—फिर वह भले ही किसी भी हेतु से हो—इन्द्रियों के विषयो का सेवन होता ही है। मोह-जनित नाना प्रकार की चेष्टाएँ होती हैं। ये सब विकार हैं। यह सभव है कि कोई सभोग तीव्र-परिणामो से करे और कोई हल्के परिणामो से। जो तीव्र परिणामो से प्रवृत होता है वह गाढ बधन करता है और जो हल्के परिणामो से प्रवृत होता है, उसका बधन हल्का होता है।

सन्तानोत्पत्ति मे स्वधर्म पालन जैसी कोई बात नही। अपने पीछे अपना वारिस छोड जाने की भावना में मोह और अहकार ही है। अनासक्तिपूर्वक सन्तानोत्पादन करनेवाला ब्रह्मचारी ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह भी भोगी है। यदि भावो में तीव्रता नही है तो उसका बधन कठोर नही होगा। इतनी ही बात है। हेतु से दोषपूर्ण क्रिया निर्दोष नही हो सकती। अशुद्ध साधन हेतुवश—प्रयोजनवश शुद्ध नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि से एकबार के सभोग मे मनुष्य नौ लाख सूक्ष्म पंचेन्द्रिय जीवो की हिंसा करता है (भगवती २.५ और टीका)।

आचार्य हेमचन्द्र लिखते हैं

> योनियन्त्रसमुत्पन्ना सुसूक्ष्मा जन्तुराशय ।
> पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्येजत्[2]॥

प्रश्नव्याकरण सूत्र में अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध में कहा है :

"अब्रह्मचर्य चौथा पाप-द्वार है। यह कितना आश्चर्य है कि देवो से लेकर मनुष्य और असुर तक इसके लिये दीन-भिखारी बने हुए हैं।

"यह कादे और कीचड की तरह फँसानेवाला और पाश की तरह बधन-रूप है। यह तप, संयम और ब्रह्मचर्य को विघ्न करनेवाला, चारित्र-रूपी जीवन का नाश करनेवाला और अत्यन्त प्रमाद का मूल है। यह कायर और कापुरुषो द्वारा सेवित और सत्पुरुषो द्वारा त्यागा हुआ है। स्वर्ग, नरक और तिर्यक्, इन तीनो लोक का आधार—संसार की नींव और उसकी वृद्धि का कारण है। जरा-मरण, रोग-शोक की परम्परा वाला है। वध, बन्धन और मरण से भी इसकी चोट गहरी होती है। दर्शन—तत्वो मे विश्वास करने और चारित्र—सद्धर्म अङ्गीकार करने में विघ्न करनेवाले मोहनीयकर्म का हेतुभूत—कारण है। जीव ने जिस का चिर सग किया फिर भी जिससे तृप्ति नही हुई—ऐसा यह चौथा आस्रवद्वार दुरन्त और दुष्फलवाला है[3]। यह अधर्म का मूल और महा दोषो की जन्मभूमि है[4]।

"अब्रह्मचर्य-सेवन मे अल्प इन्द्रिय-सुख मिलता है परन्तु बाद में वह बहुत दुखो का हेतु होता है। यह आत्मा के लिए महा भय का कारण है। पाप-रज से भरा हुआ है। फल देने में बडा कर्कश है—दारुण है। सहस्रो वर्षों तक इसका फल नही चुकता—जीव को इसके कुफल बहुत दीर्घ काल तक भोगने पडते हैं[5]।"

अब्रह्म की यह प्रकृति सन्तानोत्पत्ति के हेतु से नही मिट सकती और वह हमेशा है जैसी ही सदोष रहेगी। श्रमण भगवान् महावीर के अनुसार सन्तानोत्पत्यर्थ किया हुआ मैथुन भी पाप है। पति-पत्नी का विषय-तृप्ति के लिए किया हुआ मैथुन लोक-निंद्य अवश्य नही है पर ज्ञानियो की दृष्टि में अपने मूल स्वरूप में वह भी पाप ही है और जिन-आज्ञा सम्मत नहीं।

१—स्त्री और पुरुष पृ० १०२

२—योगशास्त्र २ ७९

३—प्रश्नव्याकरण सूत्र : चतुर्थ आस्रव द्वार

४—दशवैकालिक सूत्र ६ १७

५—प्रश्नव्याकरण सूत्र चतुर्थ आस्रव द्वार

१२-भाई-बहिन का आदर्श

सत टॉल्स्टॉय लिखते हैं

"मनुष्य को चाहिए कि वह सयम के महत्व को समझ ले। जो सयम अविवाहित अवस्था में मनुष्य के गौरव की अनिवार्य शर्त है, वह विवाहित जीवन में इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है। विवाहित स्त्री-पुरुष वैषयिक प्रेम को शुद्ध भाई-बहिन के प्रेम मे परिणत कर दें।

"विवाह अपनी वैषयिकता को तुष्ट करने का एक साधन नही, बल्कि एक ऐसा पाप समझा जाय जिसका प्रायश्चित करना परमावश्यक है। इस पाप का इस तरह प्रायश्चित हो सकता है "पति और पत्नी दोनो विलासिता और विकार से मुक्त होने की कोशिश करें और इसमें एक दूसरे की सहायता करे, तथा आपस में उस पवित्र सम्बन्ध की स्थापना करने की भी कोशिश करें, जो भाई और बहिन के बीच होता है न कि प्रेमी और प्रेमिका के बीच[1]।"

इसी विचार को महात्मा गांधी ने भी दिया है

"विवाहित अविवाहित-सा हो जाय[2]।"

"मुझसे कहा जाता है कि यह आदर्श अशक्य है और 'तुम स्त्री-पुरुष में जो एक दूसरे के प्रति आकर्षण है, उसका खयाल नही करते।' पर जिस काम-प्रेरित आकर्षण की ओर सकेत है मैं उसे स्वाभाविक मानने से इनकार करता हूँ। वह प्रकृति-प्रेरित हो तो हमे जान लेना चाहिए कि प्रलय होने में अधिक देर नही है। स्त्री और पुरुष के बीच का सहज आकर्षण यह है जो भाई और बहिन, माँ और बेटे, बाप और बेटी के बीच होता है। ससार इसी स्वाभाविक आकर्षण पर टिका है। मैं सम्पूर्ण नारी जाति को अपनी बहिन, बेटी और माँ न मानू तो काम करना तो दूर रहे, मेरे लिए जीना भी कठिन हो जायगा। मैं उन्हें वासनाभरी दृष्टि से देखूँ तो यह नरक का सीधा रास्ता होगा[3]।" "नही मुझे अपनी सारी शक्ति के साथ कहना होगा कि काम का आकर्षण पति पत्नी के बीच भी अस्वाभाविक है। पति-पत्नी के बीच भी कामना-रहित प्रेम होना नामुमकिन नही है[4]।'

नीचे हम एक पुरानी जैन-कथा दे रहे हैं जो आज के युग में भी नये मूल्यो की प्रतिष्ठा में सहायक होगी और जो पति-पत्नी में भाई-बहिन के भाव का विचार बहुत पहले से देती आ रही है

कौशाम्बी नगरी मे धनवा सेठ का लडका विजय कुमार रहता था। एक बार उस नगरी में एक मुनि आये। विजय कुमार उनके दर्शन के लिए गया। मुनि ने दर्शन के लिए आए हुए लोगो को धर्मोपदेश दिया। विजय कुमार उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने यावज्जीवन के लिए परदार का त्याग लिया। साथ ही उसने कृष्णपक्ष में स्वदार का भी यावज्जीवन के लिए त्याग किया।

उसी नगरी में एक दूसरा सेठ धनसार था। उसकी पुत्री का नाम विजय कुमारी था। वह बडी लावण्यवती और गुणवती थी। यौवनावस्था आने पर विजय कुमार और विजय कुमारी का पाणिग्रहण हुआ। विजय कुमारी जैसी सुन्दर थी वैसा ही विजय कुमार था।

प्रथम रात्रि में विजय कुमारी विजय कुमार के पास आयी। तब कुमार बोला—"तीन दिन मेरे पास नही आना है।" कुमारी बोली—"आप इस समय मुझे किस कारण से रोकते हैं?" कुमार बोला—"मुझे कृष्णपक्ष का प्रत्याख्यान है। उसके बीतने में तीन दिन बाकी हैं।" विजय कुमारी चिन्तित होकर बोली—"मुझे शुक्लपक्ष का प्रत्याख्यान है। आप दूसरा विवाह करें।" विजय कुमार बोला—"प्रिये! सहज ही पाप से बचाव हुआ। अब्रह्म अनर्थ का मूल है। हम दोनो यावज्जीवन ब्रह्मचर्य का पालन करें।" विजय कुमारी बोली—"हम लोगो की यह बात छिपी कैसे रह सकेगी? प्रकट होने पर आपको तो विवाह करना ही पडेगा।" विजय कुमार बोला—"बात प्रकट होने पर दोनो सयम ग्रहण करेंगे और आत्म-शुद्धि के लिए युद्ध करेंगे। हम लोग अनन्त बार कामभोग भोग चुके। उनसे कभी तृप्ति नही हुई।"

पति-पत्नी दोनो साथ-साथ सामायिक पौषध करते। एक ही शय्या पर सोते और एक दूसरे को भाई बहिन की दृष्टि से देखते हुए

१—स्त्री और पुरुष पृ० ७,२६,७९

२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ६७

३—अनीति की राह पर पृ० ७०-१

४—वही पृ० ७१

असिधार व्रत का पालन करने लगे[1]। इस प्रकार बारह वर्ष का समय बीत गया।

ऐसे समय विमल मुनि नामक केवली चम्पानगरी में पधारे। उन्होने आयी हुई परिषद् को धर्मोपदेश दिया। वहाँ जिनदास नामक सेठ भी उपस्थित थे। उसने पूछा—"मैंने रात्रि मे स्वप्न में मासक्षमण के उपवासी ८४ लाख मुनिराजो को प्रतिलाभित किया। उसका क्या फल है ?" विमल केवली बोले—"सेठ ! कौशाम्बी में विजय कुमार और विजय कुमारी रहते हैं। यह दम्पति तीन करण, तीन योग मे ब्रह्मचारी है। पति-पत्नी एक ही शय्या पर शयन करते हैं और उन्हें ब्रह्मचर्य पालन करते हुए बारह वर्ष हो गये हैं। एक को कृष्णपक्ष का प्रत्याख्यान है और दूसरे को शुक्लपक्ष का। वे दोनो चरम शरीरी हैं।" यह सुनकर सब विस्मित हुए। जिनदास बोला—"मै जाकर उन्हें देखूँगा और उनकी स्तुति करूँगा।" मुनि बोले—"तुम्हारे मिलने पर वे सयम लेगे।"

जिनदास परिवार सहित कौशाम्बी पहुँच बाहर बाग में ठहरा और फिर विजय कुमार के पिता से मिलने गया। विमल केवली द्वारा कही हुई बात उससे कही। सेठ ने कुमार को बुलाकर पूछा—"अब तुम्हारी क्या इच्छा है ?" कुमार बोला—"मैंने प्रण ले रखा है कि बात प्रकट होते ही सयम लूँगा। अत सयम की अनुज्ञा दे।" पिता के आग्रह पर भी कुमार अपने निश्चय से नहीं डिगा। सेठ ने अनुमति दे दी। विजय कुमार ने प्रव्रज्या ली। विजया कुमारी भी प्रव्रजित हुई। दोनो को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और दोनो मुक्त हुए[2]।

यह कथा अनेक तरह से बोधप्रद है और विवाहित जीवन के लिए निम्नलिखित मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है

(१) लिए हुए व्रत को दृढता से निभाना चाहिए।

(२) पति-पत्नी एक दूसरे के व्रत को निभाने में सहधर्मी हो।

(३) पति-पत्नी दोनो अन्त में ऐसी अवस्था में आ जायें कि उनका सम्बन्ध भाई-बहिन का सा हो जाय।

(४) अन्त में गार्हस्थ्य से मुक्त हो दोनो पूर्ण ब्रह्मचर्य ग्रहण करें।

ईसा ने कहा है—"अपने माता-पिता, बीवी-बच्चे आदि को छोड कर मेरा अनुसरण कर।" सत टॉल्स्टॉय लिखते हैं—"स्त्री को छोडने के माने हैं, उससे पतित्व का नाता तोड देना। ससार की अन्य स्त्रियो की तरह, अपनी बहन की तरह उसे समझना[3]।"

जैन धर्म में भी कहा है—स्त्री, पुत्र, घर, सगति मित्र को छोड कर श्रामण्य (ब्रह्मचर्यवास) ग्रहण करो। इस आदर्श के उदाहरण जैन साहित्य में काफी उपलब्ध हैं। यहाँ हम जम्बूकुमार का जीवन-वृत्त देते हैं, जो इस विषय मे एक चरमकोटि का बोध-प्रद प्रसग है। यह कथा हम यहाँ स्वामीजी की ही कृति के आधार पर दे रहे हैं।

जम्बूकुमार राजगृही के रहनेवाले थ। उनके पिता का नाम ऋषभदत्त और माता का नाम धारिणी देवी था।

एक बार भगवान महावीर के पट्टधर सुधर्मा स्वामी राजगृह पधारे। जम्बूकुमार उनके दर्शन के लिए गये। सुधर्मा के उपदेश को सुन कर जम्बूकुमार का हृदय वैराग्य से ओत प्रोत हो गया। अपने माता-पिता की आज्ञा ले उन्होंने श्रामण्य ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और दर्शन कर घर की ओर लौट चले।

जब वे अपने घर के समीप पहुचे तो एक मकान गिर पडने से एक पत्थर की शिला ठीक उनके सामने आकर गिरी। उन्होने सोचा जीवन का क्या भरोसा ? प्रव्रज्या के पहले न जाने कितने विघ्न आ सकते हैं ? मुझे यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लेना चाहिए। ऐसा विचार, वे उसी समय सुधर्मा स्वामी के पास पहुचे और यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया।

इसके बाद घर लौटे और माता-पिता से प्रव्रज्या की अनुमति मांगने लगे। माता-पिता उन्हें विविध प्रकार से समझाने लगे पर जम्बूकुमार के विचार नही पलटे। आखिर में उन्होने कहा—"तुम्हारी आठ कन्याओ के साथ सगाई की जा चुकी है। हमारे कहने से इतना

१—वैराग्य मजरी : विजय सेठ विजया सेठानी को चौढालियो २ ७ :

करें समाई पोपा भेला, काई सूवे हो एक सेज मझार क।

जोवें भगिनी भ्रात ज्यू, शील पाले हो खाडेरी धार क॥

२—वैराग्य मजरी विजय सेठ विजया सेठाणी को चौढालियो पृ० २८-३४

३—स्त्री और पुरुष पृ० ६७

तो मानो कि उनके साथ विवाह कर बाद मे प्रव्रज्या लो। अगर तुम विवाह किए बिना ही संयम लोगे, तो हमें यह बात जीवन-भर अखरती रहेगी कि तुम्हारी मांगो का विवाह अन्य किसी के साथ हुआ।"

माता-पिता को अत्यन्त दुःखी और विलाप करते हुए देख जम्बूकुमार सोचने लगे—"मैंने ब्रह्मचर्य ग्रहण किया है, विवाह करने का परित्याग नही किया है। क्यो न माता-पिता की बात रख दू ? विवाह के बाद भी मैं ब्रह्मचर्य के नियम का भङ्ग नही करूँगा और दीक्षा लूँगा।"

जम्बूकुमार ने विवाह की स्वीकृति दी। माता-पिता ने बडे उमङ्ग से दिन निर्धारित किया और हर्षोत्सव मनाये जाने लगे।

जम्बूकुमार ने सोचा—"मेरे ससुरालवालो को मेरे ब्रह्मचर्य ग्रहण करने की बात मालूम नही। मेरा कर्त्तव्य है कि इस बात को प्रकट कर दूँ ताकि मेरे आठो ही सास-ससुर और ससुरालवालो को उसका पता रहे, तथा आठ कन्याओ के ध्यान मे भी यह बात आ जाय। और वे अपना कर्त्तव्य सोच सके। यदि अपने नियम की सूचना मैं उन्हें नही करता तो मेरी ओर से यह एक बहुत बडे धोखे की बात होगी।"

ऐसा विचार कर जम्बूकुमार ने दूत द्वारा आठो ससुरालो में इसकी सूचना भेज दी। समाचार पाकर आठो कन्याएँ विचार में पड गयी और फिर एकत्र हो विचार किया

"उधर ब्रह्मचर्य ग्रहण कर लिया और इधर हम सब से विवाह कर रहे हैं। मालूम होता है उनके परिणाम शिथिल हैं। यदि ब्रह्मचर्य पालन के विचार दृढ होते तो विवाह ही क्या करते ? माता-पिता के प्रेमवश उन्होने हमलोगो से पाणि-ग्रहण करना मजूर कर लिया तो हमलोगो के प्रेमवश वे सयम लेने का विचार भी छोड देंगे। यदि हम सब के प्रेम-पाश में न पड वे प्रव्रज्या ग्रहण करेंगे तो हम सब भी उनका साथ देगी। हम जम्बूकुमार के सिवा किसी के साथ विवाह नही कर सकती। यह हमलोगो के लिए युक्त नही।" इस तरह दृढ निश्चय कर सबने विवाह करने का विचार स्थिर रखा।

माता-पिता से वे बोली "आप फिकर न करें। हम विवाह करेंगी तो जबूकुमार के साथ ही। इस थोडे जीने के लिए हम अन्य किसी के साथ विवाह नही कर सकती। यदि जबूकुमार घर मे रहते हुए शील का पालन करगे तो हम भी वैसा ही करेंगी। यदि वे सयम ग्रहण करेंगे तो हम भी उनका अनुसरण कर सयम ग्रहण करेंगी। यदि वे घर में रह कर गृहवास करेंगे तो वे हमारे कत होगे और हम उनकी कामनियाँ। उनकी इच्छा है वैसा वे करें। उसी के अनुसार हम करेंगी। हमारा प्रण है कि हम जबूकुमार को छोड अन्य से विवाह नही करेंगी।"

इसके बाद आठो कन्याओ का पाणि-ग्रहण जम्बूकुमार के साथ हुआ। विवाह की रात्रि मे वे महल मे गये। देवाङ्गना सदृश आठो पत्नियाँ वहाँ उपस्थित हुईं। जबूकुमार सोचने लगे इन्होने मेरा पाणिग्रहण किया है, इसलिए इनके साथ रात बिताऊँ। इनके साथ विवाह हुआ है, इसलिए ये मेरी पत्नियां हैं और मैं इनका पति हूँ। पर मैं शुद्ध ब्रह्मचारी हूँ उस दृष्टि से ये मेरी माता और बहिन की तरह हैं। मैं इनके प्रति जरा भी दोषपूर्ण दृष्टि से नहीं देखूँगा और अपने शील मे दृढ रहूँगा। मुझ से विवाह कर ये मेरे पास आयी हैं। मेरा कर्त्तव्य है कि इन्हें भी समझा कर इनके साथ ही घर से निकलूँ जिससे मेरे साथ इनकी भी आत्मा का कल्याण हो।

> थारो सुन्दर रूप आकार, मल मूत्र नो भडार। हाड मास लोही रुध, मांय, त्यां मे रूडी वस्तु न काय॥
> अशुचि अपवित्र नो छै ठाम, या सू मूल नही म्हारे काम। रहिवो आछो नही त्यारें पास, या सू कुण करे घरवास॥
> पिण था जोड्या छ म्हा सूँ हाथ, ता हिवे गातो पूरी करू रात। परणी लेखे छै म्हांरी नार, हूँ पिण थारो भरतार॥
> पिण हूँ ब्रह्मचारी सुवमान, तिण लेखे छै मा बेन समान। तो यांसूँ माठी नजर न भालूँ, शीलव्रत चोखे चित्तपालूँ॥
> ए मोनें परणे मो पासे आई, तो आठांई नें हूँ समझाई। यां नें पिण ले निकलू लार, ज्यूँ थारोई खेवो हुवे पार[1]॥

इसके बाद जम्बूकुमार और उन सब में बडा रसप्रद वार्तालाप हुआ। वे जबूकुमार को अनेक हेतु दृष्टान्तो के द्वारा गृहवास की ओर आकर्षित करने की चेष्टा करने लगी। जम्बूकुमार वैराग्यपूर्ण हेतु दृष्टान्तो के द्वारा वैराग्य की पिचकारियाँ छोडने लगे। रात भर में उन्होने आठो ही पत्नियो को सयम के लिए तैयार कर लिया।

रात मे प्रभव नामक चोर अपने पांच सौ साथियो के साथ चोरी करने के लिए जम्बूकुमार के महल मे घुस गया था। वह दहेज मे आये हुए धन को बटोर ने लगा। तभी उसने जम्बूकुमार और उनकी नव विवाहित पत्नियो के बीच हुई बातचीत को सुना। उसका हृदय वैराग्य से प्लावित हो गया। उसने भी अपने साथियो सहित सयम ग्रहण करने का निश्चय किया। प्रात सबको लेकर जम्बूकुमार अपने माता-पिता के पास आये। यह सब देखकर उनके मन में भी वैराग्य उमड पडा और इन सब ने जम्बूकुमार के साथ दीक्षा ली।

जम्बू स्वामी आखिरी केवली थे। वे सयम का अच्छी तरह पालन कर सिद्ध बुद्ध और मुक्त हुए।

१—भिक्षु-ग्रन्थरत्नाकर (खण्ड २) ख १८ ढाल १४ गा० ४-८

१३-विवाह और जैन दृष्टि

यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैनधर्म विवाह-विधान नही देता। विवाह को अनाध्यात्मिक समझता है। जैनधर्म अब्रह्म से निवृत्ति रूप है और गार्हस्थ्य उसमें प्रवृत्ति रूप, अत. वह गार्हस्थ्य का विधान नही करता। उसका आदर्श महाव्रत है और उसमें प्रवृत्ति रूप है, इसलिए भी उसमें गार्हस्थ्य से निवृत्ति का ही विधान हो सकता है।

ईसा का विवाह सम्बन्धी दृष्टिकोण जैन प्ररूपण के बहुत समीप है। सत टॉल्स्टॉय लिखते हैं

"रति (सभोग) तथा ऐसी ही अन्य बातो में—जैसे हिसा, क्रोध आदि—मनुष्य को चाहिए कि वह कभी आदर्श को नीचा न करे और न कभी कोई रूपान्तर ही करे[1]।" "पूर्ण शुद्ध ब्रह्मचर्य आदर्श है। परमात्मा की सेवा करनेवाला विवाह की उतनी ही इच्छा करेगा, जितनी शराब पीने की। पर शुद्ध ब्रह्मचर्य के राजमार्ग में कई मञ्जिलें हैं। यदि कोई पूछे कि हम विवाह करे या नही, तो उसे केवल यही उत्तर दिया जा सकता है कि यदि आपको ब्रह्मचर्य के आदर्श का दर्शन नही हो पाया हो, तो ख्वामख्वाह उसके सामने अपना सिर न झुकाओ। हाँ, वैवाहिक जीवन में विषयो का उपभोग करते हुए धीरे-धीरे उस आदर्श की ओर बढो। यदि मैं ऊँचा हूँ और दूर की इमारत को देख सकता हूँ और मुझसे छोटे कदवाला मेरा साथी उसे नही देख पाता, तो मैं उसे उसी दिशा में कोई नजदीकवाली वस्तु दिखा कर उद्दिष्ट स्थान की कल्पना कराऊँगा। उसी प्रकार जो लोग सुदूरवर्ती ब्रह्मचर्य के आदर्श को नही देख पाते, उनके लिए ईमानदारी के साथ विवाह करना उस दिशा की एक पास की मजिल है। पर यह मेरी और आपकी बतायी मजिल है। स्वय ईसा तो सिवा ब्रह्मचर्य के और किसी आदर्श को न तो बता सकते थे और न उन्होने बताया ही है[2]।

"धर्म-ग्रन्थ में विवाह की आज्ञा नहीं है। उसमें तो विवाह का निषेध ही है। अनीति, विलास तथा अनेक स्त्री-सभोग की कडे-से-कडे शब्दो मे निन्दा अलबत्ते की गयी है। विवाह-संस्था का तो उसमें उल्लेख भी नहीं है[3]।

"ईसाई धर्म के अनुसार न तो कभी विवाह हुआ है और न हो ही सकता है, क्योकि धर्म विवाह की आज्ञा नही करता, ठीक उसी तरह जैसे कि धन सचय करने का भी आदेश नही करता। हाँ, इन दोनो का सदुपयोग करने पर अलबत्ता वह जोर देता है[4]।"

वैदिक सस्कृति में गार्हस्थ्य ही प्रधान रहा। क्योकि वेदो के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम विद्याकाल रहा और उसके बाद गार्हस्थ्य आरभ होता जो जीवन के अन्त तक रहता। उपनिषद्-काल में वानप्रस्थ और बाद मे स्मृतिकाल मे सन्यास पल्लवित हुआ, फिर भी गार्हस्थ्य आश्रम ही धन्य कहा जाता रहा। ऐसी स्थिति में विवाह-संस्था का वैदिक सस्कृति में मुख्यत्व रहा है और वैदिक सस्कृति के क्रियाकाण्ड में सन्तान का प्रजनन आवश्यक होने से विवाह और प्रजनन के भी आदेश वेद जैसे धर्म ग्रंथो में उपलब्ध हैं।

एक बार महात्मा गांधी से पूछा गया—"क्या आप विवाह के विरुद्ध हैं ?" उन्होने उत्तर दिया—"मनुष्य जीवन का सार्थक्य मोक्ष है। हिन्दू के तौर पर मैं मानता हूँ कि मोक्ष अर्थात् जीवन-मरण की घट-माल से मुक्ति—ईश्वर-साक्षात्कार। मोक्ष के लिए शरीर के बन्धन टूटने चाहिएँ। शरीर के बन्धन तोडनेवाली हरएक वस्तु पथ्य और दूसरी अपथ्य है। विवाह बन्धन तोडने के बदले उसे उलटा अधिक जकड लेता है। ब्रह्मचर्य ही ऐसी वस्तु है जो कि मनुष्य के बन्धन मर्यादित कर ईश्वरार्पित जीवन बिताने मे उसे शक्तिमान करता है। विवाह में तो सामान्य रूप से विषय-वासना की तृप्ति का ही हेतु रहा हुआ है। इसका परिणाम शुभ नहीं। ब्रह्मचर्य के परिणाम सुन्दर हैं[5]।"

जैन दृष्टि का स्पष्टीकरण करते हुए प० सुखलालजी एव बेचरदासजी लिखते हैं—"जीवन में गृहस्थाश्रम रागद्वेष के प्रसगो के विधान का केन्द्र है। इससे जिस धर्म में गृहस्थाश्रम का विधान किया गया है, वह प्रवृत्तिधर्म और जिस धर्म मे गृहस्थाश्रम का नही पर मात्र त्याग का विधान है, वह निवृत्तिधर्म है। जैन धर्म निवृत्तिधर्म होने पर भी उसके पालन करनेवालो मे जो गृहस्थाश्रम का विभाग देखा जाता है, वह निवृत्ति की अपूर्णता के कारण है। सर्वांश में निवृत्ति प्राप्त करने में असमर्थ व्यक्ति जितने-जितने अशो में निवृत्ति का सेवन करता है उतने-उतने अशों में वह जैन है। जिन अशो में निवृत्ति का सेवन न कर सके, उन अशो मे अपनी परिस्थिति अनुसार विवेकदृष्टि से वह प्रवृत्ति की रचना कर ले, पर इस प्रवृत्ति का विधान जैन शास्त्र नहीं करता। उसका विधान तो मात्र निवृत्ति का है। इससे जैन धर्म को विधान की दृष्टि से एकाश्रमी कहा जा सकता है। वह एकाश्रम याने ब्रह्मचर्य और सन्यास आश्रम का एकीकरणरूप त्याग का आश्रम[6]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ४१ २—वही पृ० ४७ ३—वही पृ० ७७
४—वही पृ० ७६ ५—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८२-८३ ६—जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्यविचार पृ० ?

१४-ब्रह्मचर्य के विषय में दो बड़ी शंकाएँ

ब्रह्मचर्य के विषय मे प्राय दो शंकाएँ सामने आती हैं—(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नही ? और (२) उसके पालन से क्या मनुष्य-जाति का नाश नही हो जायगा ? इन दोनो का निराकरण नीचे दिया गया है

(१) क्या ब्रह्मचर्य अव्यावहारिक नहीं ?

इस प्रश्न पर टाल्स्टॉय ने बड़े अच्छे ढग से विचार किया है। उन्होने कहा है :

"कुछ लोगो को ब्रह्मचर्य के विचार विचित्र और विपरीत मालूम होंगे, और सचमुच विपरीत हैं भी। किन्तु अपने प्रति नही, हमारे वर्तमान जीवन-क्रम के एकदम विपरीत हैं।

"लोग कहेंगे—ये तो सिद्धान्त की बातें हैं। भले ही वे सच्ची हो तो भी हैं वे आखिर उपदेश। ये आदर्श अप्राप्य हैं। ये ससार में हमारा हाथ पकडकर नही ले जा सकते। ये प्रत्यक्ष जीवन के लिए एकदम निरुपयोगी हैं इत्यादि-इत्यादि।

"दिक्कत यही है कि अपनी कमजोरी से मेल बैठाने के लिए आदर्श को ढीला करते ही यह नही सूझ पडता है कि कहाँ ठहरा जाय ?

"यदि एक जहाज का कप्तान कहे कि मैं कम्पास द्वारा बतायी जानेवाली दिशा मे ही नही जा सकता, इसलिए मै उसे उठाकर समुद्र मे डाल दूँगा, उसकी तरफ देखना ही बन्द कर दूँगा या मै कम्पास की सुई को पकड कर उस दिशा मे बाँध दूँगा, जिधर मेरा जहाज जा रहा है (अर्थात् अपनी कमजोरी तक आदर्श को नीचे खीच लूँगा), तो निस्सन्देह वेवकूफ़ कहा जायगा।

"नाविक का अपने कम्पास अर्थात् दिशा दर्शक यन्त्र मे विश्वास करना जितना आवश्यक है, उतना ही मनुष्य का इन उपदेशो में विश्वास करना भी है। मनुष्य चाहे किसी परिस्थिति मे क्यो न हो, आदर्श का उपदेश उसे यह निश्चित रूप से बताने के लिए सदा उपयोगी होगा कि उस मनुष्य को क्या-क्या बातें नही करनी चाहिएँ ? पर चाहिए उस उपदेश मे पूरा विश्वास, अनन्य श्रद्धा। जिस प्रकार जहाज का मल्लाह या कप्तान उस कम्पास को छोड दायें-बायें आनेवाली और किसी चीज का खयाल नही करता उसी प्रकार मनुष्य को भी इन उपदेशो मे पूरी श्रद्धा रखनी चाहिए।

"बतलाये हुए आदर्शो से हम कितने दूर हैं, यह जानने से मनुष्य को कभी डरना न चाहिए। मनुष्य किसी भी सतह पर या किसी भी हालत मे क्यो न हो, वहाँ से वह बराबर आदर्श की तरफ बढ सकता है। साथ ही वह कितना ही आगे क्यो न बढ जाये, वह कभी यह नही कह सकता कि अब मैं ठेठ तक पहुँच गया या अब आगे बढने के लिए कोई मार्ग ही न रहा।

"आदर्श के प्रति और खासकर ब्रह्मचर्य के प्रति मनुष्य की यह वृत्ति होनी चाहिए।

"यह सत्य नही कि आदर्श के ऊँचे, पूर्ण और दुरूह होने के कारण हमे अपने मार्ग मे आगे बढ़ने मे कोई सहायता नही मिलती। हमें उससे प्रेरणा और स्फूर्ति इसलिए नही मिलती कि हम अपने प्रति असत्य आचरण करके अपने आपको धोखा देते हैं।

"हम अपने आपको समझाते हैं कि हमारे लिए अधिक व्यावहारिक नियमो का होना जरूरी है, क्योकि ऐसा न होने पर हम अपने आदर्श से गिरकर पाप मे पड जायेंगे। इसके स्पष्ट मानी यह नही कि आदर्श बहुत ऊँचा है, बल्कि हमारा मतलब यह है कि हम उसमे विश्वास नही करते और न उसके अनुसार अपने जीवन का नियमन ही करना चाहते हैं।

"लोग कहते हैं, मनुष्य स्वभावत अपूर्ण है। उसे वही काम दिया जाये, जो उसकी शक्ति के अनुसार हो। इसके मानी तो यही हुए कि मेरा हाथ कमजोर होने से मै सीधी रेखा नही खीच सकता, इसलिए सीधी रेखा खीचने के लिए मेरे सामने टेढी या टूटी लकीर का ही नमूना रखा जाय। पर बात यह है कि मेरा हाथ जितना ही कमजोर हो, बस, उतना ही पूर्ण नमूना मेरे सामने होना आवश्यक है।

"किनारे के नजदीक से होकर चलनेवाले जहाज के लिए यह भले ही कहा जा सकता है कि उस सीधी-ऊँची चट्टान के नजदीक से होकर चलो, उस अन्तरीप के पास से उस मीनार के बायें होकर चले चलो। पर अब तो हमने जमीन को बहुत दूर पीछे छोड दिया। अब तो नक्षत्रो और दिशा-दर्शक-यन्त्र की सहायता से ही हमे अपना रास्ता ढूँढना होगा और ये दोनो हमारे पास मौजूद हैं[1]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० २० से २८ तक का सार

(२) क्या ब्रह्मचर्य से मनुष्य जाति नाश को प्राप्त न हो जायेगी ?

इस प्रश्न का भी उत्तर टॉल्स्टॉय ने अतीव सुन्दर-ढग से इस प्रकार दिया है

"लोग पूछते हैं—यदि ब्रह्मचर्य विषयोपभोग की अपेक्षा श्रेष्ठ है, तो यह स्पष्ट है कि मनुष्य को श्रेष्ठमार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। पर यदि वे ऐसा करें तो मनुष्य-जाति नष्ट न हो जायगी ?

"किन्तु पृथ्वीतल से मनुष्य-जाति के मिट जाने का डर कोई नवीन बात नही है। धार्मिक लोग इस पर बडी श्रद्धा रखते हैं और वैज्ञानिको के लिए सूर्य के ठण्डे होने के बाद यह एक अनिवार्य बात है।

"इस तरह की दलील पेश करनेवालो के दिमाग में नीति नियम और आदर्श का भेद स्पष्ट नही है।

"ब्रह्मचर्य कोई उपदेश अथवा नियम नही, वह तो आदर्श अथवा आदर्शों की शर्तों मे से एक है। आदर्श तो तभी आदर्श कहा जा सकता है जब उसकी प्राप्ति कल्पना द्वारा ही सम्भव हो, जब उसकी प्राप्ति अनन्त की 'आड' में छिपी हो। और इसलिए उसके पास जाने की सभावना भी अनन्त हैं। यदि आदर्श प्राप्त हो जाये, अथवा हम उसकी प्राप्ति की कल्पना भी कर सके, तो वह आदर्श ही नही रहा।

"पृथ्वी पर परमात्मा के राज्य की अर्थात् स्वर्ग की स्थापना करने का आदर्श ऐसा ही था। अत इस उच्च आदर्श की पूर्णता की तरफ कदम बढाने और ब्रह्मचर्य को उस आदर्श का एक अङ्ग मानकर चलने से जीवन का विनाश सभव नही, बल्कि उसके विपरीत बात तो यह ठीक है कि इस आदर्श का अभाव ही हमारी प्रगति के लिए हानिकारक और इसलिए सच्चे जीवन के लिए घातक होगा।

"जीवन कलह को छोडकर यदि हम मित्र-शत्रु, प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम-धर्म के आदेश के अनुसार रहने लग जाय, तो क्या मनुष्य जाति नष्ट हो जायगी ? प्रेम-धर्म के पालन से मनुष्य-जाति के विनाश का सन्देह करने के समान ही ब्रह्मचर्य के पालन से मनुष्य-जाति का विनाश होने की शका करना है[1]।

"पूर्णता को प्राप्त करने की कुजी है ब्रह्मचर्य। ''' यदि मनुष्य सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करने लग जाय, तो मानव-जाति का जीवनोद्देश्य ही सफल हो जाय। फिर मनुष्य के लिए पैदा होने और जीने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाय[2]।"

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया—"आप तो ब्रह्मचर्य का सबके लिए ही आग्रह करते होंगे?" उन्होने उत्तर दिया—"हां, सबके लिए।" प्रश्नकर्ता ने कहा—"तब तो ससार मिट जायगा ?" महात्माजी बोले—"नही, ससार नहीं मिटेगा। ऐसी आदर्श स्थिति हो जाय तो सब मोक्षेच्छुओ का ही समाज होकर रहे—मनुष्य मनुष्य न रहे, पर अतिमानव होकर खडे रहें[3]।"

१५-क्या ब्रह्मचर्य एक आदर्श है ?

सत टॉल्स्टॉय सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य को एक आदर्श और शरीरधारी द्वारा अप्राप्य मानते हैं। उनके विचार इस प्रकार हैं -

"इस बात को कभी न भूल कि तू न तो कभी पूर्णत ब्रह्मचारी रहा है और न रह सकता है। हां, तो उसके नजदीक जरूर पहुँच सकता है, और इस प्रयत्न मे कभी निराशा न होनी चाहिए[4]।

"सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य को नही, पर इसके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुँचने को ध्येय मानकर अपना बढना शुरु कीजिए। सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य तो एक आदर्श सृष्टि की वस्तु है। सच-सच कहा जाय तो शरीरधारी मनुष्य उसे कभी प्राप्त नही कर सकता। वह तो केवल उस तरफ बढने का प्रयत्न मात्र कर सकता है क्योकि वह ब्रह्मचारी नही, विकारपूर्ण है। यदि आदमी विकारपूर्ण नही होता, तो उसके लिए न तो ब्रह्मचर्य के आदर्श की और न उसकी कल्पना ही की आवश्यकता होती। गलती तो यह है कि मनुष्य अपने सामने सम्पूर्ण (बाह्य—शारीरिक) ब्रह्मचर्य का आदर्श रखता है, न कि उसके लिए प्रयत्न करने का। प्रयत्न में एक बात गृहीत समझी जाती है--यह कि हर हालत मे और हमेशा ब्रह्मचर्य विकारवशता से श्रेष्ठ है। सदा अधिकाधिक पवित्रता को प्राप्त करना मनुष्य का धर्म है[5]।"

१—स्त्री और पुरुष पृ० ११ से १३ तक का सार
२—वही पृ० ४७
३—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८२
४—स्त्री और पुरुष पृ० ४६
५—वही पृ० ४६-७

महात्मा गांधी ने कहा है

"ब्रह्मचर्य का मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार। पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए कुछ भी अशक्य नहीं। पर यह आदर्श स्थिति है जिस तक विरले ही पहुँच पाते हैं। इसे ज्यामिति की रेखा कह सकते हैं, जिसका अस्तित्व केवल कल्पना में होता है, दृश्य रूप में कभी खींची ही नहीं जा सकती। फिर भी रेखागणित की यह एक महत्त्वपूर्ण परिभाषा है जिससे बड़े-बड़े नतीजे निकलते हैं। इसी तरह हो सकता है, पूर्ण ब्रह्मचारी भी केवल कल्पना जगत में ही मिल सकता हो। फिर भी अगर हम इस आदर्श को सदा अपने मानस-नेत्रों के सामने न रखें तो हमारी दशा बिना पतवार की नाव जैसी हो जायगी। ज्यों-ज्यों हम इस काल्पनिक स्थिति के पास पहुँचेंगे त्यों-त्यों अधिकाधिक पूर्णता प्राप्त करते जायगे[1]।"

ऐसा लगता है जैसे सन्त टाल्स्टॉय और महात्मा गांधी एक ही विचार के हों पर दोनों में अन्तर है।

महात्मा गांधी आदर्श ब्रह्मचर्य को प्राप्य और उसका अखण्ड पालन सम्भव मानते थे और इस बात में सन्त टॉल्स्टॉय से भिन्न मत रखते थे, यह बात निम्न प्रसंग से स्पष्ट होगी। एक बार उनसे पूछा गया—"ब्रह्मचर्य के मानी क्या है? क्या उसका पूर्ण पालन शक्य है? और है तो क्या आप उसका पालन करते हैं?" उनका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया था—"ब्रह्मचर्य का पूरा और सच्चा अर्थ है—ब्रह्मचर्य की खोज। ब्रह्म सब में बसता है, इसलिए वह खोज अन्तर्ध्यान और उससे उपजनेवाले अन्तर्ज्ञान के सहारे होती है। अन्तर्ज्ञान इन्द्रियों के सम्पूर्ण संयम के बिना असाध्य है अतः मन, वाणी और काया से सम्पूर्ण इन्द्रियों का सदा सब विषयों में संयम ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन करनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। ऐसा ब्रह्मचर्य कायमनोवाक्य से अखण्ड पालन हो सकनेवाली बात है, इस विषय में मुझे तिल भर भी शंका नहीं, इस सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नहीं पहुँच सका हूँ। और इस देह में ही वह स्थिति प्राप्त करने की आशा भी मैंने नहीं छोड़ी है[2]।"

जैन धर्म के अनुसार संसारी जीव भिन्न-भिन्न प्रकृति (स्वभाव) के कर्मों से बंधा हुआ है। इनमें से एक कर्म मोहनीय कहलाता है। जिस तरह मदिरा-पान से मनुष्य अपने भान को भूल जाता है, वैसे ही मोहनीय कर्म के कारण वह मतवाला—मूढ़ होता है। इस मोहनीय कर्म के दो भेद हैं—(१) दर्शन-मोहनीय और (२) चारित्र-मोहनीय। दर्शन-मोहनीय कर्म का उदय शुद्ध दृष्टि—श्रद्धा को आवरित करता है, उसे प्रकट नहीं होने देता। इससे धर्म में श्रद्धा—विश्वास—रुचि उत्पन्न नहीं होती। चारित्र मोहनीय का उदय चारित्र उत्पन्न नहीं होने देता। वह धर्म को जीवन में नहीं उतरने देता। इसके उदय से कषाय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद (पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा), पुरुष वेद (स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा) और नपुंसक वेद (स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा) उत्पन्न होते हैं। जैन धर्म मानता है कि इस मोहनीय कर्म का सर्वक्षय मनुष्य-जीवन में सम्भव है। इसका अर्थ है दृष्टि और चारित्र की परिपूर्णता का होना। इस स्थिति में ब्रह्मचर्य आदि चारित्र गुण पूर्ण शुद्धता के साथ प्रकट होते हैं। इस तरह जैन धर्म ब्रह्मचर्य का उसके सम्पूर्ण रूप में पालन सम्भव मानता है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र (संवरद्वार च० स०) में कहा है—"ब्रह्मचर्य सरल साधु पुरुषों द्वारा आचरित है (अज्ज्वसाहुजणाचरित), श्रेष्ठ यतियों द्वारा सुरक्षित और सु-आचरित है (जतिवरसारक्खित सुचरिय), महा पुरुष, धीर, वीर, धार्मिक और धृतिवान् पुरुषों ने इसका सेवन किया है (महापुरिसधीरसूरधम्मियधितिमताण य), भव्य जनों से अनुचीर्ण है (भव्वजणाणुचिन्न)—अतः जब तक मनुष्य श्वेत अस्थियों से संयुक्त है, उसे सर्वथा विशुद्ध ब्रह्मचर्य का यावज्जीवन के लिए पालन करना चाहिए।" इस महाव्रत को इसकी भावना के साथ पालन करनेवाले के द्वारा यह ब्रह्मचर्य स्पर्शित, पालित, शोधित, तीर्ण, कीर्तित, आज्ञानुसार अनुपालित होता है—ऐसा वहाँ कहा गया है। यह सर्व मैथुन-विरमण रूप ब्रह्मचर्य की बात है। सम्पूर्ण संयम रूप ब्रह्मचर्य को भी वह प्राप्य और उसका पालन सम्भव मानता है—"क्लीव के लिए यह अप्राप्य है। जो तृष्णा रहित है उनके लिए दुष्कर नहीं"—'इह लोए निप्पिवासस्स नत्थि किंचिवि दुक्करं'[3]।

ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य केवल काल्पनिक आदर्श नहीं, वह सम्पूर्ण साध्य है। अतीत में लोगों ने इसका पालन किया है, वर्तमान में करते हैं और भविष्य में भी करेंगे।

१—अनीति की राह पर पृ० ५०

२—वही पृ० ५६

३—उत्तराध्ययन १६.४४

१६-ब्रह्मचर्य स्वतंत्र सिद्धान्त है या उपसिद्धान्त

गांधीजी लिखते हैं—"पतंजलि भगवान के पांच महाव्रतो में से'' ' चार तो सत्य मे छिपे हुए हैं। ' '' सब व्रत सत्य के पालन में से निकाले जा सकते हैं। तो भी एक सबसे वडे सिद्धान्त को समझने के लिए अनेक उप-सिद्धान्त जानने पड़ते हैं[१]।" "वास्तव में देखने पर तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसके लिए उनका अस्तित्व है[२]।"

उन्होने अन्यत्र कहा है—"अहिंसा को हम साधन मानें, सत्य को साध्य। हम एक ही मन्त्र जपें—जो सत्य है वही है। वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग, एक ही साधन, अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ूगा[३]।"

उन्होने फिर कहा है—"अहिंसा के पालन को लें उसका पूरा पालन ब्रह्मचर्य के विना असाध्य है। अहिंसा व्रत का पालन करने वाले से विवाह नही बन सकता; विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या[४]?" इसी तरह "जिस मनुष्य ने सत्य को वरा है उसकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन जाता है[५]।"

महात्मा गांधी के कहने के अनुसार "परम सत्य अकेला खडा रहता है। सत्य साध्य है, अहिंसा एक साधन है[६]।" अन्य व्रत अहिंसा के रक्षक हैं और इसके द्वारा सत्य के गर्भ मे रहते हैं।

उनके कहने का तात्पर्य है—'सत्य की उपासना करो'—यही विशाल सिद्धांत है। इस सिद्धांत में से अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतो की उत्पत्ति है।

संत टॉल्स्टॉय इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखते हैं :

"ईसा ने कहा है—"अपने स्वर्गस्थ पिता के समान पूर्ण बन"—यह आदर्श है।

"जिस प्रकार पथिक को रास्ता बताने के दो मार्ग होते हैं, उसी प्रकार सत्य की शोध करनेवाले के लिए भी नैतिक जीवन का मार्ग दिखानेवाले केवल दो ही उपाय हैं। एक उपाय के द्वारा पथिक को उसके रास्ते में मिलनेवाले चिन्हो और निशानो की सूचना दी जाती है, जिनको देख कर वह अपना रास्ता ढूँढता चला जाये, और दूसरे के द्वारा उसको अपने पासवाले दिशा-दर्शक कम्पास की भाषा मे रास्ता समझाया जाता है।

"नैतिक मार्ग-दर्शक पहले उपाय के अनुसार मनुष्य को बाहरी नियम बताते हैं। उसे क्या करना चाहिए और क्या नही, इसका साधारण ज्ञान दिया जाता है—मसलन सत्य का पालन कर, चोरी मत कर, किसी प्राणी की हत्या न कर, इत्यादि इत्यादि। धर्म के ये बाहरी नीति-नियम हैं और किसी-न-किसी रूप में ये प्रत्येक धर्म में पाये जाते हैं।

"मनुष्य को नीति की ओर ले जाने का दूसरा उपाय वह है, जो उस पूर्णता की ओर इशारा करता है, जिसे आदमी कभी प्राप्त ही नही कर सकता। हाँ, उसके 'हृदय' में यह आकांक्षा जरूर रहती है कि वह इस पूर्णता को प्राप्त करे। एक आदर्श बता दिया जाता है, उसको देख कर मनुष्य अपनी कमजोरी या अपूर्णता का अन्दाज लगा सकता है और उसे दूर करने का प्रयत्न करता रहता है।

"बाह्य नियमो का जो मनुष्य पालन करता है, वह उस मनुष्य के समान है, जो खम्भे पर लगी हुई लालटेन के प्रकाश मे खडा हो। वह प्रकाश मे खडा है, प्रकाश उसके चारो ओर है, पर उसके आगे बढने के लिए मार्ग नही है। उपदेशो पर जिसका विश्वास है, वह उस मनुष्य के समान है, जिसके आगे-आगे लालटेन चलती है। प्रकाश हमेशा उसके सामने ही रहता है और उसे बराबर अपना अनुसरण करते हुये आगे बढते जाने की प्रेरणा करता रहता है। वह बराबर नये-नये दृश्यो को आकर्षित करता रहता है।...एक सीढी पर चढते ही दूसरी पर पैर रखने की

१—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ५३

२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

३—सप्त महाव्रत अहिंसा पृ० ८

४—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

५—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ४

६—सप्त महाव्रत पृ० १६-२०

आवश्यकता हो जाती। दूसरी पर पहुँचते ही तीसरी सीढ़ी दीखने लग जाती है। इस तरह वह आगे ही आगे बढ़ता जाता है। उसकी प्रगति का चरम स्थान है[1]।'

जैन धर्म के अनुसार मोक्ष साध्य है और अहिंसा उसका साधन। सर्व महाव्रत अहिंसा को पाने के लिए हैं और अहिंसा का महाव्रत मोक्ष को पाने के लिए। इस बात को आचार्यों ने इस रूप में रखा है

"व्रत एक ही है। सब जिनवरों ने एक ही व्रत निर्दिष्ट किया है और वह है पाणातिपात विरमण व्रत। अन्य सब व्रत उसकी रक्षा के लिए हैं[2]।" "अहिंसा ही मुख्य है। सत्यादि के पालन का विधान उसके संरक्षण के लिए है[3]।" "अहिंसा धान की तरह है। सत्यादि व्रत उसके संरक्षण के लिए बाड़ों की तरह हैं[4]।" "अहिंसा जल है। अन्य व्रत उसके बांध की तरह[5]।"

इस तरह जैन धर्म के अनुसार ब्रह्मचर्य अहिंसा से निकलता है और उसमें गर्भित है।

प्रश्नव्याकरण सूत्र में सत्य को ईश्वर कहा है[6]। वहीं कहा है—"सत्य ही लोक में सारभूत है[7]।' आचाराङ्ग सूत्र में कहा है "पुरुष! सत्य की आराधना कर। सत्य की आज्ञा में उपस्थित मेधावी मौत को तर जाता है[8]।" आचाराङ्ग में ही कहा है—"सत्य में धृति कर[9]।"

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—"आत्मा के द्वारा सत्य की गवेषणा कर[10]।" यह सत्य क्या है? यह सत्य कोई वाचा सत्य नहीं। यह सत्य कोई ऐसा साध्य है जो सब से इष्ट है—आत्मा का सब से बड़ा श्रेयस् है। यह और कुछ नहीं, आत्मा का शुद्ध स्वरूप अथवा मोक्ष है।

सत्य की खोज के उपाय को बताते हुए कहा है—"सर्व भूतों से मैत्री कर[11]।" मैत्री का अर्थ है अद्रोह-भाव याने हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह से विरत होना। इस तरह सत्य—आत्म-स्वरूप—मोक्ष की गवेषणा अहिंसा आदि से होती है। सत्य—मोक्ष साध्य है और अहिंसा और उसके उपसिद्धान्त ब्रह्मचर्यादि साधन हैं।

इस तरह जैन दृष्टि से ब्रह्मचर्य अहिंसा के गर्भ में समाता है। उसकी पुष्टि के द्वारा वह मोक्ष का द्वार है।

१—स्त्री और पुरुष पृ० १३-१५ का सार

२—एक्कं चिय एक्कवयं निद्दिट्टं जिणवरेहिं सव्वेहिं।
पाणाइवाय विरमण—सव्वासत्तस्स रक्खट्ठा ॥

३—अहिंसैषा मता मुख्या, स्वर्गमोक्षप्रसाधनी।
एतत्संरक्षणार्थं च न्याय्यं सत्यादिपालनम् ॥

४—अहिंसा शस्य-संरक्षणे वृत्तिकल्पत्वात् सत्यादिव्रतानाम्।

५—अहिंसा पयसः पालिः—भूतान्यन्यव्रतानि यत् ॥

६—द्वितीय संवर द्वार
सच्चं भगवं

७—वही
जं तं लोगम्मि सारभूयं

८—आचाराङ्ग १।३.३ ११२
पुरिसा सच्चमेव समभिजाणाहि, सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ

९—वही १।२।१ ७
सच्चम्मि धिइं कुव्वहा

१०—उत्तराध्ययन ६ २
अप्पणा सच्चमेसेज्जा

११—(क) उत्तराध्ययन ६ २
अप्पणा सच्चमेसेज्जा, मेत्तिं भूएसु कप्पए
(ख) सूत्रकृताङ्ग १ १५ ३
सया सच्चेण संपन्ने, मेत्तिं भूएहिं कप्पए

१७-ब्रह्मचर्य की दो स्तुतियाँ

(क) वैदिक स्तुति

अथर्ववेद (११।५) मे निम्न सूक्त मिलता है

"आकाश-पृथ्वी दोनो लोको को तप से व्याप्त करनेवाले ब्रह्मचारी के प्रति सब देवता समान मनवाले होते हैं। वह अपने तप से आकाश का पोषण करता है और अपने आचार्य का भी पोषण करता है॥ १॥

"ब्रह्मचारी के रक्षार्थ पितर, देवता, इन्द्रादि उसके अनुगत होते हैं। गिरआवसु आदि भी उसके पीछे चलते हैं। तैंतीस देवता, इनकी विभूति रूप तीन सौ तीन देवता और छ सहस्र देवता, इन सबका ब्रह्मचारी अपने तप द्वारा पोषण करता है॥ २॥

"उपनयन करनेवाला आचार्य, विद्यामय शरीर के गर्भ में उसे स्थापित करता हुआ तीन रात तक ब्रह्मचारी को अपने उदर में रखता है, चौथे दिन देवगण उस विद्या-देह से उत्पन्न ब्रह्मचारी के सम्मुख आते हैं॥ ३॥

"पृथ्वी उस ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है और आकाश द्वितीय समिधा। आकाश-पृथ्वी के मध्य अग्नि मे स्थापित हुई समिधा से ब्रह्मचारी संसार को संतुष्ट करता है। इस प्रकार समिधा, मेखला, मौञ्जी, श्रम, इन्द्रियनिग्रहात्मक खेद और देह को सताप देनेवाले अन्य नियमो को पालता हुआ पृथिव्यादि लोको का पोषण करता है॥ ४॥

"ब्रह्मचारी ब्रह्म से भी पहले प्रकट हुआ, वह तेजोमय रूप धारण कर तप से युक्त हुआ। उस ब्रह्मचारी रूप से तपते हुए ब्रह्म द्वारा श्रेष्ठ वेदात्मक ब्रह्म प्रकट हुआ और उसके द्वारा प्रतिपादित अग्नि आदि देवता भी अपने अमृतत्व आदि गुणो के सहित प्रकट हुए॥५॥

"प्रात साय अग्नि में रखी समिधा और उससे उत्पन्न हुए तेज से तेजस्वी, मृग चर्मधारी ब्रह्मचारी अपने भिक्षादि नियमो का पालन करता है, वह शीघ्र ही पूर्व समुद्र से उत्तर समुद्र पर पहुँचता है और सब लोको को अपने समक्ष करता है॥६॥

"ब्रह्मचर्य से महिमा युक्त ब्रह्मचारी ब्राह्मण जाति को उत्पन्न करता है। वही गगा आदि नदियो को प्रकट करता है। स्वर्ग, प्रजापति, परमेष्ठी और विराट् को उत्पन्न करता है। वह अमरणशील ब्रह्म की सत्-रज-तम गुण से युक्त प्रकृति में गर्भ रूप होकर सब वर्णन किये हुए प्राणियो को प्रकट करता है और इन्द्र होकर राक्षसो का नाश करता है॥७॥

"यह आकाश और पृथिवी विशाल हैं। इन पृथिवी और आकाश के उत्पादक आचार्य की भी ब्रह्मचारी रक्षा करता है। सब देवता ऐसे ब्रह्मचारी पर कृपा रखते हैं॥८॥

"पृथिवी और आकाश को ब्रह्मचारी ने भिक्षा रूप मे ग्रहण किया, फिर उसने उन आकाश पृथिवी को समिधा बनाकर अग्नि की आराधना की। ससार के सब प्राणी उन्ही आकाश-पृथिवी के आश्रय में रहते हैं॥९॥

"पृथिवी लोक मे आचार्य के हृदय रूप गुहा में एक वेदात्मक निधि है। दूसरी देवात्मक निधि उपरि स्थान मे है। ब्रह्मचारी इन निधियो की अपने तप से रक्षा करता है। वेदविद् ब्राह्मण शब्द और उसके अर्थ से सम्बन्धित दोनो निधियो को ब्रह्म रूप करता है॥१०॥

"उदय न हुआ सूर्य रूप अग्नि पृथ्वी से नीचे रहते हैं। पार्थिव अग्नि पृथ्वी पर रहते हैं। सूर्योदय होने पर आकाश पृथ्वी के मध्य यह दोनो अग्नियाँ सयुक्त होती हैं। दोनो की किरणे सयुक्त होकर दृढ होती हुई आकाश-पृथिवी की आश्रित होती हैं। इन दोनो अग्नियो से सम्पन्न ब्रह्मचारी अपने तेज से अग्नि देवता होता है॥११॥

"जल पूर्ण मेघ को प्राप्त हुये वरुण देव अपने वीर्य को पृथ्वी में सीचते हैं। ब्रह्मचारी अपने तेज से उस वरुणात्मक वीर्य को ऊँचे प्रदेश मे सीचता है। उससे चारो दिशायें समृद्ध होती हैं॥१२॥

"ब्रह्मचारी, पार्थिव अग्नि में चन्द्रमा, सूर्य, वायु और जल मे समिधायें डालता है। इन अग्नि आदि का तेज पृथक्-पृथक् रूप से अन्तरिक्ष में रहता है। ब्रह्मचारी द्वारा समिद्ध अग्नि वर्षा, जल, घृत, प्रजा आदि कार्य को करते हैं॥१३॥

"आचार्य ही मृत्यु है, वही वरुण है, वही सोम है। दुग्ध, व्रीहि, यव और औषधियाँ आचार्य की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। अथवा यह स्वय ही आचार्य हो गए हैं॥१४॥

"आचार्य रूप से वरुण ने जिस जल को अपने पास रखा, वही वरुण प्रजापति से जो फल चाहते थे, वही मित्र ने ब्रह्मचारी होकर आचार्य को दक्षिणारूप से दिया ॥१५॥

"विद्या का उपदेश देकर आचार्य ब्रह्मचारीरूप से प्राप्त हुये हैं। वही तप से महिमावान् हुए, प्रजापति बने। प्रजापति से विराट् होने पर वही विश्व के स्रष्टा परमात्मा हो गये ॥१६॥

"वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिये आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। उसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राज्य को पुष्ट करता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता है ॥१७॥

"जिसका विवाह नहीं हुआ है ऐसी, स्त्री ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ पति प्राप्त करती है। अनड्वान् आदि भी ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ स्वामी को प्राप्त करते हैं। अश्व ब्रह्मचर्य से ही भक्षण योग्य तृणों की इच्छा करता है ॥१८॥

"अग्नि आदि देवताओं ने ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को दूर किया। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र ने देवताओं को स्वर्ग प्राप्त कराया ॥१९॥

"व्रीहि, जौ आदि औषधियां, वनौषधियां, दिन, रात्रि, चराचरात्मक विश्व, षट् ऋतु और द्वादश मासवाला वर्ष ब्रह्मचर्य की महिमा से ही गतिमान हैं ॥२०॥

"आकाश के प्राणी, पृथ्वी के देहधारी पशु आदि, पगवाले और बिना पगवाले ये सभी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही उत्पन्न हुये हैं ॥२१॥

"प्रजापति के बनाये हुये देवता, मनुष्य आदि सब प्राणों को धारण पोषण करते हैं। आचार्य के मुख से निकला वेदात्मक ब्रह्म ही ब्रह्मचारी में स्थित होता हुआ सब प्राणियों की रक्षा करता है ॥२२॥

"यह परब्रह्म देवताओं से परोक्ष नहीं है। वह अपने सच्चिदानन्द रूप से दीप्तिमान रहता है, उनसे श्रेष्ठ कोई नहीं है, उन्हीं से ब्राह्मण का सर्व श्रेष्ठ धन वेद प्रकट हुआ है, और उसमे प्रतिपाद्य देवता भी अमृतत्व सहित प्रकट हुये हैं ॥२३॥

"ब्रह्मचारी वेदात्मक ब्रह्म को धारण करता और सब प्राणियों के प्राणापानो को प्रकट करता है। फिर व्यान नामक वायु को, शब्दात्मिका वाणी को अन्तःकरण और उसके आवास रूप हृदय को, वेदात्मक ब्रह्म और विद्यात्मिका बुद्धि को वही ब्रह्मचारी उत्पन्न करता है ॥२४॥

"हे ब्रह्मचारिन्! तुम हम स्तुति करनेवालो मे रूप-ग्राहक नेत्र, शब्द-ग्राहक श्रोत्र, यश और कीर्ति की स्थापना करो। अन्न, वीर्य, रक्त, उदर आदि की कल्पना करता हुआ ब्रह्मचारी तप मे लीन रहता और स्नान से सदा पवित्र रहता है तथा वह अपने तेज से दमकता है ॥२५,२६॥

श्री काने के अनुसार इस सूक्त में ब्रह्मचारी (वेद-विद्यार्थी) और ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है[1]।

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री लिखते हैं—"स्पष्ट प्रतीत होता है कि कम-से-कम मत्र-काल मे चारो आश्रमो की व्यवस्था का प्रारभ नही हुआ था। ऐसा होने पर भी ब्रह्मचर्य और गृहस्थ—इन दो आश्रमो के सम्बन्ध मे वेद-मन्त्रो मे जो उत्कृष्ट और भव्य विचार प्रकट किये हैं, उनको हम बिना किसी अतिशयोक्ति के भारतीय सस्कृति की स्थायी एव अमूल्य सपत्ति कहते हैं। वेदो के अनेकानेक मत्रो मे ब्रह्मचर्य और गृहस्थ का बडा हृदय-स्पर्शी वर्णन मिलता है। उदाहरणार्थ अथर्ववेद के एक पूरे सूक्त (११।५) मे ब्रह्मचर्य की महिमा का ही वर्णन है[2]।"

इस सूक्त के २४, ४ और १७ वें मत्र पर टिप्पणी करते हुए उन्होने लिखा है—"यहां स्पष्ट शब्दो मे राष्ट्र की चतुरस्र उन्नति के लिए और मानवजीवन के विभिन्न कर्तव्यो के सफलता पूर्वक निर्वाह के लिए श्रम और तपस्या द्वारा विद्या-प्राप्ति (ब्रह्मचर्य) की अनिवार्य आवश्यकता का प्रतिपादन किया गया है ··श्रम और तपस्या पर निर्भर ब्रह्मचर्य-आश्रम की उद्भावना वैदिक धारा की व्यापक दृष्टि का निसन्देह एक समुज्ज्वल प्रमाण है[3]।"

श्री काने और शास्त्री के उल्लिखित मतो के अनुसार ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ है—वेदाध्ययन, ब्रह्मचारी शब्द का अर्थ है—वेद-पाठी और ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ है—वेदाध्ययन के लिए आचार्य-कुल मे वास करना। इससे इतना स्पष्ट है कि अथर्ववेद के उक्त सूक्त मे सयम रूप ब्रह्मचय का नही, पर वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है।

१—History of Dharmasastra Vol II Part I P 270

२—भारतीय सस्कृति का विकास (वैदिकधारा) पृ० १३०

३—वही

(ख) जैन-स्तुति

ब्रह्मचारी और ब्रह्मचर्य की महिमा का बड़ा हृदय-ग्राहक वर्णन जैनागम "प्रश्न व्याकरण" में भी है। वहाँ ब्रह्मचर्य को ३२ उपमाओं से उपमित किया गया है और उसे सब व्रतों में उत्तम कहा गया है। यह अंश पृ० ७ पर दिया गया है। इसके अतिरिक्त भी उस आगम में ब्रह्मचर्य का बड़ा सुन्दर गुण-वर्णन है। इसका कुछ अंश उद्धृत किया जा चुका है (देखिए पृ० ६ टि० ३)। यहाँ पूरा अवतरण दिया जाता है :

"ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है। यम और नियम रूप प्रधान गुणों से युक्त है। हिमवान् पर्वत से महान् और तेजस्वी है।

"ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने से मनुष्य का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और स्थिर हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य सरल साधुजनों द्वारा आचरित है, मोक्ष का मार्ग है, निर्मल सिद्ध-गति का स्थान है।

"यह शाश्वत, अव्याबाध और पुनर्भव को रोकनेवाला है। यह प्रशस्त, सौम्य, शुभ और शिव है। यह अचल है, अक्षयकारी है, यतिवरों द्वारा सुरक्षित है, सु-आचरित एवं सुभाषित है।

"मुनिवरों ने, महापुरुषों ने, धीर वीरों ने, धर्मात्माओं ने, धृतिमानों ने ब्रह्मचर्य का सदा पालन किया है। यह भव्य है। भव्यजनों ने इसका आचरण किया है।

"यह शंका रहित है, भय रहित है, तुष रहित है, खेद के कारणों से रहित है, निर्लेप है।

"यह समाधि का घर है, निश्चल नियम है, तप-संयम का तना है, पाँचों महाव्रतों में अत्यन्त सुरक्ष्य है। समिति गुप्ति से युक्त है। उत्तम ध्यान की रक्षा के लिए उत्तम कपाटों के समान है, शुभ ध्यान की रक्षा के लिए अर्गला के समान है। दुर्गति के मार्ग को रोकने तथा आच्छादित करनेवाला है, सद्गति का पथ प्रदर्शक है और लोक में उत्तम है।

"यह व्रत पद्मसरोवर और तालाब की पाल के समान है। महा शकट के आरों की नाभि के समान है। अत्यन्त विस्तारवाले वृक्ष के स्कंध के समान है। किसी विशाल नगर के प्राकार के किवाड़ों की अर्गला के समान है। रस्सी से बंधे हुए इन्द्रध्वजा के समान है। तथा अनेक विशुद्ध गुणों से युक्त है।

"ब्रह्मचर्य का भङ्ग होने पर सहसा सभी व्रतों का तत्काल भंग हो जाता है। सभी व्रत, विनय, शील, तप, नियम, गुण आदि दही के समान मथित हो जाते हैं, चूर-चूर हो जाते हैं, बाधित हो जाते हैं, पर्वत के शिखर से गिरे हुए पत्थर के समान भ्रष्ट हो जाते हैं, खण्डित हो जाते हैं, उनका विध्वंस हो जाता है, विनाश हो जाता है।

"ब्रह्मचर्य पाँच महाव्रतों का मूल है, कषाय रहित साधुजनों ने भावपूर्वक इसका आचरण किया है। वैर की शान्ति ब्रह्मचर्य का फल है। महा समुद्र के समान संसार से पार होने के लिए घाट रूप है।

"तीर्थङ्करों द्वारा सम्यक् प्रकार से प्रदर्शित मार्ग है। नरक गति और तिर्यञ्च गति से बचने का मार्ग है, समस्त पावन वस्तुओं का सार है। मोक्ष और स्वर्ग का द्वार खोलनेवाला है।

"ब्रह्मचर्य देवेन्द्र और नरेन्द्रों के नमस्यों का भी नमस्य है। समस्त संसार में उत्तम मङ्गलों का मार्ग है। उसको कोई अभिभव नहीं कर सकता, वह श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति का अद्वितीय साधन है और मोक्ष मार्ग के हेतुओं में शिरोमणि है।

"ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन करनेवाला ही सुब्राह्मण है, सुश्रमण, सुसाधु है। जो ब्रह्मचर्य का शुद्ध रूप से पालन करता है वही ऋषि है, वही मुनि है, वही संयमी और वही भिक्षु है।

"यह परलोक में हितकारी है, आगामी काल में कल्याणकारी है, निर्मल है, न्याययुक्त है, सरल है, श्रेष्ठ है, समस्त दुःखों और पापों का शान्त करनेवाला है[1]।"

अथर्ववेद के सूक्त में वेदाध्ययन रूप ब्रह्मचर्य और वेदाभ्यासी ब्रह्मचारी की महिमा है और जैन आगम में संयम रूप ब्रह्मचर्य और उसके पालन करनेवाले ब्रह्मचारी की महिमा।

पहली स्तुति जटिल और दुरूह है और यदि वह वास्तव में ब्रह्मचर्य और ब्रह्मचारी की स्तुति है तो अतिरंजित और जीवन की वास्तविकता से खूब सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है। दूसरी स्तुति अनुभव की वाणी है और उसमें बताये ब्रह्मचर्य का स्थान और उसकी महिमा जग विदित और सर्वमान्य है।

१—प्रश्नव्याकरण २ ४

१७-ब्रह्मचर्य की बाड़ें

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायो को आगम मे गुप्तियां अथवा समाधि के स्थान कहा गया है[1] । इन्हे साधारणत ब्रह्मचर्य की बाडे भी कहा जाता है। इन उपायो की सख्या श्वेताम्बर आगमो मे नौ अथवा दस दोनो ही पाते हैं[2] ।

स्थानाङ्ग के अनुसार ये नियम इस प्रकार हैं

१– ब्रह्मचारी विविक्त शयनासन का सेवन करनेवाला हो। स्त्री-पशु-नपुंसक से संसक्त स्थान मे न रहे।

२—स्त्री-कथा न कहे।

३—स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियो का अवलोकन न करे।

५—सरस आहार का भोजन न करे।

६—जल-भोजन का अतिमात्रा में सेवन न करे।

७—पूर्व क्रीडा का स्मरण न करे।

८—वह शब्दानुपाती, रूपानुपाती और श्लोकानुपाती न हो।

९—सात और सुख मे प्रतिबद्ध न हो।

उत्तराध्ययन और दशवैकालिक के अनुसार उनका स्वरूप संक्षेप मे इस प्रकार है

१—ब्रह्मचारी स्त्री-पशु-नपुंसक सहित मकान का सेवन न करे।

२—स्त्री-कथा न कहे।

३—स्त्री-सहित आसन अथवा शय्या पर न बैठे।

४—स्त्री की मनोहर इन्द्रियो पर दृष्टिपात न करे।

५—स्त्री के हास्य, विलास आदि के शब्दो को न सुने।

६—पूर्व क्रीडाओ का स्मरण न करे।

७—सरस आहार का भोजन न करे।

८—अति मात्रा मे जल-भोजन का सेवन न करे।

९—विभूषा—शृंगार न करे ।

१०—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शानुपाती न हो।

प्रथम निरूपण में स्त्री के हास्य, विलास, कूजन आदि को न सुनने रूप पांचवें समाधि-स्थान का उल्लेख नही है।

दिगम्बर विद्वान् पण्डित आशाधरजी ने ब्रह्मचर्य के दस नियमो को निम्न रूप मे उपस्थित किया[3]

१—मा रूपादिरस पिपास सुदृशा—ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसो को पान करने की इच्छा न करे।

२—वस्ति मोक्ष मा कृथा—वह ऐसे कार्य न करे जिससे लिंग-विकार होने की सम्भावना हो।

३—वृष्य मा भज—ब्रह्मचारी वृष्य-आहार—कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।

४—स्त्री शयनादिक च मा भज—स्त्रियो से सेवित शयन, आसनादि का उपयोग न करे।

५—वराङ्गे दृश मा दा—स्त्रियो के अङ्गो को न देखे।

६—स्त्री मा सत्कुरु—स्त्री का सत्कार न करे।

७—मा च सस्कुरु—शरीर-सस्कार न करे।

१—देखिए पृ० १२१,१२६

२—वही

३—अनगारधर्मामृतम् ४ ६१

८—रत वृत्त मा स्मर—पूर्व सेवित का स्मरण न करे।

६—वर्त्स्यद् मा इच्छ—भविष्य मे क्रीडा करने का न सोचे।

१०—इष्ट विषयान् मा जुजस्व—इष्ट रूपादि विषयो से मन को युक्त न करे।

इन नियमो मे १, ३, ४, ५, ७, ८ तो वे ही हैं, जो श्वेताम्बर आगमो मे हैं। अन्य भिन्न हैं।

वेद अथवा उपनिषदो मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए ऐसे शृखलाबद्ध नियमो का उल्लेख नही मिलता। स्मृति मे कहा है—"स्मरण, क्रीडा, देखना, गुह्यभाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रिया—इस प्रकार मैथुन आठ प्रकार के हैं। इन आठ प्रकार के मैथुन मे अलग हो ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी चाहिए[१]।"

स्वामीजी ने इस कृति मे उत्तराध्ययन के दस समाधि स्थानो के अनुक्रम से बाडो का विवेचन किया है।

१८-मूल कृति का विषय :

अब हम मूल कृति के विषय पर कुछ प्रकाश डालेगे।

पहली ढाल मे मङ्गलाचरण के रूप मे अहिंसा की वेदी पर सर्वस्व त्यागकर विवाह के मडप से लौट कर आजीवन ब्रह्मचर्यवास करनेवाले बाइसवे जैन तीर्थंकर अरिष्टनेमि भगवान की स्तुति की गई है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र मे वे जगद्गुरु थे क्योकि उन्होने पूर्ण युवावस्था में विवाह करने से इन्कार किया। इनका जीवन-वृत्त परिशिष्ट-क कथा-१ मे दिया गया है।

राजिमती और अरिष्टनेमि की कथा इतनी रसपूर्ण है कि उसने अनेक काव्य-कृतियो को जन्म दिया है। अपने विवाह के निमित्त से होने वाली पशुओ की आसन्न हत्या के विरोध और असहयोग मे नेमिनाथ ने आजीवन विवाह न करने का व्रत लिया, यह इतिहास के पन्नो मे अहिंसा के लिए एक महान बलिदान की कथा है। विवाह-सम्पन्न होने के पूर्व ही नेमिनाथ प्रव्रज्या के लिए निकल पडे थे अत राजिमती कुमारी ही थी फिर भी उस महाधन्या कुमारी ने पाणि-ग्रहण का विचार तक नही किया और स्वय भी ब्रह्मचर्यवास में स्थित हुई। इतना ही नही अपने प्रति मोह से विह्वल मुनि रथनेमि को साध्वी राजिमती ने एक बार ऐसा गभीर उपदेश दिया कि उनका पुरुषार्थ पुन जाग्रत हो गया और वे सयम मे इतने दृढ हुए कि उसी भव में मोक्ष को प्राप्त हुए। गिरते पुरुषार्थ को इस प्रकार दृढ सम्बल देनेवाली नारियो मे राजिमती का स्थान भी इतिहास के पन्नो मे अद्वितीय है। उस समय का उनका उपदेश ठोकर खा कर गिरते हुए ब्रह्मचारी के लिए युग-युग मे महान् प्रकाश-पुञ्ज का काम करेगा, इसमे सन्देह नही।

मङ्गलाचरण के द्योतक दोहो के बाद ढाल मे ब्रह्मचर्य की सुन्दर महिमा है। ब्रह्मचर्य को कल्पवृक्ष की उपमा देकर उसके सारे विस्तार को अनुपम ढग से उपस्थित किया है।

महात्मा गाधी कहते हैं—"ब्रह्मचर्य का सम्पूर्ण पालन करनेवाला स्त्री या पुरुष नितान्त निर्विकार होता है। अत ऐसे स्त्री-पुरुष ईश्वर के पास रहते हैं। वे ईश्वर तुल्य होते हैं[२]। जो काम को जीत लेता है, वह ससार को जीत लेता है और ससार-सागर को तर जाता है[३]।" सन्त टॉल्स्टॉय ने लिखा है—"जितना ही तुम ब्रह्मचर्य के नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और अपना अधिक कल्याण करोगे[४]।"

भगवान महावीर ने कहा था—"जो ब्रह्मचारी होते हैं वे, मोक्ष पहुँचने मे सब से आगे होते हैं।" "जो काम से अभिभूत नही होते उन्हे मुक्त पुरुषो के समान कहा गया है। स्त्री-परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ होते हैं[५]।" "विषयो मे अनाकुल और सदा इन्द्रियो

१—दक्ष स्मृति ७ ३२

२—अनीति की राह पर पृ० ५६

३—वही पृ० १३५

४—स्त्री और पुरुष पृ० १५३

५—देखिए पृ० ६

को वश में करनेवाला पुरुष अनुपम भावसन्धि—(कर्म-क्षय की मानसिक दशा) को प्राप्त करता है (सूत्र० १।१५ १०)। "उत्तम समाधि में अवस्थित ब्रह्मचारी इस संसार-सागर को उसी तरह तिर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को[1]।"

महात्मा गांधी और टाल्सटॉय के विचार आगमिक विचारधारा से अद्भुत सामञ्जस्य रखते हैं।

आगम में ब्रह्मचर्य महापुरुष की गरिमा का माप दण्ड बना है। उदाहरणस्वरूप आगम में कहा है—"जैसे तपों में ब्रह्मचर्य उत्तम तप है, उसी तरह महावीर लोगों में उत्तम श्रमण थे[2]।"

ब्रह्मचर्य की महिमा सभी धर्म ग्रन्थों में पाई जाती है। उपनिषद् में कहा है "जिसे क्षीणदोष संयमी देखते हैं, उस ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा को सत्य द्वारा, तप द्वारा, सच्चे ज्ञान द्वारा और ब्रह्मचर्य के नित्य सेवन द्वारा अन्त करण में देखा जा सकता है[3]।" अन्य उपनिषद् में कहा है "जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि जो ज्ञाता है, वह इसके द्वारा ही ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। जिसे 'इष्ट' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा खोज करके ही पुरुष आत्मा को प्राप्त करता है। जिसे 'सत् त्रायण' कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि उसके द्वारा ही वह सत्—आत्मा का त्राण प्राप्त करता है। जिसे 'मौन' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि इसके द्वारा ही आत्मा को जान कर पुरुष उसका मनन करता है[4]।"

बुद्ध कहते हैं "ब्रह्मचर्य बिना पानी का स्नान है[5]।"

पहली बाड़ (ढाल २) : विविक्त शयनासन

आगम में ब्रह्मचारी के शयन—वास-स्थान और आसन—उठने-बैठने के स्थान के सम्बन्ध में समुच्चय आज्ञा यह है कि जिस स्थान में मन विभ्रम को प्राप्त हो, व्रत के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप में भंग होने की आशंका हो और आर्त एवं रौद्र ध्यान उत्पन्न होते हो, उस स्थान का पाप-भीरु ब्रह्मचारी वर्जन करे[6]। ब्रह्मचारी का शयन-आसन विविक्त—एकांत होना चाहिए। जहाँ स्त्री-पशु-नपुसक वसते हो उस स्थान में उसे वास अथवा उठ-बैठ नही करनी चाहिए[7]।

स्वामीजी ने इस वाड का स्वरूप वतलाते हुए तीन बातें कही है

(१) ब्रह्मचारी स्त्री आदि से शून्य एकांत में रात्रि-वास करे[8]।

(२) अकेली नारी की संगति न करे[9]।

(३) अकेली स्त्री के साथ आलाप-सलाप न करे, यहाँ तक कि उससे धर्म-कथा भी न कहे[10]।

इस प्रकार पहली वाड में संसक्तवास, स्त्री-संगति और स्त्री के साथ एकान्त में आलाप-सलाप करने का वर्जन है।

१—देखिए पृ० ६-१०

२—सूत्र० १।६ २३

तवेसु वा उत्तम बम्भचेर लोगुत्तमे समणे नायपुत्ते

३—मुण्डकोपनिषद् ३ १ ५

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्त शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो य पश्यन्ति यतय क्षीणदोषा ॥

४—छान्दोग्योपनिषद् ५ ८ १-४

५—संयुत्तनिकाय १ ८ ६

६—पृ० १५ टि० ५

७—पृ० १५ टि० ३,४

८—ढाल २ दो० ५,८, गा० ३,४, ५

९—ढाल २ दो० ६, गा० ३

१०—ढाल २ दो० ६

इस आगमिक आज्ञा का कारण सकुचित दृष्टि नही, परतु पुरुष-स्त्री के स्वभाव का मनोवैज्ञानिक ज्ञान है। ज्ञानियो का ज्ञान कहता है—स्त्री-पुरुष एक दूसरे के लिए 'पकभूश्राउ' पकभूत—कादे के समान हैं[१]। स्त्री का शरीर पुरुष के लिए और पुरुष का शरीर स्त्री के लिए उसी प्रकार भय का स्थान है जिस प्रकार कुक्कुट के बच्चे के लिए बिल्ली[२]। जिस तरह अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घडा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त होता है, वैसे ही ससक्त सहवासवाले ब्रह्मचारी स्त्री-पुरुष का सयम शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है[३]।

वाड मे आए हुए बिल्ली और चूहा, बिल्ली और कुक्कुट आदि के जो उदाहरण हैं, वे आगमोक्त ही हैं। ये स्त्री और पुरुष दोनो के प्रति समान रूप से लागू पडते हैं। इनका भावार्थ है—ब्रह्मचारिणी स्त्री के लिए पुरुष का सहवास बुरा है और ब्रह्मचारी पुरुष के लिए स्त्री का सग। ब्रह्मचारिणी अपने को चूहे, मोर और कुक्कुट के बच्चे के स्थान में समझे और पुरुष को बिल्ली के स्थान में। इसी तरह ब्रह्मचारी स्त्री को बिल्ली के स्थान मे समझे और अपने को चूहे, मोर और कुक्कुट के स्थान मे। सहवास से मूर्ख ब्रह्मचारी मनोहर स्त्री के वश मे होता है और मूर्ख ब्रह्मचारिणी पुरुष के वश मे हो जाती है। ज्ञानियो का अनुभव है कि ससक्तवास 'लाख और अग्नि', 'दूध और विष' की तरह द्रावक और घातक है[४]।

कहा है : "माता, बहन, या पुत्री किसी के साथ एकान्त में न बैठना चाहिए। क्योकि इन्द्रियो का समूह बडा बलवान होता है, वह विद्वानो को भी अपनी ओर खीच लेता है[५]।" इसी तरह जैन आगमो मे कहा है "जो मन, वचन और काय से गुप्त है और जिसे विभूषित देवाङ्गनाएँ भी काम-विह्वल नही कर सकती, ऐसे मुनि के लिए भी एकान्त-वास ही हितकर और प्रशस्त है[६]। जिसके हाथ, पैर एव कान कटे हुए हैं तथा जो सौ वर्ष की वृद्धा है, ऐसी स्त्री की सगति का भी ब्रह्मचारी वर्जन करे[७]।"

ये बातें ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी दोनो के लिए लागू होती हैं।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि यह कोई शाश्वत नियम नही है। अन्यथा मुनि स्थूलिभद्र कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास कैसे कर सकते? उन्होने गुरु की आज्ञा ले कोशा गणिका के घर चातुर्मास व्यतीत किया। भोग के सारे साधन थे। साधु बनने के पूर्व वे उसी वेश्या के साथ बारह वर्ष तक भोगासक्त रहे। अत वह सुपरिचित थी। षट्रसयुक्त भोजन, सुन्दर महल, सारा शृगार उपस्थित था। ऋतु अनुकूल थी। कोशा की ओर से बडा अनुनय-विनय और भोग-सेवन के लिए आमन्त्रण था। ऐसी स्थिति मे भी वेश्या के साथ एक मकान में रहने पर भी स्थूलिभद्र का कुछ नही बिगडा। 'मनचगा तो कठौती मे गङ्गा।'

स्थूलिभद्र की कथा पृ० ८२ पर दी हुई है। स्थूलिभद्र की यह जीवन-घटना इस बात के लिए प्रमाण है कि ब्रह्मचारी को अपने व्रत में कितना दृढ होना चाहिए। पर इस बात का प्रमाण नही कि मोह-जनक स्थानो में रहना ब्रह्मचारी के लिए खतरे का घर नही और न इस बात का सबूत है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थानो में रहने की भी आज्ञा है। और न इससे यह फलित होता है कि ब्रह्मचारी को ऐसे स्थानो में रह कर ही अपने ब्रह्मचर्य की साधना करनी चाहिए अथवा ब्रह्मचारी होने का सबूत पेश करना चाहिए। यह उदाहरण तो इस बोध के लिए है कि अनायास ऐसा विकट प्रसग उपस्थित हो जाय, तो भी ब्रह्मचारी मोह-ग्रस्त होकर विचलित न हो। ऐसे सब सयोगो के अवसर पर भी वह असीम

१—उत्तराध्ययन २.१७

२—पृ० १६ टि० ६

३—सूत्रकृताङ्ग १।४।१ . २७ :

जतुकुम्भे जोइउवगूढे, आसुऽभितत्ते णासमुवयाइ।

एविित्थियाहिं अणगारा, संवासेण णासमुवयंति ॥

४—पृ० १७ टि० १३

५—पृ० १६ टि० ८

६—पृ० १६ टि० ८

७—मनुस्मृति २ २१५ :

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।

बलवानिन्द्रियग्रामो, विद्वांसमपि कर्षति ॥

मनोवल का परिचय दे और कामराग को पूर्णरूप से जीते। जो एकान्त स्थान मे रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है उनमे कोई दोष नही, पर उसकी परीक्षा तव होती है जव वह मोह उत्पन्न करनेवाले सयोगो मे आ फँसता है। ऐसे अवसर पर इन्द्रियो पर सम्पूर्ण सयम रखना ही ब्रह्मचारी की कसौटी है। ऐसे समय उसे स्थूलिभद्र की कथा याद कर अपने को उस आँच मे भी सम्पूर्ण निदाग रखना चाहिए।

तो पढिय तो गुणिय तो मुणिय तो अचेइओ अप्पा।
आवडिय पल्लिया मतओवि, जइ न कुणइ अकज्ज॥

—उसी का पढना, गुनना, जानना और आत्म-स्वरूप का चिंतन करना प्रमाण है, जो आपत् मे पडने पर भी अकार्य की ओर कदम नही वढाता।

जो ब्रह्मचारी मोह-जनक ससक्त स्थानो का वर्जन नही करता और जान वूझकर ऐसे स्थानो का प्रसग करता है, उसकी गति वही होती है जो सिंहगुफावासी यति की हुई। स्थूलिभद्र के गुरुभाई इस मुनि ने उनकी स्पर्धा से उसी कोशा गणिका के यहाँ चातुर्मास किया और काम-विह्वल हो भोग की प्रार्थना करने लगा। वेश्या कोशा, जो मुनि स्थूलिभद्र के प्रयत्न से श्राविका हो चुकी थी, उसे प्रतिवोध न देती तो उनका पतन अन्तिम सीमा तक पहुँचे विना नही रहता। ब्रह्मचारी कैसे स्थानो में रहे, इसका सम्यक्‌वोध स्थूलिभद्र की कथा मे नही पर सिंह-गुफावासी यति के प्रसग से समझना चाहिए[1]।

ब्रह्मचारी अपने मनोवल पर खूव भरोसा न करे, वल्कि वह विनम्र रहे, अहकार न रखे। वह निरहकार-भाव से अपने को अनुकूल वास मे रखे।

इस वाड से सम्वन्धित कुलवालुडा की कथा इस वात का ज्वलन्त प्रमाण है कि जो ब्रह्मचारी स्त्री के साथ एकांत-सेवन करने लगता है तथा उसकी सगति, सहवास और स्पर्श का निवारण नही करता, उसका पतन कितना शीघ्र होता है। कोणिक की मागधिका गणिका ने स्वस्थ न हो तव तक रुग्ण मुनि कुलवालुडा की सेवा करने की छूट उनसे चाही। मुनि कुलवालुडा ने उसको सेवा के लिए सहवास की यह छूट दी। अन्त में यह सहवास मुनि कुलवालुडा के पतन का कारण हुआ।

श्रीमद् भागवत मे कहा है

धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम्।
तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा॥
नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वर।
विनश्यत्याचरन् मौढ्याद् यथाऽरुद्रोऽब्धिज विषम्॥
ईश्वराणां वच सत्य तथैवाचरित क्वचित्।
तेषा यत्स्ववचोयुक्त वुद्धिमांस्तत्समाचरेत्॥

१०।३३।३०-३२

—कभी कभी महान शक्ति सपन्न व्यक्ति साहस के साथ नियमो का उल्लघन (व्यतिक्रम) करते हुये देखे गये हैं। परन्तु जिस प्रकार सर्वभुक्—सपूर्ण वस्तुओ को जलानेवाली—अग्नि को दोष नही होता, उसी प्रकार नियमो के ये व्यतिक्रम तेजस्वियो के लिये दोष के कारण नही होते।

—अनीश्वर—जिसके पास असाधारण दिव्य शक्तियां नही हैं, ऐसा व्यक्ति—ऐसी वस्तुओ को करने का कभी मन से भी विचार न करे, क्योकि उनको करने से वह विनाश को प्राप्त होगा। जैसे कि शकर ने समुद्र से उत्पन्न विष को पान कर लिया था, यह सुनकर कोई मूर्खता से विष पान करने लगे तो उसकी मृत्यु ही होगी।

—महान व्यक्तियो की वाणी सत्य होती है और उनके द्वारा किये कार्य कभी ठीक होते हैं (और कभी ठीक नही भी होते)। अत वुद्धिमान व्यक्ति उनके उसी आचरण का अनुवर्तन करे, जो उनकी वाणी (आज्ञाओं) के अनुकूल पडते हो।

आचार्य तुलसी कहते हैं "एकान्तवासी भी विचलित हो जाते हैं तव स्त्री के ससर्ग में रहकर ब्रह्मचर्य को निभानेवाले विरले ही मिलेंगे। रात मे स्त्री रहे वहां पुरुष न रहे, पुरुष हो वहां स्त्री न रहे।"

१—देखिए पृ० ८३। ब्रह्मचर्य के विषय पर इतनी मार्मिक, रसयुक्त और वोधप्रद कथा अन्यत्र देखने में नहीं आती।

दूसरी बाड़ (ढाल ३) : स्त्री-कथा वर्जन

दूसरी बाड मे ब्रह्मचारी को स्त्री-कथा से दूर रहने का नियम दिया गया है[१]। इस विषय में आगमो मे साधारण आज्ञा यह है कि जो भी कथा मन को चचल करे, काम-राग को बढावे, हास्य, शृंगार तथा मोह उत्पन्न करे तथा तप, सयम और ब्रह्मचर्य का विनाश करे, उसका ब्रह्मचारी वर्जन करे[२]। यहाँ वर्जन करने का अर्थ है ऐसी विलासयुक्त कथा न कहे, न सुने और न उसका चिन्तन करे[३]।

निम्न कथाएँ स्त्री-कथाएँ हैं

(१) स्त्री के मुख, नेत्र, नासिका, होठ, हाथ, पाँव, कटि, नाभि, कोख तथा अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गो का मोह उत्पन्न करनेवाला वर्णन। उनकी बोली, चाल-ढाल, हाव-भाव और चेष्टाओ का शृङ्गारपूर्ण वर्णन[४]।

(२) नव विवाहित पति-पत्नी की कथा।

(३) विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा।

(४) स्त्रियो के सौभाग्य-दुर्भाग्य की कथा।

(५) कामशास्त्र की बातें।

(६) शृंगार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथा-कहानी।

स्त्री-कथा से किस प्रकार विकार उत्पन्न होता है, यह बताने के लिए स्वामीजी ने नीबू का दृष्टान्त दिया है। जैसे नीबू की बात कहने, सुनने या चिन्तन करने से मुह मे पानी छूटने लगता है, उसी तरह स्त्री-कथा कहने, सुनने या चिन्तन करने से ब्रह्मचारी का मन विषय-राग से ग्रसित हो जाता है। उसके परिणाम चलित हो जाते हैं[५]।

जिसके मन मे विषयो के प्रति रस न हो, वही ब्रह्मचारी कहा जा सकता है। जिस ब्रह्मचारी का मन वश में होगा उसके मुह से विकार पूर्ण शब्द ही नही निकल सकते। न वह विषय को उत्तेजित करनेवाली बातो में रस लेकर उन्हे सुनेगा और न उनका चिन्तन ही करेगा।

स्वामीजी कहते हैं—जो बार-बार स्त्री-कथा करता है, उसे ब्रह्मचर्य व्रत से प्रेम नही रहता। उसके विषय-विकार की वृद्धि होगी और अन्त मे परिणाम विचलित होने से वह व्रत से च्युत होगा। इसी तरह जो स्त्री-कथा सुनता है या चिन्तन करता है उसकी गति भी ऐसी ही होती है[६]।

आज कथाएँ कही नही जाती, पुस्तको मे कहानी, उपन्यास, कविता और कामशास्त्र के रूप में आती हैं। शृंगारिक चित्रो मे आती हैं। अत सुनने का अर्थ आज पढना भी हो जायगा। आज इस बाड का अर्थ ऐसा भी होगा कि ब्रह्मचर्य की रक्षा करनी हो तो स्त्री-कथा न कहे, न लिखे, न पढे, न सुने और न उसका चिन्तन करें।

जिस अनुचित भावुकता के साथ स्त्रियो का चरित्र-चित्रण किया जाता है, उनके शरीर-सौंदर्य का जैसा अश्लील और असभ्यतापूर्ण वर्णन किया जाता है, उसके विषय में महात्मा गान्धी ने कहा था—"क्या स्त्रियो का सारा सौंदर्य और बल केवल शारीरिक सुन्दरता ही मे है ? पुरुषो की लालसा भरी विकारी आँखो की तृप्ति करने की क्षमता में ही है ?...जैसी वे हैं वैसी ही उन्हे क्यो नही बताया जाता ? वे कहती हैं, 'न तो हम स्वर्ग की अफसराएँ है, न गुडिया हैं, और न विकार और दुर्बलताओ की गठरी ही हैं। पुरुषो की भांति हम भी तो मानव प्राणी ही हैं।' मुझ

१—ढाल ३ दो० १-२ गा० १४, पृ० २१ टि० १

२—पृ० २१ टि० १,२

३—पृ० २१ टि० १,२

४—ढाल ३ गा० १-४

[illegible]ल ३ गा० १२

[illegible]ल ३ गा० १,६, ११-१३

मे यह भी कहा गया है—हमारे साहित्य मे स्त्रियो का रागमहल देवता के सदृश वर्णन किया गया है। मेरी राय मे इस तरह का चित्रण भी बिलकुल गलत है[१]।'

ऐसे साहित्य से जो हानि होती है, उनके बारे मे वे कहते हैं :

"कितने ही लेखक स्त्रियो की आध्यात्मिक प्यास को शान्त करने के बजाय उनके विकारो को जाग्रत करते हैं। नतीजा यह होता है कि बेचारी कितनी ही भोली स्त्रियाँ यही सोचने मे अपना समय बरबाद करती रहती हैं कि उपन्यासो मे चित्रित स्त्रियो के वर्णन के मुकाबले मे वे किस तरह अपने को सजा और बना सकती हैं। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि साहित्य मे उनका नख-शिख वर्णन क्या अनिवार्य है? क्या आप को उपनिषदो कुरान और बाइबिल मे ऐसी चीजे मिलती हैं? फिर भी क्या पता नहीं कि बाइबिल को अगर निकाल दे तो अंग्रेजी भाषा का भण्डार सूना हो जायगा। कुरान के अभाव मे अरबी को सारी दुनिया भूल जायगी और तुलसीदास के अभाव मे जरा हिन्दी की कल्पना तो कीजिए। आजकल के साहित्य मे स्त्रियो के विषय मे जो कुछ मिलता है, ऐसी बाते आपको तुलसीकृत रामायण मे मिलती हैं[२]?"

टॉल्स्टॉय लिखते हैं- "मानव स्वभाव का वह कितना घोर पतन है जब मनुष्य पाशविक विकार को सिंहासन पर अभिषिक्त कर उसकी सहायक इन्द्रियो की तारीफो के पुल बाँधता है। पर आजकल के चित्रकार, सङ्गीतशास्त्री और सभी ललितकलाविद् यही करते हैं[३]।"

ब्रह्मचर्य की दूसरी बाड़ ने आज राष्ट्रीय महत्व ग्रहण कर लिया है। शृगारपूर्ण कथाओ को उपस्थित करनेवाले चित्रकार, सङ्गीत-शास्त्री शिल्पकार, कथाकार, उपन्यासकार सब देश के जीवन की आध्यात्मिक भित्ति को हिला रहे हैं। राष्ट्र की शील-वृत्ति को कामुक कथाओ से विनष्ट कर रहे हैं। उनकी कृतियो को पढ़ने देखने और सुननेवालो का जो आज पतन हो रहा है, वह स्त्री-कथा परिहार न करने का ही परिणाम है। यदि राष्ट्र मे सयम की भावना को पुन प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता है और जिसे कोई अस्वीकार नही करता तो स्त्री-कथा का त्रिविध रूप मे—'न कहियव्वा न सुणियव्वा, न चिंतियव्वा' वर्जन मानव-मात्र के जीवन मे लाना आवश्यक है।

राष्ट्र की रक्षा की दृष्टि से ऐसा साहित्य सर्जित न हो, इस भावना से महात्मा गाधी ने निम्न विचार दिये थे

"एक सीधी-सी कसौटी मैं आपके सामने रखता हूँ। इनके विषय में लिखते समय आप उनकी किस रूप मे कल्पना करते हैं? आपको मेरी सूचना है कि आप कागज पर कलम चलाना शुरू करे, उससे पहले यह खयाल कर ले कि स्त्री जाति आपकी माता है। और मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आकाश से जिस तरह प्यासी धरती पर सुन्दर शुद्ध जल की वर्षा होती है, उसी तरह आपकी लेखनी से भी शुद्ध से-शुद्ध साहित्य बहने लगेगा। याद रखिए एक स्त्री आपकी पत्नी बनी, उससे पहले एक स्त्री आप की माता थी[४]।"

इस बाड से सम्बन्धित मल्लिकुमारी, मृगावती और द्रौपदी की कथाएँ परिशिष्ट-क मे पृ० ८६,६७,६५ पर दी हुई हैं।

स्त्री के रूपादि के वर्णन को सुनने से किस तरह मोह उत्पन्न होता है, उसका हृदयग्राही वर्णन इन कथाओ मे है।

मल्लिकुमारी के लावण्य की कथा को सुन और चित्रपटो से जान कर उसे प्राप्त करने के लिए उसके पिता राजा कुम्भ पर भिन्न-भिन्न देशो के नृपतियो ने एक साथ चढाई कर दी। दोनो ओर से युद्ध छिड गया।

मल्लि ने नृपतियो की चढाई की आशका से पहले से ही अपने रूप-रग से मिलती हुई एक स्वर्ण-प्रतिमा बनवा रखी थी। उसमे प्रति दिन भोजन डाला जाता जो सडता जाता था। वह प्रतिमा पेचदार ढक्कन से बद होती थी। मल्लि ने अपने पिता से युद्ध बद करने का अनुरोध किया। उन नृपतियो को निमंत्रित कर अपने महल मे बुलाया। प्रतिमा को मल्लिकुमारी समझ सब और भी विमुग्ध हो गये। अब मल्लिकुमारी स्वय उपस्थित हुई और प्रतिमा के ढक्कन को दूर कर दिया। महल दुर्गन्ध और बदबू से भर गया। सब ने अपने नाक ढक लिए। मल्लि ने पूछा—"ऐसा क्यो?" नृपो ने उत्तर दिया—"इस प्रतिमा मे से भयङ्कर दुर्गन्ध निकल रही है।" मल्लि बोली—"मेरा यह शरीर, जिसके सौन्दर्य पर तुम

१—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १५७-१५८

२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) १५८-६

३—स्त्री और पुरुष

४—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १५६

इतने मुग्ध हो भी तो ऐसा ही दुर्गन्धयुक्त है। वह भी अशुचि से भरा है।" इस तरह अशुचि भावना को जाग्रत कर मल्लि ने नृपो को मोह-रहित किया।

दूसरी कथा मे राजा चन्द्रप्रद्योत मृगावती के रूप के वर्णन को सुन कर उस पर मुग्ध होता है। विधवा मृगावती को पाने के लिए उसके राज्य पर चढाई कर देता है। इसी बीच श्रमण भगवान महावीर पधारते हैं। मृगावती भगवान महावीर की शरण मे पहुँच राजा चन्द्रप्रद्योत को विचारपूर्ण दृष्टि से अपनी रक्षा करती है।

कुमारी मल्लि और विधवा रानी मृगावती दोनो ने पाँचो महाव्रत ग्रहण कर प्रव्रज्या ग्रहण की।

तीसरी कथा मे नारद द्वारा वर्णित द्रौपदी के रूप को सुन कर राजा पद्मनाभ उस पर मुग्ध हो उसका हरण करवाता था। फिर कृष्ण द्रौपदी का उद्धार करते हैं।

तीसरी बाड़ (ढाल ४) : एक आसन का वर्जन

तीसरी वाड मे ब्रह्मचारी साधु के लिए यह नियम है कि वह स्त्री के साथ एक शय्या या आसन पर न बैठे। पहली वाड मे स्त्री आदि से ससक्त स्थान मे रहने का वर्जन है। इस वाड में सह-आसन तथा सह-शय्या का वर्जन है। यह स्थूल वर्जन है। सूक्ष्म रूप में स्त्री-ससर्ग, स्त्री-परिचय, स्त्रियो से ममता, उनकी आगत-स्वागत, उनसे बार-बार बात-चीत, यदा-कदा मिलना-जुलना और उनके साथ घूमना-फिरना और उनके स्पर्श आदि के परिवर्जन की भी शिक्षा इस वाड मे है[1]। नारी और पुरुष की पारस्परिक, शारीरिक या वाचिक सन्निकटता ब्रह्मचर्य के लिए वैसी है जैसे कि घी, लाख, लोह आदि की अग्नि के साथ सन्निकटता। घी और लाख की तो बात ही क्या लोह जैसी कठोर वस्तु भी अग्नि के ससर्ग से पिघल जाती है। वैसे ही घोर ब्रह्मचारी भी स्त्री-ससर्ग से ब्रह्मचर्य को खो बैठता है[2]। इस दृष्टि से राजमार्ग यही दिया गया है कि सुतपस्वी भी स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे। ब्रह्मचारी यह नियम पराई स्त्रियो के साथ ही नही, माँ, बेटी, बहिन जैसी स्त्रियो के साथ भी पालन करे, ऐसा कहा है[3]। ब्रह्मचारी के लिए स्त्रियो का ससर्ग विष-लिप्त कटक के समान है। वह ताल विष की तरह है[4]। ब्रह्मचारिणियो के लिए भी पुरुष-ससर्ग को ऐसा ही समझना चाहिए।

स्वामीजी ने इस वाड के महत्व को हृदयगम कराने के लिए काचर, कोहला तथा आटे का मौलिक दृष्टान्त दिया है। काचर, कोहला को आटे में डालकर गूथने से आटा लसरहित हो जाता है—वह सधता नही। वैसी ही नारी-प्रसग से, स्त्री के साथ एक शय्या, आसनादि पर बैठने आदि से ब्रह्मचारी के परिणाम चल-विचलित हो जाते हैं और ब्रह्मचर्य से ध्यान छूट जाता है। वह समाधियोग से भ्रष्ट हो जाता है। एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचारी का किस प्रकार पतन होता है, इसका क्रम इस ढाल में बडे ही सुन्दर ढग से बतलाया है[5]।

'स्त्रीशयनादिक च मा भज'—इस नियम के पीछे एक विशेष वैज्ञानिक भूमिका है जिसका उल्लेख ढा० ४ गा० ५–७, १० मे आया है। वहाँ इस बात का जिक्र है कि नारी वेद के पुद्गलो का स्पर्श पुरुष मे और पुरुष वेद के पुद्गलो का स्पर्श नारी मे काम-विकार उत्पन्न करता है। इस वेद-स्वभाव को ध्यान मे रखकर ज्ञानियो ने यहाँ तक नियम किया है कि जिस स्थान पर नारी बैठ चुकी हो उस स्थान पर ब्रह्मचारी एक मुहूर्त तक न बैठे।

ब्रह्मचारी को सावधान किया गया है कि वह वेद-स्वभाव को हमेशा स्मृति में रखे और नारी-प्रसग का सदा परिवर्जन करता रहे। स्त्री-सस्पर्श से सम्भूत मुनि का पतन किस प्रकार हुआ, इसका रोमाञ्चकारी उल्लेख इस वाड की ढाल में है। यह कथा परिशिष्ट—क मे पृ० १०१ पर दी गई है[6]।

१—ढाल ४ दो० २,३ तथा पृ० २६ टि० १

२—ढाल ४ दो० २,४ पृ० २६ टि० २,३

३—ढाल ४ गा० १३, पृ० २८ टि० १२

४—पृ० २६ टि० १ अन्तिम पेरा · पृ० २८ टि० १२

५—ढाल ४ गा० २, पृ० २७ टि० ४

६—ढाल ४ गा० ८-९

[illegible] ।

[illegible] । [illegible] यदि [illegible] कि [illegible] पुरुषों [illegible] ।

[illegible] ।

इस सम्बन्ध में विनोबाजी लिखते हैं — "मैं तो मानता हूँ कि पुरुष-पुरुष के बीच भी शारीरिक परिचय होना गलत बात है। परिचय तो मानसिक होना चाहिए। शारीरिक परिचय भी सेवा के वास्ते जितना आवश्यक है उतना ही होना चाहिए। हम देखते हैं कि पुरुष नाहक अपने पुरुष मित्र के गले में हाथ डालते हैं। इस तरह जो चलता है वह हमें पसन्द नहीं आता है। शरीर परिचय की जो एक सामान्य मर्यादा है वह न सिर्फ स्त्री और पुरुष के बीच होनी चाहिए, बल्कि पुरुष-पुरुष के बीच और स्त्री स्त्री के बीच भी वही मर्यादा होनी चाहिए। यह [illegible] है कि स्त्री और पुरुषों में भेद किया जाय। स्त्री-पुरुषों का भेद तो हम बाह्यशरीर से ही पहचानते हैं। अन्दर की आत्मा तो एक ही है। मनुष्य ने माना है कि दोनों के बीच मर्यादाएँ होनी चाहिए। लेकिन यह कोई सर्वोत्तम वस्तु नहीं है। होना तो यह चाहिए कि दोनों खुले दिल से एक दूसरे के सामने आयें। वैसे शरीर-सम्पर्क की एक सर्व सामान्य मर्यादा हो। पुरुष-पुरुष के बीच भी ज्यादा सम्पर्क न हो[४]।

पाठक देखेंगे कि तीसरी बाड में स्त्री-परिचय, स्त्री-संसर्ग, सदा-सदा मिलना-जुलना आदि के परिवर्जन की जो बात कही गयी है, वह आधुनिक चिन्तकों द्वारा भी समर्थित है।

इस बाड का एक नियम खास ध्यान आकर्षित करने जैसा है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को बताते हुए पं० आशाधरजी ने लिखा है—"मा स्त्री सत्कुरु।" इसका अर्थ है—स्त्रियों का सत्कार मत करो। आचाराङ्ग में कहा है "णो सपसारए, णो ममाए, णो कयकिरिए, अर्थात् स्त्रियों के साथ एकान्त का सेवन मत करो, उनके प्रति ममत्व मत करो, उनके प्रति कृतक्रिय मत हो।" यहाँ स्त्री के प्रति दाक्षिण्यभाव के प्रदर्शन की मनाही की गई है।

आचार्य विनोबा भावे ने लिखा है "आजकल समाज में सुधरे हुए लोगों में अधिकाधिक कृत्रिमता आ गयी है। इसलिए स्त्री के लिए ज्यादा आदर दिखाना, जिसे 'दाक्षिण्य भाव' कहते हैं, चलता है। स्त्री को देवी कहा जाता है। इस तरह एक बाजू से तो स्त्री के लिए घृणा और तिरस्कार होता है, अपात्रता होती है और दूसरी तरफ से स्त्री के लिए अधिक भावना होती है। पुरुष अपने को स्त्री का सेवक मानता है। हम मानते हैं कि इससे विषय-वासना बढती ही है। जैसे स्त्री के लिए कोई अपात्रता समझना गलत है, उसी तरह स्त्री के लिए अधिक भाव या ऊँची भावना रखना भी गलत है। होना तो यह चाहिए कि आत्मा में तो स्त्री और पुरुष का भेद नहीं है, यह भेद तो शरीर का है, इसका भान हो जाय। यह भान होने से वासना से निवृत्त होना आसान हो जायगा[५]।"

स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध में दोष पैदा होने के कारणों को गिनाते हुए श्री किशोरलाल मशरूवाला ने 'अनावश्यक स्त्री-दाक्षिण्य' को भी गिनाया है[६]। उनके विचारों की भूमिका इस प्रकार है "स्त्रियों को अपने शील की रक्षा के लिए हमेशा अधिक अभिमान और अधिक चिंता रहती है। इसलिए जब मैं स्त्री के पतन की बात सुनता हूँ, तब कुछ दिङ्मूढ सा बन जाता हूँ। ... [illegible] के मशहूर [illegible]

१—स्त्री और पुरुष पृ० १२६-२७
२—वही .
३—स्त्री और पुरुष पृ० १४२
४—कार्यकर्ता-वर्ग पृ० ४२,४३,४४
५—कार्यकर्ता-वर्ग पृ० ४५
६—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ० ३६ ३७

डॉ० मेकडूगल इस बारे मे जो थोडा स्पष्टीकरण करते हैं, वह विचारने जैसा है। उनका कहना है कि स्त्री का स्वभाव अधिक भावनावश होता है। उसके लिए जो ममता या सहानुभूति बताई जाती है, उसका असर उस पर पुरुष की बनिस्वत ज्यादा होता है। इसलिए उसके प्रति जो दाक्षिण्य (Chivalry) बताया जाता है, उसकी प्रतिध्वनि उसके हृदय मे उठे विना नही रहती। अपने प्रति ममता या सहानुभूति वतानेवाले को सन्तुष्ट करने के लिए वह सब कुछ करने को तैयार हो जाती है।' ' धूर्त पुरुष स्त्री के इस स्वभाव का लाभ उठाता है और उसे अपना शिकार बनाता है।

"इसका यह मतलब नही कि स्त्रियां कभी पुरुष से ज्यादा विकारवश या धूर्त होती ही नही, और पुरुष उन्हे फसाने के बजाय उसके जाल मे कभी फसता ही नही[1]।"

ऐसी स्थिति में दोषोत्पत्ति से वचने का राजमार्ग क्या है, यह बताते हुए उन्होंने लिखा है

"इसलिए राजमार्ग—सैकडो स्त्रियो के लिए निर्भयता से चलने का मार्ग—तो यही है कि पर-पुरुष चाहे जितना सच्चा, सादा, प्रेमल, शुद्ध और आदर्शवादी मालूम हो, तो भी उसके साथ एकान्त मे न रहा जाय, उससे हंसी मजाक न किया जाय, विशेष प्रयोजन के विना उसका अग-स्पर्श न किया जाय या न होने दिया जाय, अर्थात् मर्यादा को लांघ कर उसके साथ वरताव न किया जाय।

"लाखो मनुष्यो में कोई विरले स्त्री-पुरुष ही ऐसे हो सकते हैं, जो मर्यादा के वन्धन में न रहते हुए भी पवित्र रहे। वे अपनी उमर हमेशा पांच वर्ष के बालक जितनी ही अनुभव करते हैं और दूसरे स्त्री-पुरुषो के लिए माता या पिता अथवा लडकी या लडके के सिवा दूसरी दृष्टि को समझ ही नही सकते। ऐसी साध्वी स्त्री या साधु पुरुष पूजने लायक हैं। लेकिन जो कभी भी विकार का अनुभव कर चुके हैं, उन्हे तो भागवत का यह वचन सच मानकर ही चलना चाहिए

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु कोऽन्वखण्डितधी पुमान् ।
ऋषि नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ?

—एक नारायण ऋषि को छोड कर ब्रह्मा, देव, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि मे से कोई एक भी ऐसा है जो सर्जन कार्य में स्त्रीरूपी माया से खडित न हुआ हो ?

"जो पुरुष को लागू होता है, वह स्त्री को भी लागू होता है[2]।"

चौथी बाड़ (ढाल ५) : इन्द्रिय-दर्शन-परिहार

चौथी बाड मे यह शिक्षा है कि ब्रह्मचारी नारी के रूप को 'न निरखे'। 'वराङ्ग दर्शं मा दा'—वह उसके अङ्गो पर दृष्टि न डाले। प्रश्न हो सकता है—स्त्रियाँ सर्वत्र हैं। स्थान-स्थान और घर-घर मे विहार करनेवाला साधु उनके दर्शन से कैसे वच सकता है ? इस नियम का तात्पर्य आचाराङ्ग से स्पष्ट हो जाता है। वहां कहा गया है—"यह सभव नही कि आंखो के सामने आए हुए रूप को कोई न देखे परन्तु भिक्षु उसमें राग-द्वेष न करे[3]।"

स्वामीजी ने 'जोइसे नही धर राग' (५ १), 'निजर भरे ने निरखता रे' (५ ४) आदि वाक्यो द्वारा स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्मचारी को रागपूर्वक, टकटकी लगा कर, नजर गडा कर स्त्री के रूप को नही देखना चाहिए। वह नारी के रूप में मोहित, मूर्च्छित, आसक्त न हो। विना राग-भाव स्त्रियो का दर्शन होता है, वह ब्रह्मचारी के लिए दोषरूप नही माना गया है और ऐसा दर्शन इस बाड का वर्ज्य नही है। इस बाड का प्रतिपाद्य है—'नो तासु चक्खु सधेज्जा'—ब्रह्मचारी स्त्रियो पर चक्षु न साधे—उन पर ताक न लगावे। जो ब्रह्मचारी स्त्रियो के रूप का लोभी होता है और उनके प्रति प्रेमभाव से ताका करता है, उसको भ्रष्ट होते देर नही लगती। रूप मे ऐसे आसक्त मनुष्य के लिए स्वामीजी ने 'चक्षु-कुशील' (५-१०) शब्द का प्रयोग किया है।

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० ३९-४१

२—स्त्री-पुरुष मर्यादा पृ० ४२-४३

३—आचाराङ्ग २।१५

नो सक्का रूवमदट्ठु चक्खुविसयमागय
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥

क्राइस्ट ने कहा है—"तू ने सुना है उन लोगों ने प्राचीन काल में कहा था कि तू पर-स्त्री गमन न कर। परन्तु मैं तुम से कहता हू कि जो व्यक्ति किसी भी स्त्री की ओर काम-वासना से देखता है, वह उसके साथ अपने मन में व्यभिचार कर चुका[1]।" "इसी तरह पैगम्बर मुहम्मद ने कहा है "दूसरे की पत्नी के प्रति काम-भाव से देखना चक्षु का व्यभिचार है और उस बात का कहना, जिसकी मुमानियत है, जिह्वा का व्यभिचार है[2]।"

ब्रह्मचारी के लिए चक्षु-कुशीलता से बचना कितना आवश्यक है, यह क्राइस्ट के दूसरे गूढ वाक्य से प्रकट होगा

"और यदि तेरी दाहिनी आँख अपराध करती हो तो तू उसे अपने अङ्ग से निकाल दे क्योंकि तेरे लिए यह अधिक लाभकर है कि तेरे मानव-गात्र के एक ही अङ्ग का नाश हो, न कि तेरा सारा गात्र नरक में पड जाय[3]।" सूरदास ने तो जैसे इस उक्ति को चरितार्थ कर के ही दिखा दिया। पर इस तरह आखो को निकाल अथवा उन्हे फोड ब्रह्मचर्य की रक्षा का उपाय करना जैन धर्म के अनुसार पुरुषार्थ का द्योतक नहीं है और न वह अभीष्ट और स्वीकृत ही है। इस सम्बन्ध में पैगम्बर मुहम्मद का एक वाक्य बडा बोधप्रद है। "मैंने कहा, 'हे ईश्वर के दूत ! मुझे नपुसक होने की इजाजत दो। उसने कहा, 'वह मनुष्य मेरा नही है जो दूसरे को विकलेन्द्रिय कर देता है अथवा स्वय वैसा हो जाता है। क्योंकि जिस तरीके से मेरे अनुयायी नपुसक बनते हैं वह उपवास और निवृत्ति का है'[4]।"

मन को जीत कर चक्षु को विनीत रखना, यही इस बाड का मर्म है।

'नारी रूप नही निरखणा' (४ दो० १) इसमें रूप शब्द का अर्थ बडा व्यापक है। स्त्रियो की नेत्रादि इन्द्रियाँ, अधर, स्तनादि अङ्ग-प्रत्यङ्ग, लावण्य विलास, हास्य मजुल भाषण, अङ्ग-विन्यास, कटाक्ष, चेष्टा, गति, क्रीडा, नृत्य, गीत, वाद्य, रग-रूप, आकार, यौवन, शृङ्गार आदि को मोह भाव से देखना, उनका अवलोकन करना रूप-कुशीलता है। ब्रह्मचारी को इन सब से दूर रहना चाहिए।

आजकल के सिनेमा, नाट्य, अभिनय, सौन्दर्य-प्रदर्शनियाँ आदि चक्षु कुशीलता की उत्पत्ति के स्थान हैं। इन स्थानो मे जाना इस बाड का भङ्ग करना है। 'चित्तभित्ति न निज्झाए'—इस सूक्ति के आज अधिक पल्लवित रूप में प्रचारित होने की आवश्यकता है।

नारी को जो 'पाश' और 'दीपक' की उपमा दी गई है (५ १,५ २), वह आगम वर्णित है। जैसे हरे जौ के खेत को देख कर मोहित मृग जाल में फस जाता है और दीपक के प्रकाश को देखकर मोहित पतङ्ग उसमें अपने कोमल अङ्गो को जला डालता है, वैसे ही स्त्रियो की मनोहर, मनोरम इन्द्रियो के प्रति मोहित ब्रह्मचारी अपना भान भूलकर ससार के मोह-जाल में फस श्रमणत्व से हाथ धो बैठता है। सूत्रकृताङ्ग मे इसका कारुणिक वर्णन है[5]।

स्त्री के प्रति चक्षु-सयम के लिए पुरुष को जो उपदेश दिया गया है, वही पुरुष के प्रति चक्षु-सयम रखने के लिए स्त्री पर भी लागू होता है। वह भी मृग अथवा पतङ्ग की तरह पुरुष के रूप पर मोहित न हो।

१—St Matthew 5 27-28 Ye have heard that it was said by them of old time, Thou shalt not commit adultery · But I say unto you, That whosoever looketh on a woman to lust after her hath committed adultery with her already in his heart

२—The sayings of Muhammad
Said Lord Muhammad, "Now, the adultery of the eye is to look with an eye of desire on the wife of another , and the adultery of the tongue is to utter what is forbidden (136)

३—St Matthew 5 29 And if thy right eye offend thee, pluck it out, and cast it from thee · for it is profitable for thee that one of thy members should perish, and not that thy whole body should be cast into hell

४—The sayings of Muhammad ·
I said, " O Messenger of God, permit me to become a eunuch " He said, "That person is not of me who maketh another a eunuch, or becometh so himself, because the manner in which my followers become eunuchs is by fasting and abstinence " (152)

५—सूत्र० १।४ २ १-१८

रूप के प्रति आसक्ति भाव को दूर करने के लिए अशुचि भावना के चिन्तन का मन्त्र दिया गया है (५.६-८)। यह मत्र बौद्ध धर्म में 'कायगता-स्मृति' नाम से विख्यात है[१]।

विषय को हृदयगम कराने की दृष्टि से इस ढाल में रथनेमि, रूपी राय, इलाची पुत्र, मनरथ, अरणक आदि की कथाओ की ओर सकेत कर बताया गया है कि नारी के रूप-अवलोकन से ब्रह्मचारी का कैसे पतन होता है। क्षत्रिय और चोरो का दृष्टान्त, कच्ची कारी और सूर्य-प्रकाश के दृष्टान्त बडे हृदयग्राही हैं।

दशवैकालिक मे कहा गया है—"नारी पर नेत्र पड जाय तो जैसे उन्हे सूर्य की किरणो के सम्मुख से हटा लेते हैं, उसी तरह शीघ्र हटा ले (टि० ३ पृ० ३३)।" सूत्रकृताङ्ग मे कहा है—"भिक्षु स्त्रियो पर चक्षु न साधे। इस प्रकार साधु अपनी आत्मा को सुरक्षित रख सकता है[२]।"

'अदर्शन' को ब्रह्मचारी के लिए हमेशा हितकर कहा है (टिप्पणी १ पृ०३३)। अन्य धर्मों में भी इसका उल्लेख है। बुद्ध मृत्यु-शय्या पर थे तब उनसे बौद्ध भिक्षुओ ने पूछा—"भन्ते। स्त्रियो के साथ हम कैसा वर्ताव करेंगे?" "अदर्शन (न देखना) आनन्द।" "दर्शन होने पर भगवन् कैसे वर्ताव करेंगे?" "आलाप (वात) न करना, आनन्द।" "वात करनेवाले को कैसा करना चाहिए?" "स्मृति (होश) को सभाल रखना चाहिए[३]।"

दक्षस्मृति मे 'दर्शन' या 'प्रेक्षण' को आठ मैथुनो मे चौथा मैथुन कहा गया है और प्रेक्षण से दूर रहकर ब्रह्मचर्य के पालन करने का कहा गया है[४]।

महात्मा गांधी एक प्रश्न का उत्तर देते हुए इस वाड के विषय पर लिखते हैं "कहा गया है कि ऐसा ब्रह्मचर्य यदि किसी तरह प्राप्त किया जा सकता हो तो कदराओ मे रहनेवाले ही कर सकते होंगे। ब्रह्मचारी को तो, कहते हैं, स्त्रियो का स्पर्श तो क्या, उनका दर्शन भी कभी नही करना चाहिए। निस्सदेह किसी ब्रह्मचारी को काम-वासना से किसी स्त्री को न तो छूना चाहिए, न देखना चाहिए और न उसके विषय में कुछ कहना या सोचना चाहिए। लेकिन ब्रह्मचर्य विषयक पुस्तको मे हमें यह वर्णन जो मिलता है उसमें इस महत्वपूर्ण अव्यय 'काम-वासना पूर्वक' का उल्लेख नही मिलता। इस छूट की वजह यह मालूम पडती है कि ऐसे मामलो में मनुष्य निष्पक्ष रूप से निर्णय नही कर सकता और इसलिए यह नही कहा जा सकता कि कब तो उस पर सपर्क का असर पडा और कब नही। काम-विकार अक्सर अनजाने ही उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए दुनिया मे आजादी से सबके साथ हिलने-मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर संसार से नाता तोड लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता हो तो उसका कोई विशेष मूल्य भी नही है[५]।"

स्वामीजी ने अदर्शन का अर्थ रागपूर्वक न ताकना ही किया है, यह हम ऊपर स्पष्ट कर आये हैं। आगमो में भी अदर्शन के पीछे यही भावना है, वैसी हालत में जैन और गांधीजी की विचारधारा में अन्तर नही परन्तु अद्भुत साम्य ही है। जैन धर्म ने कन्दराओ में बैठकर ब्रह्मचर्य साधने की वात पर कभी वल नही दिया। अत· महात्मा गांधी की आलोचना शील की नौ वाड में अदर्शन का जैसा रूप जैनो द्वारा अकित है उसके प्रति नही पडती।

१—सुत्तनिपात १ ११, विशुद्धि मार्ग (पहला भाग) : परिच्छेद ८ पृ० २१८-२६०

२—सूत्रकृताङ्ग १।४.१ ५ :
नो तासु चक्खु सधेज्जा
एवमप्पा सरक्खिओ होइ

३—दीघनिकाय (महापरिनिव्वाण सुत्त) २.३ पृ० १४१

४—दक्षस्मृति ७ ३२

५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२

महात्मा गांधी लिखते हैं—"जो व्यक्ति परम रूपवती रमणी को देखकर अविचल नही रह सकता, वह ब्रह्मचारी नही[1] ।" "स्त्री पर नजर पड़ते ही जिसे विकार हो जाता है वह ब्रह्मचारी नही। उसके लिए सजीव पुतली और काष्ठ की निश्चेष्ट पुतली एक-सी होनी चाहिए[2] ।"

महात्मा गांधी ने जो बात यहाँ कही है, वह आदर्श ब्रह्मचारी की कसौटी है। जो अप्सरा को देख कर भी विचलित न हो, वह ब्रह्मचारी है।

कवि रायचद्र ने भी कहा है

> निरखी ने नवयौवना लेश न विषय विकार ।
> गणे काष्ठ नी पुतली ते भगवान समान ॥

ब्रह्मचारी स्त्रियो को देख नही सकता—बाड इस रूप में नही है, पर वह उन्हे मोहपूर्वक न देखे—इस रूप मे है। जैसे स्त्री पर नजर पड़ते ही जिसे विकार हो जाता है, वह ब्रह्मचारी नही वैसे ही जो स्त्री को मोह-भाव मे ताकता रहता है, वह भी ब्रह्मचारी नही है।

विनोबा लिखते हैं "ब्रह्मचारी की दृष्टि यह नही होनी चाहिए कि वह स्त्री को देख ही नही सकता। एक दफा साबरमती आश्रम में—'नाहं जानामि केयूरे, नाहं जानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि, नित्य पादाभिवन्दनात्[3]' वाक्य पर चर्चा चली। बापू तो क्रान्तिकारी ही थे। उन्होने कहा कि 'लक्ष्मण का यह वाक्य मुझे अच्छा नही लगता।' फिर उन्होने मुझसे पूछा कि 'तेरी इस पर क्या राय है?' तो मैंने कहा कि 'आप ने जिस दृष्टि से वह वाक्य नापसन्द किया, वह दृष्टि हो, तो वह वाक्य नापसन्द करने ही लायक है कि लक्ष्मण ब्रह्मचारी था और उसने सीता का मुख ही नही देखा था। अगर ब्रह्मचारी ऐसी मर्यादा से रहे कि वह स्त्री का मुख ही नही देखता, तो वह गलत बात है।' इसलिए जहाँ ब्रह्मचारी के मन में यह भावना आयी कि सामने जो स्त्री आयी है, उसे मैं नही देख सकता हूँ, तो वह उसकी कमी मानी जायगी[4] ।"

विनोबा भावे के कथनानुसार भी यही है कि ब्रह्मचारी स्त्री को न देख सके, ऐसी बात नही पर वह आसक्तिपूर्वक न देखे। आँख के सयम के विषय मे महात्मा गांधी ने लिखा है

"आंख को निश्चल और अच्छा रखना चाहिए। आंख सारे शरीर का दीपक है, और शरीर का उसी तरह आत्मा का दीपक है, ऐसा कहें तो भी चल सकता है, कारण जब तक आत्मा शरीर मे बसता है तब तक उसकी परीक्षा आँख से हो सकती है। मनुष्य अपनी वाचा से कदाचित् आडम्बर कर अपने को छिपा सकता है, परन्तु उसकी आंख उसका उघाड कर देगी। उसकी आंख सीधी, निश्चल न हो तो उस के अन्तर की परख हो जायगी। जिस प्रकार शरीर के रोग जीभ की परीक्षा कर परखे जा सकते हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक रोग आँख की परीक्षा कर परखे जा सकते हैं[5]।"

पाँचवीं बाड़ (ढाल ६) : शब्द-श्रवण का परिहार

इस बाड मे स्त्रियो के कूजन, रुदन, गीत, हास्य, विलास, क्रन्दन, विलाप, प्रेम आदि के शब्द सुनने का निषेध है। ब्रह्मचारी सभोग समय के स्त्री-पुरुष के प्रेमालाप के शब्दो को न सुने। ऐसे शब्दो के सुनने मे ब्रह्मचारी की कैसी दशा होती है, इसे समझाने के लिए स्वामीजी ने मेघ-गर्जन और मोर तथा पपीहा का दृष्टान्त दिया है, जो मौलिक होने के साथ-साथ अत्यन्त सगत भी है। जैसे मेघ से भरे बादलो के गर्जन को सुन कर मोर और पपीहा, विकार ग्रस्त होकर नाचने लगते हैं, वैसे ही भोग-समय के नाना प्रकार के शब्दो को सुनने से मन चञ्चल होने की सभावना रहती है। इसलिए ऐसे स्थानो में जहाँ कि सयोगी स्त्री-पुरुषो के विषयोत्पादक शब्द कानो मे गिरते हो, वहाँ ब्रह्मचारी न रहे।

स्मृतियो में ब्रह्मचारी को 'गीतादिनिस्पृह' रहने का उपदेश है[6]।

१—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ५४

२—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४३

३—रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजी को लका की ओर के रास्ते में फेंके हुए गहने दिखाये और पूछा कि क्या ये गहने सीता के है ? लक्ष्मण ने कहा था—"केयूर और कुण्डल को तो मै नहीं पहिचानता हूँ लेकिन नूपुरों को पहिचानता हूँ क्योंकि मैं प्रतिदिन सीताजी की पद-वन्दना करता रहा।"

४—कार्यकर्ता-वर्ग पृ० ४०-४१

५—व्यापक धर्मभावना (गु०) पृ० १६५

६—उशनस्मृति ३ २०:

अनन्यदर्शी सतत भवेद् गीतादिनि स्पृह

छठी बाड़ (ढाल ७) : पूर्व-क्रीड़ाओं के स्मरण का वर्जन

इस वाड का विषय है 'रत वृत्तं मा स्मरस्मार्य'—सेवित क्रीडाओ का स्मरण न कर।

स्मृतियो मे 'स्मरण' को मैथुन का प्रकार कहा है। ब्रह्मचारी के लिए पूर्व रति, पूर्व क्रीडा के स्मरण का निषेध है। ब्रह्मचारी स्त्री के साथ भोगे हुए भोग, हास्य, क्रीडा, मैथुन, दर्प, सहसा वित्रासन आदि के प्रसगो का चिन्तन न करे। वह मनोहर गीत, वाद्य, नाटक आदि की स्मृति न करे। ब्रह्मचारी चचल मन को वश मे रखे—यही इस वाड का मर्म है।

स्वामीजी ने पूर्व वाडो के साथ इस वाड का सम्बन्ध बडे सुन्दर ढग से बतलाया है। पाँचवी वाड में कामोद्दीपक शब्द सुनने का वर्जन है, चौथी वाड मे रूप देखने का वर्जन है। तीसरी वाड मे स्पर्श का वर्जन है। दूसरी वाड में स्त्री-कथा का वर्जन है। इस वाड में पूर्व में भोगे शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के अनुस्मरण का निषेध है। इन पाँच प्रकार के कामभोगो में से किसी एक भी प्रकार के कामभोग का स्मरण इस छठी वाड का उल्लघन है। स्वामीजी ने बतलाया है कि पाल के टूटने पर जैसे जल-प्रवाह नही रुकता, उसी तरह वाड के भङ्ग होने पर काम-विकार को रोकना असभव होता है।

स्वामीजी ने सातवी ढाल मे इस वाड का विवेचन करते हुए तीन दृष्टान्त या कथाएँ दी है जो, परिशिष्ट में दे दी गई हैं।

सातवीं और आठवीं बाड़ (ढाल ८ और ९) : सरस आहार और अति आहार का वर्जन

ब्रह्मचर्य महाव्रत की पाँच भावनाओ मे एक भावना प्रणीत, स्निग्ध, दर्पकारी आहार-वर्जन पर जोर देती है। सयमी को ऐसा आहार करना चाहिए जिससे सयम-यात्रा का निर्वाह हो, मोह का उदय न हो और ब्रह्मचर्य धर्म से वह न गिरे। उसके लिए नियम है—'वृष्यमा भज।' दूध दही, घृत आदि युक्त कामोद्दीपक आहार न करे। इस महाव्रत की अन्य भावना कहती है—विभ्रम न हो, धर्म से भ्रश न हो आहार उतनी ही मात्रा मे होना चाहिए। जो इन नियमो से युक्त होता है, उसकी अन्तर आत्मा आगम में ब्रह्मचर्य में तल्लीन, इन्द्रियो के विषयो मे निवृत्त, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय से युक्त कही गयी है।

सरस मसालेदार उत्तेजक आहार का वर्जन सातवी वाड और अति आहार का वर्जन आठवी वाड का विषय है। सरस और अति आहार की आत्मिक और शारीरिक बुराइयो को दिखाते हुए स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य-रक्षा के इन नियमो पर हृदयग्राही प्रकाश डाला है।

ब्रह्मचारी शरीर मे आसक्त न हो। वह वर्ण के लिए, रूप के लिए, बलवीर्य की वृद्धि के लिए या विषय-सेवन की लालसा से भोजन न करे। केवल सयमी जीवन की जरूरी क्रियाओ के सम्यक् पालन की दृष्टि से सहभूत शरीर के निर्वाह की दृष्टि रखे।

जिस तरह धूरा मे तेल डाला जाता है और घाव पर औषधि का लेप किया जाता है, उसी तरह देह में अमूर्छित ब्रह्मचारी केवल सयम-यात्रा के निर्वाह के लिए ही सादा और परिमित आहार करे। स्वाद के लिए नही। उत्तराध्ययन सूत्र (३५ १७) मे कहा है

अलोले न रसे गिद्धे, जिब्भादते अमुच्छिए।
न रसट्ठाए भुजिज्जा, जवणट्ठाए महामुणी॥

आहार के विषय मे ब्रह्मचारी इन्ही सूत्रो पर दृष्टि रखता हुआ चले। यह आगम की वाणी है।

(१) बंधन की कथा

ज्ञाता धर्म मे दो कथाएँ हैं जो इस आदर्श पर गभीर प्रकाश डालती हैं। पहली कथा के विषय में काका कालेलकर लिखते हैं—"आत्मा अनात्मा का भेद जान लेने के पश्चात् हमारी सम्पूर्ण निष्ठा आत्मतत्त्व पर होते हुए भी अनात्मतत्त्व—शरीर को अनासक्त भाव से निभाये बिना छुटकारा नही, यह वस्तु सार्थवाह धन्य और विजय चोरवाली वार्ता में जिस प्रकार बतायी गयी है, वैसे असरकारक ढग से बताई गई अन्यत्र कहाँ मिलती है?"[1] सक्षेप में यह कथा इस प्रकार है

राजगृह में धन्य नामक एक सार्थवाह रहता था। उसकी भार्या का नाम भद्रा था। देवताओ की मनौतियाँ मनाते-मनाते उनके एक पुत्र हुआ। उसका नाम उन्होने देवदत्त रखा। सार्थवाह के पथक नामक एक दासपुत्र था। वह देवदत्त को खिलाया करता। राजगृह के बाहर विजय नामक एक तस्कर रहता था। एक दिन पथक बालक को अकेला छोड, अन्य बालको के साथ खेलने लगा। विजय बालक को उठा ले गया। और उसके शरीर से गहने उतार उसे मार मालुकाकच्छ में छिप गया। पथक ने आकर सारी बात सार्थवाह से कही। कोतवाल चोर के पाद-चिन्हो की खोज करता हुआ मालुकाकच्छ पहुँचा। वहा उसने विजय चोर को पकड लिया। बालको के चोर, बालको के घातक उस विजय

१—भगवान महावीर नी धर्मकथाओ दृष्टि अने बोध पृ० १६ का अनुवाद

चोर को कैदखाने में डाल दिया गया। भाग्यवश कुछ दिनो बाद सार्थवाह भी किसी राज्य-अपराध मे पकडा गया। राजा ने विजय चोर के साथ एक ही बेडी मे उसे बाध रखने का हुक्म दिया। भद्रा ने पथक के साथ सार्थवाह के भोजन के लिए आहार भेजा। सार्थवाह को भोजन करते देख विजय चोर बोला—"इस विपुल भोजन-सामग्री में से मुझे भी कुछ दो।" तब सार्थवाह बोला—"मैं बची हुई सामग्री को कौओ और कुत्तो को खिला दूंगा, परन्तु तुम जैसे पुत्रघातक वैरी, प्रत्यनीक और अमित्र को तो एक भी दाना नही दूगा।"

सार्थवाह को शौच और लघुशका की हाजत हुई। सार्थवाह बोला—"विजय! एकान्त मे चलो जिससे मैं हाजत पूरी कर सकूं।" विजय बोला—"भोजन तो तुमने किया है। मैं तो भूखा-प्यासा ही हूं। मुझे हाजत नही। तुम अकेले ही एकान्त मे जाकर हाजत पूरी करो।" दोनो एक ही बेडी मे बधे हुए थे। सार्थवाह की अकल ठिकाने आ गई। मन न होते हुए भी परवशता से सार्थवाह ने विजय चोर को आहार तथा जल देना स्वीकार किया। विजय चोर और सार्थवाह दोनो एक साथ एकान्त मे गये। सार्थवाह ने अपनी हाजत पूरी की। सार्थवाह विजय चोर को रोज अपने भोजन मे से कुछ आहार देता। यह बात पथक के जरिए भद्रा के कानो तक पहुँची। अवधि समाप्त होने पर सार्थवाह कैद से मुक्त हुआ और घर पहुँचा। सबने उसका स्वागत किया पर भद्रा ने न उसका स्वागत किया और न उससे बोली। सार्थवाह ने इसका कारण पूछा तब भद्रा बोली—"आपके आने का मुझे हर्ष कैसे हो? आप तो मेरे पुत्र के प्राण-हरण करनेवाले विजय तस्कर को आहार देते रहे।" सार्थवाह बोला—"मैंने उसे धर्म समझकर नही दिया, कृतज्ञता के भाव से नही दिया, लोक-यात्रा के लिए नही दिया, न्याय समझ कर नही दिया, बान्धव समझ कर नही दिया केवल एकमात्र शरीर-चिन्ता से दिया। विजय चोर के साथ दिये बिना लघुशका जैसी जरूरी हाजतो को दूर करने के लिए एकान्त मे जाना भी मेरे लिए असम्भव था।" यह सुन भद्रा शात और प्रसन्न हुई[1]।

इस कथा का उपनय यह है विजय चोर और सार्थवाह की तरह पौद्गलिक शरीर और अजर अमर आत्मा केवल कर्म सयोग से जुड़े हुए हैं। सार्थवाह को विजय चोर की जरूरत हुई, उसी तरह शरीर और आत्मा का बन्धन होने से आत्मा को शरीर के सहचार की भी जरूरत होती है। जीवन-रक्षा के लिए सार्थवाह को विजय चोर का पोषण करना पडा, उसी तरह आत्मा के उद्धार के लिए—सयम-यात्रा के योगक्षेम के लिए मोक्षार्थी को शरीर की आवश्यकता भी पूरी करनी पडती है।

यह शरीर विजय चोर की तरह विषय-सेवन का आधार है। विभूषा और स्त्री-ससर्ग का त्याग करदेनेवाला ब्रह्मचारी सद्गुणो की उपासना तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की आराधना के लिए ही शरीर का पोषण करने की दृष्टि रखे।

(२) सुंसुमा दारिका की कथा

दूसरी कथा सुसुमा दारिका की है। वह सक्षेप मे इस प्रकार है

राजगृह मे धन्य सार्थवाह रहता था। उसकी भार्या का नाम भद्रा था। उनके एक पुत्री थी जिसका नाम सुसुमा था। उस सार्थवाह के चिलाति नामक दासचेटक था। वह सुसुमा को रखता था।

चिलाति बडा नटखट और दुष्ट था। पडोसियो की शिकायत के कारण सार्थवाह ने चिलाति की भर्त्सना कर उसे घर से निकाल दिया। चिलाति इधर-उधर भटकता हुआ मद्यपी, चोर, मांसभोजी, जुआरी, वेश्यागामी और परदार-आसक्त हो गया।

राजगृह के बाहर सिंहगुफा नामक एक चोर पल्ली थी। वहाँ विजय नामक चोर सेनापति अपने पांच सौ चोर साथियो के साथ रहता था। चिलाति विजय सेनापति का यष्टि धारक हो गया। विजय की मृत्यु के बाद वह चोरो का सेनापति हुआ। उसने सुसुमा के हरण का विचार कर सार्थवाह के घर पर छापा मारा। सार्थवाह भयभीत हो अपने पांचो पुत्रो के साथ एकान्त मे जा छिपा। विपुल धन-सम्पत्ति और सुसुमा को ले चिलाति चोर पल्ली की ओर अग्रसर हुआ।

सार्थवाह नगर-रक्षको के पास पहुँचा और उसने उनसे सहायता मांगी। नगर-रक्षको ने चिलाति का पीछा किया और उसके नजदीक पहुँच उससे युद्ध करने लगे। चोर क्षतविक्षत हो, धन फेंक दिशा-विदिशाओ मे भाग गये। नगर-रक्षक धन ले लौट गये। अपनी सेना को क्षतविक्षत देख चिलाति सुसुमा को ले जगल मे घुस गया। सार्थवाह अपने पांचो पुत्रो सहित उसका पीछा करता रहा। चोर सेनापति थक कर क्लान्त हो गया। उसने खड्ग निकाल सुसुमा का शिरच्छेद कर दिया और शव को वही छोड मस्तक को हाथ मे ले निर्जन वन मे घुस गया।

सार्थवाह और उसके पाचो पुत्र पीछे दौडते-दौडते तृषा और भूख से व्याकुल हो गये। सुसुमा का सिर कटा देख कर तो उनके शोक-सताप का कोई ठिकाना नहीं रहा।

१—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग अ० २ विस्तृत कथा के लिए देखिए—लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ३-१५

अटवी मे चारो ओर खोज करने पर भी कही जल नही मिला। सार्थवाह बोला—"हमलोग ऐसे तो राजगृह पहुँचने से रहे। तुम लोग मुझे मार मांस और रुधिर का आहार कर अटवी को पार करो।" पर यह किसी भी पुत्र को स्वीकार नही हुआ। पुत्रो ने भी अपनी-अपनी ओर से ऐसा ही प्रस्ताव किया, पर किसी का भी प्रस्ताव दूसरो द्वारा स्वीकृत नही हुआ। अब धन्य सार्थवाह बोला "पुत्रो! सुसुमा का शरीर जीव-रहित है। हम इसके मांस और रुधिर का आहार करें।" सब ने अग्नि कर सुसुमा के मांस को पका उसका आहार किया और रुधिर पी प्यास मिटाई। इस तरह वे राजगृह पहुँच सबसे मिले।

जिस तरह धन्य सार्थवाह ने शरीर की आवश्यकता को पूरी करने तथा राजगृह पहुँचने के लिए ही चोर को आहार दिया और मृत-पुत्री के मांस और लोही का भक्षण किया। उसी तरह ब्रह्मचारी श्रमण औदारिक शरीर के वर्ण, रूप, रस, बल और विषय-वृद्धि के लिए आहार नही करते—सयम-यात्रा के लिए शरीर को टिकाए रखने की दृष्टि से आहार करते है[1]।

स्वामीजी ने ब्रह्मचारी के लिए ऊनोदरी को उत्तम तप बतलाया है। खुराक मे कम भोजन करना—पेट को खाली रखना बिना वैराग्य के नही होता और वैराग्य ही ब्रह्मचर्य की मूल भित्ति है। महात्मा गाधी ने कहा है: "स्वाद का सच्चा स्थान जीभ नही बल्कि मन है[2]।' जो ऊनोदरी करता है, वह मन को जीतता है, स्वाद पर विजय प्राप्त करता है।

आचाराङ्ग में कहा है: "विषयो से पीडित ब्रह्मचारी निर्बल—नि सत्व आहार करे, कम खाये [3]।" इस तरह सरस आहार और अति आहार का वर्जन ब्रह्मचर्य की साधना के अनिवार्य अङ्ग हैं। इन नियमो का पालन न करने मे किस प्रकार पतन होता है, इसका अतीव सुन्दर वर्णन स्वामीजी की ढालो में है

"घृतादि से परिपूर्ण गरिष्ठ आहार अत्यधिक धातु-उद्दीपन करता है, जिससे विकार की वृद्धि होती है। खट्टे, नमकीन, चटपटे और मीठे भोजन तथा जो विविध प्रकार के रस होते हैं, उनका जिह्वा आस्वाद लेती है। जिसकी रसना वश में नही, वह सरस आहार की चाह करता है। परिणाम स्वरूप व्रत भङ्ग कर ब्रह्मचारी सारभूत ब्रह्मचर्य व्रत को खो देता है (पृ० ४५)। गा० १४ मे सन्निपात के रोगी का उदाहरण देकर इस बात को हृदयग्राही ढग से बतलाया है कि सरस आहार से किस तरह विकार की वृद्धि होती है। अति आहार से विषय-विकार की वृद्धि होती है, इससे भोग अच्छे लगने लगते हैं। ध्यान विकार ग्रस्त होता है। स्त्री मन को भाने लगती है। शील पालूँ या नही, ऐसी डाँवाडोल स्थिति हो जाती है। इस तरह क्रमश. पतन होता है (पृ० ५३)।

महात्मा गांधी लिखते हैं—"मिताहारी बनिए, सदा थोडी भूख बाकी रहते ही चौके पर से उठ जाइए[4]।" "अधिक मिर्च-मसालेवाली और अधिक घी-तेल में तली-पकी साग-भाजियो से परहेज रखिए" । जब वीर्य का व्यय थोडा होता है तब थोडा भोजन भी काफी होता है[5]।"

"इन्द्रियो में मुख्य स्वादेन्द्रिय है। जो अपनी जिह्वा को कब्जे में रख सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुगम हो जाता है[6]। पर हम तो अनेक चीजो को खा-खा कर पेट को ठसाठस भरते हैं और फिर कहते हैं कि ब्रह्मचर्य का पालन नही हो पाता। विकारोत्तेजक वस्तुएँ खाने-पीने वाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने की आशा ही न रखनी चाहिए।"

"मेरा अपना अनुभव तो यह है कि जिसने जीभ को नही जीता, वह विषय-वासना को नही जीत सकता। जीभ को जीतना बहुत ही कठिन है। पर इस विजय के साथ ही दूसरी विजय मिलती है। जीभ को जीतने का एक उपाय तो यह है कि मिर्च-मसाले का बिल्कुल या जितना हो सके त्याग कर दिया जाय। दूसरा उससे अधिक बलवान उपाय यह है कि मन मे सदा यह भाव रखे कि हम केवल शरीर के पोषण

१—ज्ञाताधर्मकथाङ्ग अ० १८ देखिए लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ७६

२—आत्मकथा भा० १ अ०१७ पृ० ६४

३—आचाराङ्ग १।५ ४ उब्बाहिज्जमाणे गामधम्मेहि अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा

४—अनीति की राह पर वीर्यरक्षा पृ० ११०

५—वही पृ० ११०

६ —ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ०११

के लिए खाते हैं, स्वाद के लिए कभी नही खाते। हम हवा स्वाद के लिए नही लेते, बल्कि सांस लेने के लिए लेते हैं। पानी जैसे सहज प्यास बुझाने के लिए पीते हैं, वैसे ही अन्न केवल भूख मिटाने के लिए खाना चाहिए[1]।"

"ब्रह्मचर्य से अस्वाद व्रत बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरा अनुभव ऐसा है कि इस व्रत का पालन किया जा सके तो ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-सयम बिलकुल सहज हो जाता है।

"जिस तरह दवा खाते समय वह स्वादिष्ट है या नहीं, इसका विचार नहीं करते, बल्कि शरीर को उसकी आवश्यकता है, यह समझ कर उसे उचित परिणाम मे खाते हैं, उसी तरह अन्न के विषय मे समझना चाहिए।

"जो मनुष्य अत्याहारी है, जो आहार मे कुछ विवेक या मर्यादा ही नही रखता, वह अपने विकारो का गुलाम है। जो स्वाद को नही जीत सकता, वह कभी इन्द्रियजीत नही हो सकता। इसलिए मनुष्य को युक्ताहारी और अल्पाहारी बनना चाहिए। शरीर आहार के लिए नही बना, आहार शरीर के लिए बना है[2]।" "ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय 'जीभ' को वश मे करना ही होगा। मैंने खुद अनुभव करके देखा है कि जीभ को जीत लें तो ब्रह्मचर्य का पालन बहुत आसान हो जाता है[3]"

महावीर और स्वामीजी ने जो कहा है, दूसरे शब्दो मे महात्मा गांधी ने भी वही कहा है। महात्मा गाधी ने आश्रमव्रतो में अस्वाद को जोडा। जैन धर्म मे उस पर पहले से ही अत्यधिक बल दिया हुआ है।

महात्मा गाधी लिखते हैं" मेरे भोजन विषयक प्रयोग ब्रह्मचर्य की दृष्टि से भी होने लगे। मैंने प्रयोग करके देख लिया कि हमारी खुराक थोडी, सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए और प्राकृतिक अवस्था मे खाई जानी चाहिए। अपने विषय में तो मैंने छ वर्ष तक प्रयोग कर देख लिया है कि ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल हैं। फलाहार के समय ब्रह्मचर्य सहज था। दुग्धाहार से वह कष्ट-साध्य हो गया। दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस विषय मे मुझे तनिक भी शंका नही[4]।" " अपने विकारो को शान्त करना चाहता हो उसे घी-दूध का इस्तेमाल थोडा ही करना चाहिए। वनपक्व अन्न खा कर निर्वाह किया जा सके तो आग पर पकाई हुई चीजे न खाये या थोडा खायें[5]।"

आगमो मे ब्रह्मचारी साधु के लिए दूध, दही, घी, नवनीत, तेल, गुड, खाण्ड, शक्कर, मधु, मद्य, मांस, खाजा आदि विकृतियो से रहित भोजन का विधान है। ब्रह्मचारी इनका रोज-रोज आहार न करे और अति मात्रा मे तो उनका आहार करे ही नही। कच्चे वनपक्व फल अथवा सब्जियो का सीधा व्यवहार अहिंसा की दृष्टि से निर्ग्रंथ साधु मात्र के लिए वर्ज्य है। वैसी हालत में प्रासुक वस्तुओ मे से ब्रह्मचारी अपने लिए रूक्ष आहार प्राप्त कर कम मात्रा मे खाये।

धम्मलद्धं मियं काले, जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा, बम्भचेररओ सया[6] ॥

मनुस्मृति मे कहा है—"मधु मांसञ्च वर्जयेत्"—ब्रह्मचारी मदिरा और मांस का वर्जन करे।

गीता मे अति कटु, अति खट्टा, अति नमकीन, अति उष्ण, अति तीक्ष्ण, रूक्ष और अत्यन्त दाह करनेवाले आहार को राजस कहा गया है। उसे दु:ख, शोक और रोगप्रद कहा है[7]।

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ११-१२

२—वही पृ० १०५

३—अनीति की राह पर पृ० १२५

४—वही पृ० १२५-६

५—वही पृ० १२६

६—उत्तराध्ययन १६.८

७—गीता १७.९

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन ।
आहारा राजसस्येष्टा दु:खशोकामयप्रदा ॥

नवा बाड़ (ढाल १०) : विभूषा-परिवर्जन

नवी वाड मे शरीर शृगार का निषेध किया गया है। ब्रह्मचारी अभ्यङ्गन, मर्दन, विलेपन न करे। चटकीले-भडकीले, खूव स्वच्छ वस्त्रो को न पहने। आभूषण धारण न करे। दांतो को न रगे। केशो को न सवारे। गन्ध-माल्य को धारण न करे। अञ्जन न लगावे। जूता और छाता धारण न करे। आगम मे विभूषा को तालपुट विष की तरह कहा है। वहाँ कहा है "वनाव-ठनाव करनेवाला ब्रह्मचारी स्त्रियो की कामना का विषय हो जाता है अत वह विभूषानुपाती न हो।" स्वामीजी ने दृष्टान्त दिया है—"जैसे रङ्क के हाथ मे रहे हुए रत्न को राजकर्मचारी छीन लेते हैं, वैसे ही स्त्री शौकीन ब्रह्मचारी के ब्रह्मचर्य-रत्न को छीन कर उसे खाली हाथ कर देती है।"

एकबार टॉल्स्टॉय से पूछा गया—"विकार से झगडने का कोई उपाय वताइए।" उन्होने कहा—"ठीक है, परिश्रम, उपवास आदि छोटे उपायो मे सब से अधिक कारगर उपाय है दारिद्रय—निर्धनता, वाहर से भी अकिंचन दिखाई देना जिससे मनुष्य स्त्रियो के लिए आकर्षण की वस्तु न रहे[1]।" टॉल्स्टॉय ने जो कहा वह आगम-वाणी से शब्दश मिलता है—'विभूसावत्तिए विभूसिय सरीरे इत्थिजणस्य अभिलसणिज्जे हवइ।'

यह नियम भी स्त्री और पुरुष दोनो के लिए लागू है।

टॉल्स्टॉय कहते हैं "स्त्रियो मे निर्लज्जता वढती जाती है। कुलीन स्त्रियाँ नीच कुलटाओ की देखादेखी नित्य नये फैशन सीखती जाती हैं और पुरुषो के चित्त मे काम की आग भडकानेवाले अपने अङ्गो का प्रदर्शन करने मे जरा भी नही हिचकिचाती। क्या यह पतन का सीधा मार्ग नही है[2]?"

आगम में कहा है—"जो शौकीन स्त्री-पुरुष एक दूसरे के काम्य वनते हैं उन्हे अपने व्रत में शका उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगो की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नही ऐसी विचिकित्सा—विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है। उनके उन्माद और दूसरे बडे रोग हो जाते हैं और अन्त मे चित्त-समाधि भङ्ग होने मे केवलि-भाषित धर्म से भ्रष्ट होते हैं[3]।"

स्मृतियो में कहा गया है—"ब्रह्मचारी दर्पण मे मुँह न देखे, दातुन न करे, शरीर की शोभा का त्याग करे[4]। वह सुगन्धित द्रव्य—गन्ध और पुष्पो की माला का वर्जन करे। शरीर में तेल लगाना, मञ्जन करना, आँखो में अञ्जन देना, जूता और छाता धारण करना तथा नर्त्तन, गीत और वादन का वर्जन करे[5]।" यह वही वात है जो जैन आगमो में कही गयी है।

यहाँ यह ध्यान देने की वात है कि उत्कृष्ट ब्रह्मचारी के लिए जैन आगमो की तरह[6] वैदिक ग्रथो मे भी दंत-मजन, दंत-प्रक्षालन और दातुन का निषेध है। जैन आगमो में स्नान का वर्जन है[7] पर वैदिक साहित्य मे स्नान करना अनिवार्य है।

१—स्त्री और पुरुष पृ० ५५

२—वही पृ० ६

३—देखिए पृ० ६३, टि० ४

४—औशनस्मृति ३ २०

अनन्यदर्शी सतत भवेद् गीतादिनि स्पृह ।
नादर्शं चैव वीक्षेत न चरेद्दन्तधावनम् ॥

५—(क) वर्जयेत्मधुमांसञ्च, गन्ध माल्य तथा स्त्रिय ।

(ख) अभ्यङ्गमञ्जन चाक्ष्णोरुपं नच्छत्र धारणम् ।
काम क्रोधञ्चलोभ च, नर्त्तन गीतवादनम् ॥

(ग) वशिष्ठ स्मृति ७ ११ खट्वाशयनदन्तप्रक्षालनाञ्जनाभ्यञ्जनोपानच्छत्रवर्जी

६—(क) दशवकालक ३ ३,९

(ख) सूत्रकृताङ्ग १। ९ १३, २। १ १५

(ग) नि १५ का १३१-१३३

७—(क)दशवैकालिक ३।२, उत्त० १५।८, आचा० २।२।२।१,

(ख)सूत्र० १।९।१३; उत्त० २।९, सूत्र० १।७।२१, २२

टॉल्स्टॉय लिखते हैं—"सभी बाह्य इन्द्रियो को लुभानेवाली चीजो मे विकार उत्पन्न होता है । घर की सजावट, चमकीले कपडे, सङ्गीत, सुगन्ध, स्वादिष्ट भोजन, मृदुल स्पर्शवाली चीजे—सभी विकारोत्तेजक होती हैं[१] ।"

एकबार लडकियाँ लडको की हरारतो से अपना बचाव कैसे करें—यह प्रश्न महात्मा गांधी के सामने आया । इन हरकतो का आधार कुछ अश मे स्वय लडकियाँ ही किस प्रकार हैं, यह बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा

"मुझे डर है कि आजकल की लडकी को भी तो अनेको की दृष्टि मे आकर्षक बनना प्रिय है । वे अति साहस को पसद करती हैं । आज-कल की लडकी वर्षा या धूप मे बचने के उद्देश्य से नही, बल्कि लोगो का ध्यान अपनी ओर खीचने के लिए तरह-तरह के भडकीले कपडे पहनती है । वह अपने को रगकर कुदरत को भी मात करना और असाधारण सुन्दर दिखाना चाहती है । ऐसी लडकियो के लिए कोई अहिंसात्मक मार्ग नही है । हमारे हृदय मे अहिंसा की भावना के विकास के लिए भी कुछ निश्चित नियम होते हैं । अहिंसा की भावना बहुत महान् प्रयत्न है । विचार और जीवन के तरीके मे यह क्रांति उत्पन्न कर देता है । यदि लडकियाँ बताये गये तरीके से अपने जीवन को बिल्कुल ही बदल डाले तो उन्हे जल्दी ही अनुभव होने लगेगा कि उनके सम्पर्क मे आनेवाले नौजवान उनका आदर करना तथा उनकी उपस्थिति मे भद्रोचित व्यवहार करना सीखने लगे हैं ।"

टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी दोनो ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आगम के 'विभूषानुपाति' न होने की बात का समर्थन किया है । ब्रह्मचारी स्त्री पुरुष दोनो ही अपने वेषभूषा और रहन सहन मे सादा हो, यह ज्ञानियो का निष्कर्ष है । 'मा न सस्कुरु'—शरीर-सस्कार मत करो, यह सूत्र स्त्री-पुरुष दोनो को आपत से बचाता है ।

कोट (ढाल ११) : इन्द्रिय-जय और विषय-परिहार

रूपादि रस मा पिपास'—रूप आदि रसो का पिपासु मत हो । यही दसवा समाधि-स्थान है । आगम मे दसवें समाधि-स्थान मे ब्रह्मचारी के लिए शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन पांच दुर्जय काम-गुणो का परिवर्जन आवश्यक बतलाया है[२]। ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयो मे प्रेम अनुराग न करे—'विसएसु मणुन्नेसु पेमं नाभिनिवेसए' (दश० ८ ५८) । वह आत्मा को शीतल कर तृष्णा-रहित हो जीवन-यापन करे—'विणीय-तण्हो विहरे सीईभूएण अप्पणा' (दश० ८ ५९) ।

श्रोत्र, चक्षु घ्राण, रस और स्पर्श—ये पांच इन्द्रियां हैं । शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—ये क्रमश उपर्युक्त इन्द्रियो के विषय हैं । ये विषय अच्छे या बुरे दो तरह के होते हैं । स्वामीजी ने बतलाया है कि अच्छे-बुरे दोनो प्रकार के शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श में मध्यस्थ भाव रखना—निरपेक्ष रहना यही कामगुणो का जीतना है । ब्रह्मचारी के लिए अच्छे-बुरे सब विषयो मे समभाव रखना परमावश्यक है । स्वामीजी ने अन्यत्र कहा है—"मनोरम शब्दादि में हेत—प्रीति न करना और अमनोरम के प्रति द्वेष नही करना, यही इन्द्रियो का निग्रह, दमन, वश करना और सवरण है ।

> शब्दादिक पांचू उपरे राग धेष न करनी हेत पीत ।
> इम निग्रह करणी दमणी जीतणी, वस करणी सवरणी इण रीत[३] ॥
> सुरतइन्द्री ने निग्रह इण विध करणी, मन गमता शबद सू मगन न थाय ।
> अमनोगम उपरे धेष न आणे, तिण सुरतइन्द्री निग्रह कीधी छे ताय ॥
> सुरतइन्द्री नें निग्रह कही जिण रीते, दमणी नें जीतणी इमहीज जाणो ।
> इमहिज वस करणी ने सवर लेणी, या पाचां रो परमारथ एक पिछांणो[४]॥

१—स्त्री और पुरुष पृ० १४६

२—उत्त० १६ १० .

सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य ।
पचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥

३—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) . इन्द्रियवादी री चौपइ ढाल १४ दोहा ६

४—वही गा० ५ ६

इस तरह काम-गुणो के परिहार का अर्थ है— सब इन्द्रियो का सम्पूर्ण सयम। जो ब्रह्मचारी काम-गुणो का परिहार अथवा इन्द्रिय-सयम करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सहज साध्य हो जाता है।

स्वामीजी ने इस नियम को सर्वोपरि महत्त्व का स्थान दिया है। प्रथम नौ नियम वाडो की तरह हैं और दसवाँ नियम उन नौ नियमो के चतुर्दिक् परकोटे की तरह है। जो परकोटे की रक्षा नही करता, वह अन्य वाडो के द्वारा अपने ब्रह्मचर्य रूपी खेत की रक्षा नही कर सकता। जिस तरह परकोटे के भङ्ग होने पर वाडो के भङ्ग होने में समय नही लगता, उसी तरह इस नियम के अभाव में अन्य नियमो के भङ्ग होते देर नही लगती (देखिए पृ० ६४ तथा ६५ टि० १)। परकोटे के अभाव का अर्थ है—वाडो का नाश, वाडो के नाश का अर्थ है—शस्य का नाश। इसी तरह इन्द्रियो के सयम के अभाव का अर्थ है—दूसरे नियमो का नाश और उन नियमो के नाश का अर्थ है—मूल ब्रह्मचर्य का नाश।

स्वामीजी के भाव इस प्रकार रखे जा सकते हैं :

कान शब्द को ग्रहण करता है और शब्द कान का ग्राह्य विषय है। जिस तरह सगीत मे मूर्च्छित रागातुर हरिण बींधा जाकर अकाल में ही मरण पाता है, उसी तरह शब्दो मे तीव्र आसक्ति रखनेवाला पुरुष शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

चक्षु रूप को ग्रहण करता है और रूप चक्षु का ग्राह्य विषय है। जिस तरह रागातुर पतङ्ग दीपक की ज्योति मे पडकर अकाल मे ही मरण पाता है, उसी तरह रूप में आसक्त ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

नाक गध को ग्रहण करता है और गध नाक का ग्राह्य विषय है। जिस तरह औषधि की सुगन्ध मे आसक्त रागातुर सर्प पकडा जाकर अकाल में ही मारा जाता है, उसी तरह से सुगन्ध में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही अपने ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

जिह्वा रस को ग्रहण करती है और रस जिह्वा का ग्राह्य विषय है। जिस तरह मांस में आसक्त रागातुर मछली लोहे के कांटे से भेदी जाकर अकाल ही में मारी जाती है, उसी तरह रस में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

शरीर स्पर्श का अनुभव करता है और स्पर्श शरीर का विषय है। जैसे ठडे जल में आसक्त भैंस मगरमच्छ से पकडी जाकर अकाल में ही मारी जाती है, उसी तरह स्पर्श में तीव्र मूर्च्छा रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

मन भाव को ग्रहण करता है और भाव मन का विषय है। जिस तरह कामाभिलाषी रागातुर हाथी हथिनी के पीछे भागता हुआ कुमार्ग में पड कर अकाल ही में मारा जाता है, उसी तरह भाव में तीव्र आसक्ति रखनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही ब्रह्मचर्य को खो बैठता है।

महात्मा गांधी ने लिखा है "ब्रह्मचर्य का मूल अर्थ है—ब्रह्म-प्राप्ति की चर्या। सयम के बिना ब्रह्म मिल ही नही सकता। सयम में सर्वोपरि इन्द्रिय-सयम है[१]।" "इन्द्रियो को निरङ्कुश छोड देनेवाले का जीवन कर्णधारहीन नाव के समान है, जो निश्चय पहली चट्टान मे ही टकरा कर चूर-चूर हो जायगी[२]।" "निस्सदेह अन्य इन्द्रियो को जहाँ-तहाँ भटकने देकर एक ही इन्द्रिय (जननेन्द्रिय) को रोकने का इरादा रखना तो आग मे हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है[३]।" "हम जननेन्द्रिय का नियमन करना चाहते हैं तो हमे सभी इन्द्रियो पर अकुश रखना होगा। आँख, कान, नाक, जीभ, हाथ और पाँव की लगाम ढीली कर दी जाय तो जननेन्द्रिय को काबू में रखना असंभव होगा[४]।"

भगवान महावीर और स्वामीजी ने जो कहा है उसी को हम महात्मा गांधी की वाणी मे अन्य शब्दो मे पाते हैं। अनुभव की वाणी एक ही है कि इन्द्रिय-जय बिना ब्रह्मचर्य मे सफलता असभव है।

महात्मा गांधी लिखते हैं "हृदय पवित्र हो तो इन्द्रिय को विकार की प्राप्ति ही न रहे। जैसे-जैसे हम लोग पवित्रता मे चढते हैं, वैसे वैसे विकारो का शमन होता है। विकार इन्द्रियो में हैं ही नही। इन्द्रियाँ मनोविकार के प्रदर्शित होने के स्थान हैं। इनके द्वारा हम मनोविकार को पहचानते हैं। अत इन्द्रियो के नाश करने से मनोविकार जाता नही। हिजडे लोग विकार से भरे-पूरे देखे जाते हैं। जन्म से नपुसक पुरुष मे इतने विकार होते हैं कि वे अनेक काम करते हुए देखे जाते हैं[५]।"

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १०६
२—वही पृ० १०२
३—वही पृ० ६
४—वही पृ० ४१
५—वही पृ० १०६-७

भगवान महावीर ने कहा है "इन्द्रियों और मन के विषय (शब्दादि) रागी मनुष्य को ही दुःख के हेतु होते हैं। ये ही विषय वीतराग को कदाचित् किंचित् मात्र भी दुःख नहीं पहुँचा सकते। शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श और भाव—इन विषयों से विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। कामभोग—शब्दादि समभाव के हेतु नहीं हैं और न विकार के हेतु हैं। किन्तु जो उनमें परिग्रह—राग अथवा द्वेष करता है, वही मोह—राग-द्वेष के कारण विकार उत्पन्न करता है। जो इन्द्रियों के शब्दादि विषयों से विरक्त है, उसके लिए ये सब विषय मनोज्ञता या अमनोज्ञता का भाव पैदा नहीं करते। जो वीतराग है वह सर्व तरह से कृतकृत्य है[१]।"

स्वामीजी ने इसके मर्म का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है "इन्द्रियों के विकार राग-द्वेष हैं। वे इन्द्रियों और उनके गुणों से अलग हैं। इन्द्रियाँ शब्दादि सुनती-देखती आदि हैं। राग होने पर शब्दादिक प्रिय लगते हैं। शब्दादिक को यथातथ्य जानने-देखने से पाप नहीं लगता। पाप तो राग-द्वेष आने से लगता है। राग-द्वेष ही विषय-विकार हैं। राग और द्वेष के क्षय होने से वीतराग-गुण की प्राप्ति होती है[२]।"

इसी बात को स्वामीजी ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है -

"पाँचों इन्द्रियाँ और राग-द्वेष के स्वभाव भिन्न-भिन्न हैं। इन्द्रियों के स्वभाव में दोष नहीं। कषाय और राग द्वेष के परिणाम बुरे हैं। शब्दादिक काम और भोग हैं, वे समभाव के हेतु नहीं और न वे असमभाव के हेतु हैं। इनसे विकार की उत्पत्ति नहीं होती। शब्दादिक कामभोगों पर राग-द्वेष लाना ही विकार, विषय और कषाय हैं[३]।'

काम-भोग अनर्थ के मूल नहीं हैं। उनमें गृद्धि भाव अनर्थ का मूल है। इसी तरह इन्द्रियाँ भी शत्रु नहीं हैं। शत्रु तो शब्दादिक से राग-द्वेष के परिणाम हैं[४]। यदि इन्द्रियाँ ही पाप की हेतु हो तब तो वे घटें वैसा उपाय करना ही धर्म हुआ[५]।

पादरी लोग ब्रह्मचारी रहने के लिए अपनी इन्द्रिय को काट लेते थे। इस पर टीका करते हुए टॉल्स्टॉय ने लिखा है

"खासकर अपनी तथा दूसरों की इन्द्रियों को काटना तो सच्ची ईसाइयत के साफ-साफ विपरीत है। ईसा ने ब्रह्मचर्य के पालन का उपदेश

१—उत्त० ३२ १००, ४७, १०१, १०६, १०८

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) इन्द्रियवादी री चौपई ढाल १३ ४१-४२

> इदरया रा विकार राग धेप छे, ते इदरयां रा गुण थी न्यारा रे।
> इदरयां तो शब्दादिक सुणे देखले, शब्दादिक राग सू लागे प्यारा रे॥
> शब्दादिक जथातथ जाणयां देषीयां, पाप न लागे लिगारो रे।
> पाप लागे छे राग धेप आणियां, राग धेप छे विषय विकारो रे॥

३—वही ढाल १२ ३७-३६

> पांचू इदरया ने राग धेप रो रे, सभाव जूओ२ छे ताम रे।
> इदरयां रा सभाव माहें अवगुण नहीं रे, कषाय तणा खोटा परिणाम रे॥
> काम नें भोग शब्दादिक तेह थी रे, समता नहीं पामें जीव लिगार रे।
> असमता पिण नहीं पामें छे एहथी रे, याँ सू मूल न पामें जीव विकार रे॥
> जो राग ने धेप आणे त्यां ऊपर रे, ते हिज विकार विषय कषाय रे।
> ते कह्यो छे उत्तराधेन वत्तीस में रे, सो उपरली पहली गाथा मांय रे॥

४—वही ढाल १४ ३७

> काम ने भोग अनर्थ रा मूल नाहीं, त्यां सू ग्रिध पणे अनर्थ रो मूल जाणो।
> ज्यू इदरया पिण सत्रू छे नाही, सत्र तो शब्दादिक सू राग पिछांणो॥

५—वही ढाल ११ दो० ५

> जो इद्रयां सावद्य हुवे, तो इन्द्री घटे ते करणो उपाय।
> जे इन्द्रया नें सावद्य कहे, तिणरी सरधा रो ओहीज न्याय॥

दिया है पर यथार्थत उसी ब्रह्मचर्य का सच्चा मूल्य और महत्त्व है, जिसका अन्य सद्गुणो की भाँति श्रद्धापूर्वक हर सकल्प मे विकारो के साथ युद्ध करने के लिए पालन किया जाता है। उस सयम का महत्त्व ही क्या, जहाँ पाप की सम्भावना ही नही। यह तो वही बात हुई कि कोई मनुष्य अधिक खाने के प्रलोभन से बचने के लिए किसी ऐसी दवा को ले जिससे उसकी भूख ही कम हो जाय, या कोई युद्धप्रिय आदमी अपने को लडाई में भाग लेने से बचाने के लिए अपने हाथ पैर बंधवा ले, अथवा गाली देने की बुरी आदतवाला अपनी जबान को ही इस खयाल से काट डाले कि उसके मुह से गाली निकलने ही न पावे। परमात्मा ने मनुष्य को ठीक वैसा ही पैदा किया है जैसे कि वह यथार्थ में है। उसने उसकी मरणाधीन काया मे प्राणो को इसलिए प्रतिष्ठित किया है कि वह शारीरिक विकारो को अपने अधीन कर के रखे। यही सघर्ष तो मानव-जीवन का रहस्य है। यह शरीर उसे इसलिए नही मिला है कि ईश्वरप्रदत्त कार्य के लिए स्वय को या दूसरे को विकलांग बना दे।

"मनुष्य पूर्ण बनने के लिए बनाया गया है। "ऐ मनुष्य, अपने स्वगस्थ पिता के समान पूर्ण बन।" इस पूर्णता को प्राप्त करने की कुजी ब्रह्मचर्य है। केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य नही, बल्कि मानसिक भी—विषय-वासना का सम्पूर्ण अभाव।

"धर्माचरण कल्याणप्रद होता है (ईसा ने कहा है मेरा जुआ और बोझ हलका है) और हर प्रकार की हिंसा की निन्दा करता है। यदि वह आघात या कष्ट दूसरे को पहुँचाता हो, तब तो पाप ही है। पर खुद अपने ऊपर भी ऐसा अत्याचार करना नियमो का भङ्ग करना है।

"विवाहित जीवन में भी ईसा ने सयम पर ज्यादा-से-ज्यादा जोर दिया है। मनुष्य के केवल एक ही पत्नी होनी चाहिए। इस पर शिष्यो ने शका की (पद्य १०) कि यह सयम तो बडा मुश्किल है, एक ही पत्नी मे काम चलना तो नितान्त कठिन है। इस पर ईसा ने कहा कि यद्यपि मनुष्य जन्म-जात अथवा मनुष्यो के द्वारा बनाये गये नपुसक पुरुष की भाँति विषय-भोग से अलग नही रह सकते, तथापि कई ऐसे लोग हैं जिन्होने उस स्वर्गराज्य की अभिलाषा से अपने को नपुसक बना लिया है, अर्थात् आत्मबल से विकारो को जीत लिया है और प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह इनका अनुकरण करे। 'स्वर्गीय राज्य की अभिलाषा से अपने को नपुसक बना लिया।' इन शब्दो का अर्थ—"शरीर पर आत्मा की विजय करना' होना चाहिए न कि जननेन्द्रिय को मिटा देना ?

"केवल आत्मा ही जीवन देनेवाली है। ऐच्छिक रूप से या जबरन मनुष्य को विकलांग कर देना धर्म की आत्मा के बिल्कुल विपरीत है[1]।

"वासना शरीर का धर्म तो है नही। यह तो एक मानसिक वस्तु है। वैषयिकता से बचने के लिए विचार-शुद्धि परमावश्यक है। प्रलोभनो के सामने आने पर जो विकारोद्भव होता है, अन्तर्युद्ध ही उसका उपाय है।

"इन्द्रिय-विनाश करना तो उसी सिपाही का सा काम है, जो कहता है कि मैं लडाई पर जाऊँगा, पर तभी जब मुझे आप यकीन दिला दो कि निश्चय ही मेरी विजय होगी। ऐसा सिपाही सच्चे शत्रुओ से तो दूर ही दूर भागेगा, पर काल्पनिक शत्रुओ से अलबत्ता लडेगा। वह कभी युद्ध-कला सीख ही नही सकता। उसकी पराजय ही होगी[2]।"

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में इन्द्रियो की स्वच्छन्दता और शब्दादिक विषयों में आसक्ति के दुष्परिणाम बतलानेवाली दो कथाएँ उपलब्ध हैं। पहली कथा कछुए की है। एक दिन सूर्यास्त हुए काफी समय हो चुका था। सध्या की वेला बीत चुकी थी, मनुष्यो का आवागमन बन्द हो चुका था, उस समय दो कछुए द्रह से बाहर निकल मयगतीर द्रह के आस-पास आजीविका के लिए फिरने लगे। उस समय दो पापी सियार आहार के लिए वहाँ आये। सियारो को देख कछुओ ने अपने हाथ, पाव, ग्रीवा आदि अङ्गो को अपने शरीर में छिपा लिया और निश्चल, निस्पद और चुपचाप हो स्थिर हो गये। सियार समीप पहुँच कछुओ को चारो ओर से देखने लगे। उन्हे नखो से नोचने और दाँतो से काटने की चेष्टा की पर उनके शरीर को जरा भी क्षति नही पहुँचा सके। चमडी छेदन करने में असमर्थ रहे। सियारो ने एक चाल चली। वे एकांत में जा निश्चल, निस्पद हो ताक लगाने लगे। एक कछुए ने सोचा—सियारो को गये बहुत देर हो गई। वे बहुत दूर चले गये होगे। उसने चारो ओर नजर डाले बिना ही अपना एक पैर बाहर निकाल दिया। सियार यह देख कर तेजी से आ नखो से उसके पैर को विदीर्ण कर दांतो से काट, मांस खा शोणित पिया। इसी तरह सियारो ने क्रमश उसके अन्य पैर और अन्त मे ग्रीवा को खा डाला। दूसरा कछुआ निस्पन्द पडा रहा। जब सियारो को गये बहुत देर हो गई तो उसने धीरे-धीरे अपनी ग्रीवा बाहर निकाली। सर्व दिशाओ का अच्छी तरह अवलोकन किया। सियारो को कही

१—स्त्री और पुरुष पृ० ५५-५६ से सक्षिप्त

२—स्त्री और पुरुष पृ० ३६-४०

न देख सके। वे उस स्थान से निकल कर तेज गति से दौड़ता हुआ वह मयंगतीर द्रह के समीप पहुँचा उसमे प्रविष्ट हो सम्बन्धियो के साथ मिल कर सुखी हुआ। इस कथा का उपनय यह है कि जो ब्रह्मचारी अपनी इन्द्रियो को वश मे नही रखता, विषयार्थी और प्रमादी होता है, वह पापेन्द्रिय विकारी कछुए की तरह आत्मार्थ से पतित हो दुःखित होता है। जो मुमुक्षु गुप्तेन्द्रिय होता है तथा अप्रमादी कछुए की तरह अपनी इन्द्रियों को वश मे रखता है और विषयो को पास मे नही फटकने देता, वह आत्मार्थ को साध कर सुखी होता है[1]।

इसकी तुलना गीता के निम्न श्लोक से है :

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ २.५८

दूसरी कथा अश्व की है। हस्तिशीर्ष नामक नगर मे अनेक धनाढ्य वणिक रहते थे। एक बार वे सामुद्रिक यात्रा कर लौटे, तब उन्होने वहाँ के राजा कनककेतु को बहुमूल्य भेंट उपहार मे दी। राजा ने प्रसन्नता पूर्वक भेंट स्वीकार कर पूछा—"इस बार की यात्रा मे तुम लोगो ने कौन सी आश्चर्य की वस्तु देखी, उसे मुझे बताओ। वणिको ने कहा—कालिकद्वीप मे हमलोगो ने अनेक रङ्ग-बिरंगे सुंदर जाति के घोड़े देखे। हमारे शरीर की गंध पा वे घबरा उठे और दौड़ कर अनेक योजन दूर ऐसे स्थान मे चले गये जहाँ विस्तृत मैदान, प्रचुर तृण और पेट भर पीने को जल था। वहाँ वे निर्भय, उद्वेगरहित और सुखपूर्वक विचरने लगे। राजा ने अनेक भृत्य साथ मे किये। घोड़ो को लुभाने की नानाविध सामग्रियाँ दी। तथा वणिको को कालिक द्वीप से घोड़े लाने की आज्ञा दी। कालिकद्वीप पहुँच उन्होंने जहाँ-जहाँ घोड़े बैठते, सोया करते, ठहरते या लेटा करते वहाँ-वहाँ सर्वत्र शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श मे उत्कृष्ट भोग-सामग्रियो को धर दिया और निश्चल और निःशब्द हो छिप कर घोड़ो को पकड़ने का प्रयत्न करने लगे। घोड़े सदा की तरह वहाँ आये। इन अपूर्व भोग-सामग्रियो को देख कर भी कई घोड़े उनसे मोहित और आकृष्ट नही हुए। वे उद्विग्न, भयभीत हो, वहाँ से दूर दौड़ गये। जो मुग्ध हुए वे वहीं रह गए। वे वीणा आदि वाद्य यन्त्रो के मधुर शब्दो से मोहित हो सुन्दर, सुसज्जित, स्वादिष्ट और सुस्पर्शवाली वस्तुओ को भोगने में तल्लीन हो गये। इस तरह निशंक हो विचरने लगे। व्यापारियो ने उनके गले और पैरो मे रस्सियाँ डाल उन्हे गाढ़ बन्धन मे बांध लिया और वापिस आ राजा को अश्व सौंपे। राजा ने उन्हे अश्व-मर्दको को सौंपा। अश्व-मर्दको ने अनेक प्रयोग और उपायो से उन घोड़ो को सुशिक्षित किया। अब वे सवारी के काम मे आने लगे।

इस कथा का उपनय है : जो ब्रह्मचारी शब्द (गीत-गान), रूप (स्त्री आदि के सौन्दर्य), रस (खट्टे-मीठे आदि पाच प्रकार के स्वाद—सरस आहार), गंध (सुगन्धित द्रव्य) और स्पर्श (शय्या, स्त्री आदि के सुकोमल स्पर्श) इन पाँच प्रकार के इन्द्रियो के विषय मे राग नही करते, मूर्च्छित नही होते हैं, वे अन्त मे मोक्ष प्राप्त करते हैं। जन्म, मरण, जरा आदि व्याधियो से मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो ब्रह्मचारी शब्द, रूपादि विषयो मे राग, मूर्च्छा करते हैं, गृद्ध होते हैं और विषयो मे स्वच्छंद विचरते हैं, वे भ्रष्ट हो पापो के शिकार होते हैं[2]।

महात्मा गांधी ने कहा है : "जो ब्रह्मचर्य की साधना करना चाहते हैं वे विषय-भोग मे दुःख ही दुःख है, इसे सदा स्मरण रखें[3]"।

उमास्वाति ने दो सूत्र दिए हैं। पहला सूत्र है : "हिंसादिष्विहामुत्र चापायावद्यदर्शनम्[4]"—साधक को हिंसा, मृषा, अदत्त, अब्रह्म और परिग्रह मे, इस लोक और परलोक मे निरन्तर अपाय और अवद्य का दर्शन—चिन्तन करना चाहिए। अपाय का अर्थ है—अभ्युदय और निःश्रेयस की साधक क्रिया के विनाश का प्रयोग और अवद्य का अर्थ है गर्ह्य। साधक हमेशा यह भावना रखे कि अब्रह्म अभ्युदय और निःश्रेयस इन दोनो अर्थो के विनाश का हेतु है और इसलिए गर्ह्य है। वह सोचे : "अब्रह्मचारी विभ्रम को प्राप्त हो उद्भ्रान्त चित्त बन जाता है। उसकी इन्द्रियाँ बेलगाम होती हैं। वह मदांध हाथी की तरह निरङ्कुश हो जाता है। वह मोह से अभिभूत हो कर्तव्य-अकर्तव्य का भान भूल जाता है। ऐसा कोई बुरा काम नही, जो वह न कर बैठे। लम्पट को इस लोक मे वैरानुबन्ध, वध आदि क्लेश प्राप्त होते हैं। परलोक मे दुर्गति होती है[5]"।

१—ज्ञाताधर्मकथा अ० ४ देखिए, लेखक की 'दृष्टान्त और धर्मकथाएँ' नामक पुस्तक पृ० २६-२६
२—ज्ञाताधर्मकथा अ० १७ देखिए, लेखक की 'दृष्टान्त और धर्म कथाएँ' नामक पुस्तक पृ० ८७-६२
३—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० ३३
४—तत्त्वार्थसूत्र ७.४
५—वही भाष्य

उनका दूसरा सूत्र है "दुःखमेव वा[1]"—"हिंसा यावत् परिग्रह में दु ख ही है। साधक सोचे स्पर्शन-इन्द्रिय जन्य सुखरूप मालूम होने पर भी वास्तव में मैथुन राग-द्वेष रूप होने से दु खरूप ही है। अब्रह्म व्याधि का प्रतिकार मात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खाज का रोगी खुजाते समय सुख का अनुभव करता है परन्तु वह सुख नही सुखाभास है उसी तरह मैथुन की वात है[2]।"

उमास्वाति कहते हैं कि ऐसी भावनाएँ रखने से ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य मे स्थैर्य को प्राप्त करता है—"इत्येव भावयतो व्रतिनो व्रतं स्थैर्यं भवति[3]।"

महावीर कहते हैं—"काम शल्य रूप है, काम विषरूप है, काम-दृष्टि विष की तरह है। कामो की प्रार्थना करते-करते प्राणी उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति को जाते हैं[4]।" "काम-भोग क्षण मात्र ऐन्द्रिय-सुख देनेवाले हैं और बहुकाल दु ख देनेवाले। उनमें सुख तो अणु मात्र है और दु ख का ठिकाना नही[5]।" "काम-भोग अनर्थ की खान हैं। देवताओ से लेकर सारे लोक को जो भी कायिक या मानसिक दु ख हैं, वे कामासक्ति से उत्पन्न हैं। काम-भोगो मे वीतराग पुरुष सर्व दु खो का अन्त करता है[6]।" "जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते हैं, उसी तरह से भोगने में मनोहर काम-भोग विपाक काल में—फल देने की अवस्था में अधोगति के कारण होते हैं[7]।" "काम-भोग ससार को बढानेवाले हैं। गृद्ध पक्षी के दृष्टान्त को जान कर विवेकी पुरुष, गरुड के समीप सर्प की तरह काम-भोगो से सशकित रहता हुआ डर-डर कर चले[8]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं:

"विकार उत्पन्न न हो और इन्द्रिय न चले, इसके लिए तात्कालिक उपाय मागना यह वन्ध्यापुत्र के इच्छा करने के सदृश है। यह काम बहुत धीरज से होता है। एकान्त सेवन, सत-सग-शोधन, सत्कीर्तन, सत्वाचन, निरतर शरीरमथन, अल्पाहार, फलाहार, अल्प निद्रा, भोग-विलास-त्याग—इतना जो कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलक की तरह प्राप्त होता है। जब-जब मनोविकार हो तब-तब उपवासादिक व्रतो का पालन करना चाहिए[9]।"

महावीर कहते हैं—"ये काम-भोग सरलता से पिण्ड नहीं छोडते। अधीर पुरुषो से तो वे सुगमता से छोडे ही नही जा सकते। सुव्रती साधु इन दुस्तर भोगो को उसी तरह पार कर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को[10]।" "एकान्त शय्यासन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को विषयरूपी शत्रु पराभव नही कर सकता। औषध से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इन नियमो के पालने से विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है[11]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं: "ब्रह्मचारी को भोग-विलास के प्रसग मात्र का त्याग कर देना चाहिए। उनकी ओर मन में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसलिए कि अरुचि या विराग के विना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण टिक न सकेगा। भोग-विलास किसे कहें, यह बताने की जरूरत नही। जिस जिस चीज से विकार उत्पन्न हों, वे सभी त्याज्य हैं[12]।"

महावीर ने कहा है "ब्रह्मचारी दुर्जय काम-भोगो का सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो शका—विघ्न के स्थान हो, उन्हें एकाग्र मन से वर्जन करे—टाले[13]।"

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ ५ भाष्य
२—वही
३—वही
४—उत्तराध्ययन ९ ५३
५—उत्त० १४ १३
६—उत्त० ३२ १९
७—उत्त० ३२ २०
८—उत्त० १४ १७
९—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० १०७
१०—उत्त० ८ ६
११—उत्त० ३२ १२
१२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १३
१३—उत्त० १६ श्लो० १४

१९-बाड़ों के पीछे दृष्टि

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो दस उपाय बतलाये गये हैं, उनके पीछे अनेक दृष्टियाँ हैं। उनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है

(१) स्त्रियो के साथ एक घर मे वास, मनोहारी स्त्री-कथा, स्त्री-सस्तव (स्त्री-सग और परिचय), स्त्रियो की इन्द्रियो पर दृष्टि, स्त्रियो के कूजन, रुदन, हास्यादि के शब्दो का सुनना, रसपूर्ण खान-पान, अति आहार, गात्र-विभूषा, पूर्व क्रीडाओ का स्मरण और काम भोगो का सेवन—ये सब आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष की तरह हैं[1]। ब्रह्मचर्य की इन अगुप्तियो से शान्ति का भेद, शान्ति का भङ्ग होता है[2]।

(२) जो स्त्री ससक्त मकान मे वास न करना आदि उपर्युक्त समाधि-स्थानो के प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रत मे शका होनी उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगो की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नही ऐसी विचि-कित्सा—विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है, उसके उन्माद और दूसरे बड़े रोग हो जाते हैं और अन्त मे चित्त की समाधि भङ्ग होने से वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है[3]।

(३) स्त्री-ससक्त मकान मे वास न करना आदि उपर्युक्त दसविध उपायो के पालन करने से सयम और सवर मे दृढता होती है। चित्त की चचलता दूर होकर उसमे स्थिरता आती है। मन, वचन, काय तथा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है[4]।

(४) स्त्रियो के साथ वास न करना, उनकी सगति, स्पर्श, सह-आसनादि न करना आदि सभी नियम ब्रह्मचारी के उत्तम शिष्टाचार हैं। ये नियम उसकी शोभा को बढाते हैं। इन नियमो का अभाव शिष्ट-व्यवहार की कमी का सूचक है।

(५) ये नियम ब्रह्मचारी के प्रति किसी प्रकार की शङ्का अथवा लोक-निन्दा को उत्पन्न नही होने देते। उसके विश्वास को नही उठने देते।

(६) ब्रह्मचारी के पास आनेवाली स्त्रियो के प्रति शङ्का उत्पन्न नही होने देते। उनकी आबरू की रक्षा करते हैं। इस तरह वातावरण स्वच्छ एव शुद्ध रहता है।

(७) ये भ्रष्टाचार को सहज ही पनपने नही देते। और न अशुद्ध लोक-व्यवहार का आदर्श उपस्थित होने देते हैं।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—"मैं सावधान अधिक था। पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञा रूपी ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर मे रहते थे। थोडे ही दिन के लिए वे एक गाव मे गये। मकान मालकिन आधी वेश्या थी। उनके साथ हम दोनो ताश खेलने लगे। विलायत मे माँ बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते ही हैं। मुझे तो पता भी नही था कि मकान मालकिन अपना शरीर बेचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यो-ज्यो खेल जमने लगा त्यो-त्यो रग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय-चेष्टा आरभ कर दी। मित्र मर्यादा छोड चुके थे। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमे व्यभिचार का भाव भर गया। मैं अधीर हो गया। मेरे मित्र ने मेरा रग-ढग देखा। मित्र ने देखा कि मेरी बुद्धि बिगड गई है। उन्होने देखा कि यदि इस रगत मे रात अधिक जायगी तो मैं भी उनकी तरह पतित हुये बिना न रहूँगा राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होने प्रेम-बाण छोडते हुए कहा—"मोनिया! मोनिया! होशियार रहना! अपनी माँ के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद करो।" मैं उठ खडा हुआ। अपना बिस्तरा सँभाला। सवेरे मे जगा। राम-नाम का आरम्भ हुआ। मन मे कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा, धन्य माता, धन्य मित्र। धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था। अपने जीवन का सब से भयङ्कर समय मैं इस प्रसग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने सयम सीखा। राम को भूलाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए[5]।"

महात्मा गाधी टहलते समय बहिनो के कधे का सहारा लेते। आलोचना हुई—"लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती है।"

१—उत्तराध्ययन १६ ११-१३
२—आचाराङ्ग २ १५ चौथे महाव्रत की भावना
३—उत्तराध्ययन १६ १-१०
४—वही १६ १
५—सयम-शिक्षा पृ० २२-२५

उनका दूसरा सूत्र है "दुःखमेवं वा[१]"—"हिंसा यावत् परिग्रह मे दु ख ही है। साधक सोचे स्पर्शन-इन्द्रिय जन्य सुखरूप मालूम होने पर भी वास्तव मे मैथुन राग-द्वेष रूप होने से दु खरूप ही है। अब्रह्म व्याधि का प्रतिकार मात्र है। जिस प्रकार कोई दाद या खाज का रोगी खुजाते समय सुख का अनुभव करता है परन्तु वह सुख नही सुखाभास है उसी तरह मैथुन की वात है[२]।"

उमास्वाति कहते हैं कि ऐसी भावनाएँ रखने से ब्रह्मचारी, ब्रह्मचर्य मे स्थैर्य को प्राप्त करता है—"इत्येव भावयतो व्रतिनो व्रतं स्थैर्यं भवति[३]।"

महावीर कहते हैं—"काम शल्य रूप है, काम विषरूप है, काम-दृष्टि विष की तरह है। कामो की प्रार्थना करते-करते प्राणी उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति को जाते हैं[४]।" "काम-भोग क्षण मात्र ऐन्द्रिय-सुख देनेवाले हैं और बहुकाल दु ख देनेवाले। उनमे सुख तो अणु मात्र है और दु ख का ठिकाना नही[५]।" "काम-भोग अनर्थ की खान हैं। देवताओ से लेकर सारे लोक को जो भी कायिक या मानसिक दु ख हैं, वे कामासक्ति से उत्पन्न हैं। काम-भोगो मे वीतराग पुरुष सर्व दु खो का अन्त करता है[६]।" "जिस तरह किम्पाक फल खाते समय रस और वर्ण में मनोरम होने पर भी पचने पर जीवन का अन्त करते हैं, उसी तरह से भोगने मे मनोहर काम-भोग विपाक काल मे—फल देने की अवस्था में अधोगति के कारण होते हैं[७]।" "काम-भोग ससार को वढानेवाले हैं। गृद्ध पक्षी के दृष्टान्त को जान कर विवेकी पुरुष, गरुड के समीप सर्प की तरह काम-भोगो से सशकित रहता हुआ डर-डर कर चले[८]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं :

"विकार उत्पन्न न हो और इन्द्रिय न चले, इसके लिए तात्कालिक उपाय मागना यह वन्ध्यापुत्र के इच्छा करने के सदृश है। यह काम वहुत धीरज से होता है। एकान्त सेवन, सत-सग-शोधन, सत्कीर्तन, सत्वाचन, निरतर शरीरमथन, अल्पाहार, फलाहार, अल्प निद्रा, भोग-विलास-त्याग—इतना जो कर सकता है, उसे मनोराज्य हस्तामलक की तरह प्राप्त होता है। जव-जव मनोविकार हो तव-तव उपवासादिक व्रतो का पालन करना चाहिए[९]।"

महावीर कहते हैं—"ये काम-भोग सरलता से पिण्ड नही छोडते। अधीर पुरुषो से तो वे सुगमता से छोडे ही नही जा सकते। सुव्रती साधु इन दुस्तर भोगो को उसी तरह पार कर जाते हैं, जिस तरह वणिक् समुद्र को[१०]।" "एकान्त शय्यासन के सेवी, अल्पाहारी और जितेन्द्रिय पुरुष के चित्त को विषयरूपी शत्रु पराभव नही कर सकता। औषध से जैसे व्याधि पराजित हो जाती है, वैसे ही इन नियमो के पालने से विषय रूपी शत्रु पराजित हो जाता है[११]।"

महात्मा गांधी लिखते हैं : "ब्रह्मचारी को भोग-विलास के प्रसग मात्र का त्याग कर देना चाहिए। उनकी ओर मन में अरुचि उत्पन्न करनी चाहिए। इसलिए कि अरुचि या विराग के विना त्याग केवल ऊपरी त्याग होगा और इस कारण टिक न सकेगा। भोग-विलास किसे कहें, यह वताने की जरूरत नही। जिस जिस चीज से विकार उत्पन्न हो, वे सभी त्याज्य हैं[१२]।"

महावीर ने कहा है "ब्रह्मचारी दुर्जय काम-भोगो का सदा परित्याग करे तथा ब्रह्मचर्य के लिए जो शका—विघ्न के स्थान हो, उन्हे एकाग्र मन से वर्जन करे—टाले[१३]।"

१—तत्त्वार्थसूत्र ७ ५ भाष्य
२—वही
३—वही
४—उत्तराध्ययन ६ ५३
५—उत्त० १४ १३
६—उत्त० ३२ १६
७—उत्त० ३२ २०
८—उत्त० १४ १७
९—ब्रह्मचर्य (श्री) पृ० १०७
१०—उत्त० ८ ६
११—उत्त० ३२ १२
१२—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० १३
१३—उत्त० १६ श्लो० १४

१९-बाड़ो के पीछे दृष्टि

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जो दस उपाय बतलाये गये हैं, उनके पीछे अनेक दृष्टियाँ हैं। उनका स्पष्टीकरण नीचे किया जाता है

(१) स्त्रियो के साथ एक घर मे वास, मनोहारी स्त्री-कथा, स्त्री-सस्तव (स्त्री-सग और परिचय), स्त्रियो की इन्द्रियो पर दृष्टि, स्त्रियो के कूजन, रुदन, हास्यादि के शब्दो का सुनना, रसपूर्ण खान-पान, अति आहार, गात्र-विभूषा, पूर्व क्रीडाओ का स्मरण और काम भोगो का सेवन—ये सब आत्मगवेषी ब्रह्मचारी के लिए तालपुट विष की तरह हैं[१]। ब्रह्मचर्य की इन अगुप्तियो से शान्ति का भेद, शान्ति का भङ्ग होता है[२]।

(२) जो स्त्री ससक्त मकान मे वास न करना आदि उपर्युक्त समाधि-स्थानो के प्रति असावधान रहता है, उसे धीरे-धीरे अपने व्रत मे शका होनी उत्पन्न होती है, फिर विषय-भोगो की आकांक्षा—कामना उत्पन्न होती है और फिर ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है या नही ऐसी विचिकित्सा—विकल्प उत्पन्न होता है। इस प्रकार ब्रह्मचर्य का नाश हो जाता है, उसके उन्माद और दूसरे बडे रोग हो जाते हैं और अन्त में चित्त की समाधि भङ्ग होने से वह केवली-भाषित धर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है[३]।

(३) स्त्री-ससक्त मकान मे वास न करना आदि उपर्युक्त दसविध उपायो के पालन करने से सयम और सवर में दृढता होती है। चित्त की चचलता दूर होकर उसमे स्थिरता आती है। मन, वचन, काय तथा इन्द्रियो पर विजय प्राप्त होकर अप्रमत्त भाव से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है[४]।

(४) स्त्रियो के साथ वास न करना, उनकी सगति, स्पर्श, सह-आसनादि न करना आदि सभी नियम ब्रह्मचारी के उत्तम शिष्टाचार हैं। ये नियम उसकी शोभा को बढाते हैं। इन नियमो का अभाव शिष्ट-व्यवहार की कमी का सूचक है।

(५) ये नियम ब्रह्मचारी के प्रति किसी प्रकार की शङ्का अथवा लोक-निन्दा को उत्पन्न नही होने देते। उसके विश्वास को नही उठने देते।

(६) ब्रह्मचारी के पास आनेवाली स्त्रियो के प्रति शङ्का उत्पन्न नही होने देते। उनकी आबरू की रक्षा करते हैं। इस तरह वातावरण स्वच्छ एव शुद्ध रहता है।

(७) ये भ्रष्टाचार को सहज ही पनपने नही देते। और न अशुद्ध लोक-व्यवहार का आदर्श उपस्थित होने देते हैं।

महात्मा गांधी ने अपने जीवन की एक घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—"मैं सावधान अधिक था। पूजनीया माताजी की दिलाई हुई प्रतिज्ञा रूपी ढाल मेरे पास थी। विलायत की बात है। मैं जवान था। दो मित्र एक घर में रहते थे। थोडे ही दिन के लिए वे एक गाव मे गये। मकान मालकिन आधी वेश्या थी। उसके साथ हम दोनो ताश खेलने लगे। विलायत मे माँ बेटा भी निर्दोष भाव से ताश खेल सकते हैं, खेलते ही हैं। मुझे तो पता भी नही था कि मकान मालकिन अपना शरीर बेचकर अपनी जीविका चलाती है। ज्यो-ज्यो खेल जमने लगा त्यो-त्यो रग भी बदलने लगा। उस बाई ने विषय-चेष्टा आरभ कर दी। मित्र मर्यादा छोड चुके थे। मैं ललचाया। मेरा चेहरा तमतमा गया। उसमे व्यभिचार का भाव भर गया। मैं अधीर हो गया। मेरे मित्र ने मेरा रग-ढग देखा। मित्र ने देखा कि मेरी बुद्धि बिगड गई है। उन्होने देखा कि यदि इस रगत मे रात अधिक जायगी तो मैं भी उनकी तरह पतित हुये बिना न रहूँगा राम ने उनके द्वारा मेरी सहायता की। उन्होने प्रेम-बाण छोडते हुए कहा—"मोनिया! मोनिया! होशियार रहना। अपनी मां के सामने की हुई प्रतिज्ञा याद करो।" मैं उठ खडा हुआ। अपना बिस्तरा सँभाला। सवेरे मे जगा। राम-नाम का आरम्भ हुआ। मन मे कहने लगा, कौन बचा, किसने बचाया, धन्य प्रतिज्ञा, धन्य माता, धन्य मित्र। धन्य राम! मेरे लिए तो यह चमत्कार ही था। अपने जीवन का सब से भयङ्कर समय मैं इस प्रसग को मानता हूँ। स्वच्छन्दता का प्रयोग करते हुए मैंने सयम सीखा। राम को भूलाते हुए मुझे राम के दर्शन हुए[५]।"

महात्मा गाधी टहलते समय बहिनो के कधे का सहारा लेते। आलोचना हुई—"लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती है।"

१—उत्तराध्ययन १६ ११-१३
२—आचाराङ्ग २ १५ चौथे महाव्रत की भावना
३—उत्तराध्ययन १६ १-१०
४—वही १६ १
५—सयम शिक्षा पृ० २२-२५

"यह आदत दूसरो के लिए उदाहरण बन गयी तो[१] ।" महात्मा गांधी ने लोक-संग्रह की दृष्टि से उसका तात्कालिक त्याग किया[२] ।

महात्मा गांधी ने नोग्राखाली के यज्ञ के समय एक प्रयोग ग्रारभ किया। वे रिस्ते में ग्रपनी पौत्री ग्रौर धर्मपुत्री मनु बहन को शुद्ध भाव से ग्रपनी शय्या मे सुलाते।

इससे बडी हलचल मची। उनके दो साथियो ने, जिन्होंने उनकी ग्रनुपस्थिति मे हरिजन के सम्पादन-कार्य का जिम्मा ग्रपने पर लिया था, इसके प्रतिवाद ग्रौर ग्रसहयोग के रूप में इस्तिफा दे दिया[३]। महात्माजी ने ग्रा० कृपलानी को लिखा—"इस बात के लिए मुझे ग्रपने प्रिय साथियो का मूल्य चुकाना पडा है[४] ।"

ग्राचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हुए उत्तर में दो मुद्दे रखे—कभी में सोचता हूँ—कही ग्राप मनुष्यो का उपयोग साध्य के बतौर न कर साधन के बतौर तो नही करते। मुझे ग्राश्चर्य हुग्रा—कही ग्राप गीता के लोक-सग्रह के सिद्धान्त को तो भङ्ग नही कर रहे हैं[५] ?"

मित्रो ने तर्क किया—"ग्राप महात्मा हैं, पर दूसरे पक्ष के बारे मे क्या कहा जाय[६] ।"

महात्मा गान्धी ने एक दिन के प्रवचन मे कहा—"मैं जानता हूँ कि मुझको लेकर कानाफूसी ग्रौर गुपशुप चल रही है। मैं इतने सन्देह ग्रौर ग्रविश्वास के बीच में हू कि ग्रपने ग्रत्यन्त निर्दोष कार्यों के बारे में कोई गल्तफहमी ग्रौर उल्टा प्रचार होने देना नही चाहता[७] ।"

दूसरे दिन के भाषण मे उन्होने चेतावनी दी—"मैंने ग्रपने ग्र तरङ्ग जीवन के बारे में कहा है वह ग्रन्धानुकरण के लिए नही है। मैं जो चाहता हू वह सब कर सकते हैं, बशर्तें वे उन शर्तों को पाले जिनका मैं पालन करता हू। ग्रगर ऐसा नही करते हुए मेरी बात का ग्रनुसरण करने का बहाना करेंगे तो वे ठोकर खाये बिना नही रहेंगे[८] ।"

ठक्कर बप्पा का भी प्रश्न रहा—"यदि ग्रापके उदाहरण का ग्रनुसरण किया गया तो[९] ?"

यह बात ग्रनेको के ग्रन्त तक गले नही उतरी।

इन थोडी-सी घटनाग्रो से प्रकट हो जाता है कि समाधि-स्थानो की उपेक्षा से कैसे धर्म-संकट उपस्थित हो जाते हैं। बाहर मे कैसा शका-शील वातावरण बन जाता है। ग्रौर किस तरह की बुरी धारणायें महात्मा ही नहीं पर महासती के विषय में भी प्रचारित हो जाती हैं।

इस तरह ब्रह्मचर्य के समाधि स्थान ग्रथवा बाडो की नीव कमजोर नही है। उनका ग्राधार गहरा ग्रनुभव ग्रौर मानव-स्वभाव का गभीर विश्लेषण है। यह सत्य है कि ब्रह्मचारी वह है जो किसी भी परिस्थिति में भी विचलित न हो। पर यह भी सत्य है कि बाडो की ग्रपेक्षा करने से जो स्थिति बनती है उसका भी निवारण नही हो सकता। कदाश परिणाम ग्रडिग न रहने पायें तो 'हुवें वरत पिण फोक'। यदि यह न भी हो तो भी 'शका पांमैं लोक', 'ग्रावें ग्रछतो ग्राल सिर', को कौन रोक सकता है ? यह भी निश्चित है कि जो बाडो को नही लोपता उसका व्रत ग्रभङ्ग रहता है क्योकि बाडें केवल शारीरिक ही नही मानसिक शुद्धता पर भी जोर देती हैं। इसीलिए स्वामीजी ने कहा है—

"बाड न लोपें तेहनें रहें वरत ग्रभग।
ते वेरागी विरकत थका, ते दिन दिन चढते रग॥"

इस तरह यह स्पष्ट है कि बाडो के पालन से ससर्ग ग्रौर सस्पर्श के ग्रवसर ही नही ग्रा पाते। मन विकार-ग्रस्त होने से बच जाता है। ग्रपनी सुरक्षा होती है। ग्रपने द्वारा दूसरे का पतन नही हो पाता। ग्रपने कारण किसी के प्रति शङ्का का वातावरण नही बनता। लोक-व्यवहार ग्रथवा सभ्यता को धक्का नहीं पहुँचता। दूसरों का ग्रन्धानुकरण करने का बल नहीं मिलता। ब्रह्मचर्य का सुगमतापूर्वक पालन होता है।

१—ब्रह्मचर्य (प भा) पृ० ६७
२—बापू की छाया मे पृ० २०२
३—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 598
४—वही पृ० ५८१
५—वही पृ० ५८२
६—वही पृ० ५८३
७—वही पृ० ५८०
८—वही पृ० ५८१
९—वही पृ० ५८६

२०-पूर्ण ब्रह्मचारी की कसौटी

बीसवीं सदी मे अहिंसा और ब्रह्मचर्य के विषय मे गभीर और विशद विचार करनेवाले चिंतको मे सत टॉल्स्टॉय और महात्मा गांधी—इन दो के ही नाम सर्वोपरि रखे जा सकते हैं। इन विषयो मे इन महापुरुषो ने महान् वैचारिक क्रांति उत्पन्न की और मानव को दिव्य दृष्टि प्रदान की।

महात्मा गांधी और सत टॉल्स्टॉय के चिन्तन मे न केवल वैचारिक एकता ही है, पर आश्चर्यकारी शाब्दिक साम्य भी देखा जाता है। यह एक स्वतन्त्र लेख का विषय है, इसलिए हम उसमे नही जायेंगे। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि महात्मा गांधी के विचारो को सत टॉल्स्टॉय के विचारो से प्रचुर खाद्य प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि सत टॉल्स्टॉय के विचार महात्मा गांधी की चिन्तनधारा की भव्य नींव है।

महात्मा गांधी और सत टॉल्स्टॉय—दोनो का ही आग्रह सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के लिए रहा। दोनो ही इन्हें जीवन के शाश्वत अग मानते रहे।

महात्मा गांधी ने एकबार कहा था "' ' महात्मापन कौडी काम का नही। यह तो मेरी बाह्य प्रवृत्तियो, मेरे राजनीतिक कामो का प्रसाद है, जो मेरे जीवन का सब से छोटा अग है, फलत चदरोजा चीज है। जो वस्तु स्थायी मूल्यवाली है वह है मेरा सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्यका आग्रह। यही मेरे जीवन का सच्चा अग है। वही मेरा सर्वस्व है[१]।" दूसरी बार उन्होने कहा "' जीवन के शाश्वत भागो मे ...एक ब्रह्मचर्य है। दुनिया मामूली चीजो की तरफ दौडती है। शाश्वत चीजो के लिए उसके पास समय ही नही रहता। तो भी हम विचार करे तो देखेंगे कि दुनिया शाश्वत चीजो पर ही निभती है[२]।"

महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य के विषय को लेकर अनेक प्रयोग किये थे, जिनका जिक्र कुछ बाद मे ही किया जानेवाला है। इन प्रयोगो की भीत्ति को सरलता से समझा जा सके, इसलिए महात्मा गान्धी ने ब्रह्मचर्य की क्या परिभाषा दी और वे उसके कितने नजदीक पहुँच सके, यह जान लेना आवश्यक है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि जैन दृष्टि से वे पूर्ण ब्रह्मचर्य के कितने नजदीक अथवा दूर कहे जा सकते हैं।

सन् १९२० मे ब्रह्मचर्य का अर्थ बतलाते हुए महात्मा गान्धी ने लिखा "ब्रह्मचर्य का अर्थ उसके अग्रेजी पर्याय 'सेलिवेसी' (अविवाह-व्रत) से अधिक व्यापक है। ब्रह्मचर्य के मानी है सम्पूर्ण इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार। आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए मन, वाणी और कर्म सब मे पूर्ण संयम का पालन आवश्यक है[३]।"

पांच वर्ष बाद (सन् १९२४,२५ मे) ब्रह्मचर्य के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा "ब्रह्मचर्य का लौकिक अथवा प्रचलित अर्थ तो मन, वचन और काय से विषयेन्द्रिय का सयम माना जाता है[४]। उसकी विस्तृत व्याख्या सब इन्द्रियो का सयम है[५]।"

इसके ग्यारह वर्ष बाद (सन् १९३६ में) उन्होने लिखा "ब्रह्मचर्य का मूलार्थ इस प्रकार बताया जा सकता है—वह आचरण जिससे कोई व्यक्ति ब्रह्म या परमात्मा के सम्पर्क में आता है। इस आचरण मे सब इन्द्रियो का सपूर्ण सयम शामिल है। इस शब्द का यही सच्चा और सुसगत अर्थ है।

"वैसे आमतौर पर इसका अर्थ सिर्फ जननेन्द्रिय या शारीरिक सयम ही लगाया जाने लगा है। इस सकीर्ण अर्थ ने ब्रह्मचर्य को हल्का करके उसके आचरण को प्राय बिल्कुल असभव कर दिया है। जननेन्द्रिय पर तब तक सयम नही हो सकता जबतक कि सभी इन्द्रियो का उपयुक्त सयम न हो, क्योंकि वे सब अन्योन्याश्रित हैं। मन भी इन्द्रियो मे ही शामिल है। जब तक मन पर सयम न हो, खाली शारीरिक सयम चाहे कुछ समय के लिए प्राप्त भी हो जाय, पर उससे कुछ हो नही सकता[६]।"

१—अनीति की राह पर पृ० ६९
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५३
३—अनीति की राह पर पृ० ५०
४—वही पृ० ५८
५—वही पृ० ६१
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ११

सन् १९३६ के उपर्युक्त विश्लेपण मे उन्होने वही वात कही है जो १९२६ मे चुम्बकल्प मे इस प्रकार कही थी "ब्रह्मचर्य का अर्थ शारीरिक सयम-मात्र नही है, वल्कि उसका अर्थ है—सम्पूर्ण इन्द्रियो पर पूर्ण अधिकार और मन-वचन-कर्म से काम वासना का त्याग[१] ।"

अत मे (सन् १९४७) मे भी उन्होने ब्रह्मचर्य की यही परिभाषा दी : "जो हमें ब्रह्म की तरफ ले जाय, वह ब्रह्मचर्य है। इसमे जननेन्द्रिय का संयम आ जाता है। वह सयम मन, वाणी और कर्म से होना चाहिए[२] ।"

इस तरह महात्मा गांधी का आदि, मध्य और अन्तिम चिन्तन एक ही रूप मे वहता रहा। उन्होने आजीवन ऐसे ब्रह्मचर्य को ही आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-प्राप्ति का सीधा और सच्चा रास्ता माना[३] ।

ब्रह्मचर्य की इस परिभाषा की कसौटी पर ही वे कहते रहे

(१) पुरुष स्त्री का, स्त्री पुरुष का भोग न करे, यही ब्रह्मचर्य है। भोग न करने का अर्थ इतना ही नही कि एक दूसरे को भोग की इच्छा से स्पर्श न करे, वल्कि मन से इसका विचार भी न करे। इसका सपना भी न होना चाहिए[४] ।

(२) ब्रह्मचर्य का अर्थ खाली दैहिक आत्म-सयम ही नही है। • इसका मतलव है सभी इन्द्रियो पर पूर्ण नियमन। इस प्रकार अशुद्ध विचार भी ब्रह्मचर्य का भग है और यही हाल क्रोध का है[५] ।

(३) जो मनुष्य मनसे भी विकारी होता है, समझना चाहिए कि उसका ब्रह्मचर्य स्खलित हो गया। जो विचार मे निर्विकार नही, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नही माना जा सकता[६] ।

(४) अगर कोई मन से भोग करे और वाणी व स्थूल कर्म पर कावू रखे तो यह ब्रह्मचर्य में नही चलेगा। 'मन चगा तो कठौती मे गगा'। मन पर कावू हो जाय, तो वाणी और कर्म का सयम वहुत आसान होता है[७] ।

सच्चा पूर्ण ब्रह्मचारी कैसा होता है, इसपर भी उन्होने कई वार लिखा। एक वार उन्होने कहा—

"वुढापे में वुद्धि मन्द होने के वदले और तीक्ष्ण होनी चाहिए। हमारी स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि इस देह मे मिले हुए अनुभव हमारे और दूसरे के लिए लाभदायक हो सकें और जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसकी ऐसी स्थिति रहती भी है। उसे मृत्यु का भय नही रहता और मरते समय भी वह भगवान को नही भूलता और न वेकार ही हाय-हाय करता है। मरण-काल मे उपद्रव भी उसे नही सताते और वह हसते-हसते यह देह छोडकर मालिक को अपना हिसाव देने जाता है। जो इस तरह मरे, वही पुरुष और वही स्त्री है।[८] "

वाद में लिखा

"अल्पाहारी होते हुए भी ऐसा ब्रह्मचारी शारीरिक श्रम में किसी से कम नही रहेगा। मानसिक श्रम मे उसे कम-से-कम थकान लगेगी। वुढापे के सामान्य चिह्न ऐसे ब्रह्मचारी में देखने को नही मिलेंगे। जैसे पका हुआ पत्ता या फल वृक्ष की टहनी पर से सहज ही गिर पडता है, वैसे ही समय आने पर मनुष्य का शरीर सारी शक्तियाँ रखते हुए भी गिर जायेगा। ऐसे मनुष्य का शरीर समय वीतने पर देखने मे भले ही क्षीण लगे, मगर उसकी वुद्धि का तो क्षय होने के वदले नित्य विकास ही होना चाहिए और उसका तेज भी वढना चाहिए। ये चिह्न जिसमे देखने में नही आते, उसके ब्रह्मचर्य मे उतनी कमी समझनी चाहिए[९] ।"

१—अनीति की राह पर पृ० ७२
२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५२
३—अनीति की राह पर पृ० ७०
४—आरोग्य साधन पृ० ५६-५७
५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७
७—वही पृ० ५२
८—अनीति की राह पर पृ० ६१

सन् १९४७ में उन्होने लिखा

"मेरी कल्पना का ब्रह्मचारी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ होगा, उसका सिर तक नही दुखेगा, वह स्वभावत दीर्घजीवी होगा, उसकी बुद्धि तेज होगी, वह आलसी नही होगा, शारीरिक या बौद्धिक काम करने मे थकेगा नही और उसकी बाहरी सुघडता सिर्फ दिखावा न होकर भीतर का प्रतिबिंब होगी। ऐसे ब्रह्मचारी मे स्थितप्रज्ञ के सब लक्षण देखने मे आवेंगे। ऐसा ब्रह्मचारी हमे कही दिखाई न पडे तो उसमें घबराने की कोई बात नही।

"जो स्थिरवीर्य है, जो ऊर्ध्वरेता हैं, उनमे ऊपर के लक्षण देखने में आवें तो कौन बडी बात है? मनुष्य के इस वीर्य मे अपने-जैसा जीव पैदा करने की ताकत है, उस वीर्य को ऊँचे ले जाना ऐसी-वैसी बात नही हो सकती। जिस वीर्य की एक बूद मे इतनी ताकत है, उसके हजारो बूदो की ताकत का माप कौन लगा सकता है[1]।"

महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आते ही रहते—'क्या आप ब्रह्मचर्य का पूरा पालन करते हैं?' 'क्या आप ब्रह्मचारी हैं?' महात्मा गांधी ने ऐसे प्रश्नो का उत्तर देते हुए अपनी स्थिति पर कई बार प्रकाश डाला।

सन् १९२४ मे एक बार उन्होने कहा "मन, वाणी और काय से सम्पूर्ण इन्द्रियो का सदा सब विषयो मे सयम ब्रह्मचर्य है। इस सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य की स्थिति को मैं अभी नही पहुच सका हू। पहुचने का प्रयत्न सदा चल रहा है। ' काया पर मैंने काबू पा लिया है। जाग्रत अवस्था में मैं सावधान रह सकता हू। वाणी के सयम का यथायोग्य पालन करना भी सीख लिया है। पर विचारो पर अभी बहुत काबू पाना बाकी है। जिस समय जो बात सोचनी हो, उस क्षण वही बात मन मे रहनी चाहिए। पर ऐसा न होकर और बातें भी मन मे आ जाती हैं और विचारो का द्वन्द्व मचा ही रहता है।

"फिर भी जाग्रत अवस्था मे मैं विचारो का एक-दूसरे से टकराना रोक सकता हू। मैं उस स्थिति को पहुँचा हुआ माना जा सकता हू जब गन्दे विचार मन में आ ही नही सकें। पर निन्द्रावस्था मे विचार के ऊपर मेरा काबू कम रहता है। नीद में अनेक प्रकार के विचार मन मे आते हैं, अनसोचे सपने भी दिखाई देते हैं। कभी-कभी इसी देह मे की हुई बातो की वासना जग उठती है। ये विचार गन्दे हो तो स्वप्न-दोष होता है। यह स्थिति, विकारयुक्त जीवन की ही हो सकती है।

"मेरे विचारो के विकार क्षीण होते जा रहे हैं। पर अभी उनका नाश नही हो पाया है। अपने विचारो पर मैं पूरा काबू पा सका होता तो पिछले दस बरस के बीच जो तीन कठिन बीमारियां मुझे हुई ' वे न हुई होती।

"यह अद्भुत दशा तो दुर्लभ ही है। नही तो मै अब तक उसको पहुच चुका होता, क्योकि मेरी आत्मा गवाही देती है कि इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए जो उपाय करने चाहिए, उनके करने मे मैं पीछे रहनेवाला नहीं हूँ। पर पिछले सस्कारो को धो डालना सब के लिए सहज नही होता। इस तरह लक्ष्य तक पहुँचने मे देर लग रही है, पर इससे मैंने तनिक भी हिम्मत नही हारी है। कारण यह है कि निर्विकार दशा की कल्पना मैं कर सकता हू। उसकी धुधली झलक भी जब-तब पा जाता हू और इस रास्ते मे मै अब तक जितना आगे बढ सका हू, वह मुझे निराश करने के बदले आशावान ही बनाता है[2]।"

महात्मा गान्धी को एक अभिनन्दन पत्र मे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहा गया था। उत्तर में बोलते हुए सन् १९२५ मे उन्होने कहा "जब मुझे कोई नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहता है तब मुझे अपने-पर दया आती है। जिसके बाल-बच्चे हुए हैं, उसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी कैसे कह सकते हैं? नैष्ठिक ब्रह्मचारी को न तो कभी बुखार आता है, न कभी सिर दर्द करता है, न कभी खांसी होती है और न कभी अपेंडिसाइटिस होता है। मुझ पर नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालन का आरोपण कर के कोई मिथ्याचारी न हो। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का तेज तो मुझ से अनेक गुना अधिक होना चाहिए। मै आदर्श ब्रह्मचारी नही। हां, यह सच है कि मैं वैसा बनना चाहता हू[3]।"

जब महात्मा गांधी ने स्वप्न-स्खलन की बात स्वीकार की तब एक सज्जन ने लिखा कि ऐसे स्वीकार का प्रभाव अच्छा नही हो सकता।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५२

२—अनीति की राह पर पृ० ५६-५८

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १००-३

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया "जो आदमी जैसा है उसे वैसा जानने मे सदा सब का हित है। इससे कभी कोई हानि नही होती। मेरा दृढ विश्वास है कि मेरे झट अपनी भूलें स्वीकार कर लेने से लोगो का हर तरह हित ही हुआ है। कम-से-कम मेरा तो इससे उपकार ही हुआ है।

"यही बात मैं बुरे सपनो का होना स्वीकार करने के बारे मे भी कह सकता हू। पूर्ण ब्रह्मचारी न होते हुए भी मैं होने का दावा करूँ तो इससे दुनिया की बडी हानि होगी। यह ब्रह्मचर्य की उज्ज्वलता को मलिन और सत्य के तेज को धूमिल कर देगा। झूठे दावे करके ब्रह्मचर्य का मूल्य घटाने का साहस मैं कैसे कर सकता हू? आज मै यह देख सकता हू कि ब्रह्मचर्य-पालन के लिए जो उपाय मैं बताता हू, वे काफी नही साबित होते, वे हर जगह कारगर नही होते, और केवल इसलिए कि मै पूर्ण ब्रह्मचारी नही हू। मैं दुनिया को ब्रह्मचर्य का सीधा रास्ता न दिखा सकू और मुझे पूर्ण ब्रह्मचारी माने, यह बात उसके लिए बडी भयानक होगी।

"मै सच्चा खोजी हू, मैं पूर्ण जाग्रत हू, मेरा प्रयत्न अथक और अजित है—इतना ही जान लेना दुनिया के लिए काफी न हो?

"सत्य, ब्रह्मचर्य और दूसरे सनातन नियम मुझ-जैसे अधकचरे जनो की साधना पर आश्रित नही होते। वे तो उन बहुसख्यक जनो की तपश्चर्या के अटल आधार पर खडे होते हैं जिन्होने उनकी साधना का यत्न किया और उनका पूर्ण पालन कर रहे हैं[१]।"

सन् १९३६ में गांधीजी बीमार हुए। एक दिन की अपनी स्थिति का वर्णन उन्होने निम्न रूप में किया :

"१८९९ से मैं जानबूझ कर और निश्चय के साथ बराबर ब्रह्मचर्य का पालन करने की कोशिश कर रहा हू। मेरी व्याख्या के अनुसार, इसमे न केवल शरीर की, बल्कि मन और वचन की शुद्धता भी शामिल है। और सिवा उस अपवाद के जिसे मानसिक स्खलन कहना चाहिए, अपने ३६ वर्ष से अधिक समय के सतत एव जागरूक प्रयत्न के बीच मुझे याद नही पडता कि कभी भी मेरे मन में इस सम्बन्ध में ऐसी बेचैनी[२] पैदा हुई हो, जैसी कि इस बीमारी के समय मुझे महसूस हुई। यहा तक की मुझे अपने से निराशा होने लगी, लेकिन जैसे ही मेरे मन मे ऐसी भावना उठी, मैने अपने परिचारको और डाक्टरो को उससे अवगत कर दिया।' इस अनुभव के बाद मैने उस आराम में ढीलाई कर दी, जो कि मुझ पर लादा गया था और अपने इस बुरे अनुभव को स्वीकार कर लेने से मुझे बडी मदद मिली। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो मेरे ऊपर से बडा भारी बोझ हट गया और कोई हानि हो सकने से पहले ही मैं सभल गया। इससे अपनी मर्यादाएँ और अपूर्णताएँ भलीभांति मेरे सामने आ गई, लेकिन उनके लिए मै उतना लज्जित नही हू जितना कि सर्वसाधारण से उनको छिपाने में होता[३]।"

महात्मा गांधी ने सन् १९३२ में भी कहा—"मैं अपने को सोलह आने पूर्ण ब्रह्मचारी नही मानता[४]।" और यही बात वे अपने जीवन के अन्त तक कहते रहे[५]। उन्होने पूर्ण ब्रह्मचारी होने का दावा नही किया, इसके चार कारण उन्होने बताये :

(१) मन के विकार काबू मे रहते हैं लेकिन नष्ट नही हो पाये[६]। "जब तक विचारो पर ऐसा काबू नहीं प्राप्त होता कि इच्छा बिना एक भी विचार न आवे, तब तक सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य नही। विचारमात्र विकार है[७]।"

(२) दूषित स्वप्न आते हैं : "सम्पूर्ण ब्रह्मचारी के स्वप्न मे भी विकारी विचार नही होते, और जब तक विकारी स्वप्न होते हैं तब तक ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है, ऐसा मानना चाहिए[८]।"

(३) वे ब्रह्मचर्य की अपनी व्याख्या को पूर्णतया पहुँच नही सके[९]। "मेरी व्याख्या को मैं नही पहुँचा हूँ, इसलिए मैं अपने को आदर्श ब्रह्मचारी नही मानता[१०]।"

१—अनीति की राह पर पृ० ६७-६९
२—जागृत अवस्था में उत्तेजन और स्राव
३—ब्रह्मचर्य (प भा) पृ० १०९-११०
४—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४१
५—(क) ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ३४ (ख) वही पृ० १०४ (ग) ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७ (घ) आरोग्य की कुजी पृ० ३२ (ङ) ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ४७
६—ब्रह्मचर्य (दू० भा) पृ० ७
७—आत्मकथा (गु०) पृ० २६२
८—आत्मकथा (गु०) पृ० ३६७
९—आरोग्य की कुजी पृ० ३२
१०—सयम अने सततिनियमन (गु०) पृ० १३

(४) पूर्ण ब्रह्मचारी मे जो स्थिति उत्पन्न होती है, वह उनमे उत्पन्न नही हुई। सन् १९४७ मे उन्होने गीता मे आए हुए स्थितप्रज्ञ के वर्णन की कसौटी पर अपने को कसते हुए कहा ' "मैं स्वीकार करता हू कि स्थितप्रज्ञ की स्थिति को पहुचने की कोशिश करने पर भी मैं अभी उससे बहुत दूर हू[१]।' स्थितप्रज्ञ पूर्ण ब्रह्मचारी का ही दूसरा नाम है।

महात्मा गांधी ने लिखा है "जो मनुष्य अपनी आंखो मे तेज लाना चाहता है, जो स्त्री-मात्र को अपनी सगी माता या वहन मानता है, उसे तो रज-कण से भी क्षुद्र होना पडेगा। उसे एक खाई के किनारे खडा समझिए। जरा भी मुह इधर-उधर हुआ कि गिरा। वह अपने मन से भी अपने गुणो की कानाफूमी करने का साहस नही कर सकता [२]। नारद की कथा स्मरण रखो। नारद ने ज्यो ही ब्रह्मचर्य का अभिमान किया कि गिरे[३]।"

महात्मा गांधी ने अपने विषय मे जो कहा है कि वे पूर्ण ब्रह्मचारी नही सम्भव है कि उसमे नम्रता की इस भावना ने भी कुछ कार्य किया हो पर साथ ही अपने अन्तर चित्रो को उपस्थित करते हुए उन्होने सत्य स्थिति नहीं रखी हो, यह भी नही कहा जा सकता। निश्चय ही उन्होने अपना चित्रण इस भावना से किया है—"जो आदमी जैसा है, उसे वैसा जानने मे सदा सबका हित है। इससे कभी कोई हानि नही होती।" ऐसी स्थिति मे हम उनके अपने अङ्कन को सही मान लें तो भी गलती नही करेंगे।

महात्मा गांधी ने जो कहा है कि वे पूर्ण ब्रह्मचारी नही, उससे कोई ऐसा अर्थ न लगावे कि इतने-इतने भगीरथ प्रयत्न करने पर भी जब महात्मा गांधी पूर्ण ब्रह्मचारी नही हो सके तब दूसरो की तो हस्ती ही क्या है? महात्मा गांधी ने एक बार नही अनेको बार कहा है "अपने आदर्श से दूर होते हुए भी मैं यह मानता हू कि जब मैंने इस व्रत का आरम्भ किया तब मैं जहाँ पर था, उससे आगे बढ गया हूँ[४]।" "मैं अपनी व्याख्या को पूर्णतया पहुँच नही सका, तो भी मेरी दृष्टि से मेरी खासी अच्छी प्रगति हुई है[५]।" एक बार उन्होने बडी दृढता के साथ कहा "मैं भी विचार के विकार से दूर न हो सका तो दूसरो के लिए क्या आशा, ऐसी गलत त्रिराशि जोडने के बदले ऐसी सीधी त्रिराशि क्यो न लगायी जाय कि जो गांधी एक समय विकारी और व्यभिचारी था, वह आज अपनी स्त्री के साथ अविकारी मित्रता रख सकता हो, यदि वह आज रंभा जैसी युवती के साथ भी अपनी लडकी या वहिन के समान रहता हो, तो हम सब भी ऐसा क्यो न कर सकेंगे। हमारे स्वप्नदोष, विचार-विकार ईश्वर दूर करेगा ही। यही सीधा मेल है[६]।"

पूर्ण ब्रह्मचारी होना सभव है, इस बात को महात्मा गांधी ने इस प्रकार रखा "जब विचार पर पूर्ण काबू प्राप्त हो जाता है तब पुरुष स्त्री को अपने में समा लेता है और स्त्री पुरुष को। इस प्रकार के ब्रह्मचारी के अस्तित्व मे मेरा विश्वास है[७]।"

ऐसे ब्रह्मचारी दुनिया मे विरले ही होते हैं पर नही होते, ऐसा नही है। महात्मा गांधी लिखते हैं "ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले इस दुनिया में बहुतेरे पडे हैं। पर वे गली-गली मारे-मारे फिरें तो उनका मूल्य ही क्या होगा? हीरा पाने के लिए हजारो मजदूरो को धरती के पेट में समा जाना पडता है। इसके बाद भी जब धूप-ककडो का पहाड धो डाला जाता है, तब कही मुट्ठी-भर हीरा हाथ लगता है। तब सच्चे ब्रह्मचर्यरूपी हीरे की तलाश मे कितनी मेहनत करनी होगी, इसका जवाब हर आदमी त्रैराशिक करके निकाल सकता है[८]।"

उन्होने लिखा है "ब्रह्मचर्यादि महाव्रतो की सत्यता या सिद्धि मेरे जैसे किसी पर अवलम्बित नही, इसके पीछे लाखो ने तेजस्वी तपश्चर्या की है, और कितनो ही ने सम्पूर्ण विजय प्राप्त की है[९]।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ६६

२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ५५-५६

३—अमृतवाणी पृ० ११५

४—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७

५—आरोग्य की कुजी पृ० ३२

६—सयम अने सततिनियमन (गु०) पृ० ५६

७—वही (गु०) पृ० ३३

८—अनीति की राह पर पृ० ९२

९—सयम अने सततिनियमन (गु०) पृ० ५६

यह महात्मा गांधी का उनकी अपनी दृष्टि से विचार है।

भगवान महावीर के अनुसार कार्य की निष्पत्ति 'तिविहं तिविहेणं' इस मत्र के अनुसार होती है। मन, वचन और काय—ये तीन क्रिया के हेतु—करण हैं। और करना, कराना और अनुमोदन करना, ये क्रिया के तीन तरीके—योग हैं। तीन करण, तीन योग से कार्य उत्पन्न होता है। उन्होने कहा—जो पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहता है, उसे यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से सर्व प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करना होगा—"नेव सय मेहुण सेविज्जा नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवाविज्जा मेहुण सेवतेऽवि अन्ने न समणुजाणिज्जा जावज्जीवाए तिविहेण मणेणं वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करतंपि अन्न न समाणुजाणिज्जा जावज्जीवाए।" भगवान महावीर के अनुसार जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नहीं करता, वह देश ब्रह्मचारी है। पूर्ण ब्रह्मचारी वह है जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन नही करता, न करवाता है और न करनेवाले का अनुमोदन करता है।

महात्मा गांधी ने एक बार लिखा "किसी का भी विवाह करने का अथवा उसमें भाग लेने का अथवा उसे उत्तेजन देने का मेरा काम नही। पुन आश्रम की भूमि पर विवाह हो, यह आश्रम के आदर्श के साथ मिलती वस्तु नही कही जा सकती। मेरा धर्म ब्रह्मचर्य का पालन करने-कराने का रहा है। मैं इस काल को आपत्तिकाल मानता हू। वैसे समय में विवाह हो या प्रजावृद्धि हो, यह अनिष्ट समझता हू। ऐसे कठिन समय में समझदार मनुष्य का कार्य भोग कम करने और त्यागवृत्ति वढाने का होना चाहिए[1]।"

इन उद्‌गारो से महात्मा गांधी का आग्रह पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए ही था, यह स्पष्ट है। ऐसा पक्ष, इच्छा और आदर्श होने पर भी महात्मा गांधी ने कितने ही विवाह अपने हाथो से कराये। एक वार उन्होने कहा "मैं आपसे कह दू कि आप ब्रह्मचारी वनें तो क्या यह होनेवाली वात है? वह तो एक आदर्श है, इसलिए मैं तो विवाह भी करा देता हू। एक आदर्श देते हुए भी यह तो जानता हू कि ये लोग भोग भी करेंगे[2]।"

इस तरह भोगोत्पत्ति की परम्परा को प्रसरण करनेवाले प्रसगो मे महात्मा गांधी भी यदा-कदा भाग लेते हुए देखे जाते हैं।

एक वार महात्मा गांधी से पूछा गया—"पति को उपदश जैसा कठिन रोग हो तव स्त्री क्या करे?" उन्होने उत्तर दिया "... ऐसे पति को क्लीव समझ कर उसे दूसरी शादी कर लेनी चाहिए[3]।"

यह उत्तर दो अपेक्षा से ही हो सकता है—(१) भोगी पति की अपेक्षा से, जो ऐसे रोग के समय भी सयम नही रख पाता। इस अपेक्षा से ऐसा उत्तर 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' ही होगा। (२) भोग की कामना रखनेवाली पत्नी की अपेक्षा से। इस अपेक्षा से यह उत्तर भोग की राह दिखाता है। सयम का मार्ग नही।

महात्मा गांधी कहा करते थे "स्त्री-पुरुप के पत्नी-पति तरीके के सासारिक जीवन के मूल मे भोग है[4]।" एक पति को छोडकर दूसरे पति के साथ विवाह करने मे तो प्रत्यक्षत यह एक मूल वात है। ऐसी हालत मे विवाह का सुझाव अब्रह्म का ही अनुमोदन कहा जा सकता है।

एक वार वलवन्तसिहजी ने पूछा, "कुछ लोग वासना का क्षय करने के लिए विवाह की आवश्यकता मानते हैं। क्या भोग से वासना का क्षय हो सकता है?" वापू ने जवाव दिया—"हरगिज नही[5]।"

यह ठीक वैसा ही उत्तर है, जैसा श्री हेमचन्द्राचार्य ने दिया "जो स्त्री-सभोग से कामज्वर को शान्त करना चाहता है, वह घी की आहुति से अग्नि को शमन करना चाहता है।"

स्त्रीसभोगेन य कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं घृत्याहुत्या विध्यापयितुमिच्छति[6]॥

१—त्यागमूर्ति अने वीजा लेखो पृ० १७४
२—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ८८
३—वही पृ० ६०
४—वापु ना पत्रो—५ कु० प्रेमावहेन कटकने पृ० १०३
५—वापू की छाया में पृ० २००
६—योगशास्त्र २ ८१

ऐसा होते हुए भी बापूने ने एक बार लिखा—"स्त्री को देखकर जिसके मन मे विकार पैदा होता हो, वह ब्रह्मचर्य-पालन का विचार छोड़कर, अपनी स्त्री के साथ मर्यादापूर्वक व्यवहार रखे, जो विवाहित न हो, उसे विवाह का विचार करना चाहिए[१] ''।"

यहाँ विकार की शांति का उपाय बताते हुए उन्होने एक तरह से विवाहित-सभोग का अनुमोदन कर दिया। इस तरह अनुमोदन के अनेक पसग महात्मा गांधी के जीवन मे देखे जाते हैं।

उन्होने एक बार कहा—"विवाहित स्त्री-पुरुष यदि प्रजोत्पत्ति के शुभ हेतु बिना विषय-भोग का विचार तक न करें, तो वे पूर्ण ब्रह्मचारी माने जाने के लायक हैं[२]।" दूसरी बार कहा—"जो दपति गृहस्थाश्रम मे रहते हुए केवल प्रजोत्पत्ति के हेतु ही परस्पर सयोग और एकान्त करते हैं, वे ठीक ब्रह्मचारी हैं[३]।" उन्होने फिर कहा—"सन्तानोत्पत्ति के ही अर्थ किया हुआ सभोग ब्रह्मचर्य का विरोधी नही है[४]।"

इस तरह सतान के हेतु अब्रह्म का उनसे अनुमोदन हो गया।

एक बार महात्मा गांधी के साथी बलवन्तसिंहजी ने पूछा—"आप कहते हैं कि सतान के लिए स्त्री-सग धर्म है, बाकी व्यभिचार है, और निर्विकार मनुष्य भी सतान पैदा कर सकता है। वह ब्रह्मचारी ही है। लेकिन जिसने विकार के ऊपर काबू पाया है, वह क्या सतान की इच्छा करेगा?" महात्मा गांधी ने उत्तर दिया . "हाँ, यह अलग सवाल है। लेकिन ऐसे भी लोग हो सकते हैं, जो निर्विकार होने पर भी पुत्र की इच्छा रखते हैं।" बलवन्तसिंहजी ने कहा "अधिकतर तो संतान की आड मे काम की तृप्ति करते हैं।" महात्माजी बोले "हा, यह तो ठीक है। आजकल धर्मज सतान कहाँ है? मनु की भाषा मे एक ही सतान धर्मज है, बाकी सब पापज हैं[५]।"

महात्मा गांधी ने 'पुत्र की इच्छा' को भोगेच्छा से जुदा माना है। उन्होने भोगेच्छा को विकार माना है, सन्तानेच्छा को नही। उनके विचार को सभवत इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि एक आदमी रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाता है और दूसरा आदमी घर में आग लगाने के लिए अग्नि सुलगाता है। पहले मनुष्य का कार्य अनैतिक नही, दूसरे का अनैतिक है। उसी तरह जो विषय-भोग की कामना से भोग करता है, उस का कार्य अनैतिक है—अधर्म है। सन्तान की इच्छा से भोग करता है उसका नही।

जो शुद्ध दृष्टि पर गये हैं, उन ज्ञानियो का कहना है कि अग्नि जलाना मात्र हिंसा है, फिर वह किसी दृष्टि या प्रयोजन से ही क्यो न हो। रसोई बनाने के लिए अग्नि सुलगाना अनिवार्य हो सकता है। पर इस अनिवार्यता के कारण वह अहिंसा की दृष्टि से आध्यात्मिक नही कहा जा सकता। वैसे ही सयोग भले ही सन्तानेच्छा के लिए हो, वह कभी धर्म या आध्यात्मिक नही है। जननेन्द्रियो का उपयोग विषय-भोग की इच्छा से भी हो सकता है और सन्तान की इच्छा से भी। दोनो उपयोग अधर्म और अनाध्यात्मिक हैं। 'सन्तान की इच्छा' पूरी करने की प्रक्रिया विषय-भोग ही है। 'सन्तान की इच्छा' और 'विषय-भोग की इच्छा' एक ही अब्रह्म रूपी सिक्के के दो बाजू हैं। उन्हे भिन्न-भिन्न नही माना जा सकता।

भगवान महावीर और स्वामीजी की दृष्टि से निम्नलिखित तीनो प्रकार के कार्य अब्रह्मचर्य की कोटि के हैं

१—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन करना

२—मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन कराना

३—मन-वचन-काय से अब्रह्म-सेवन का अनुमोदन करना

इस दृष्टि से जो मन-वचन-काय से अब्रह्म का सेवन तो नही करता पर उसका सेवन करवाता या अनुमोदन करता है, वह भी ब्रह्मचारी नही।

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ८

२—आरोग्य की कुजी पृ० ३३

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ८१

४—वही पृ० ७७

५—बापू की छाया मे पृ० २००

महात्मा गांधी ने लिखा है कि उनके मन के विकार शांत नही हुए, इसलिए वे ब्रह्मचारी नही। श्रमण भगवान महावीर की दृष्टि से उन्होने मन-वचन-काया से करने, कराने रूप भङ्गो का भी मोचन नही किया, इसलिए भी पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं।

आचार्य भिक्षु ने कहा—"भगवन्! मैने यह समझा है और इसी तुला से तोला है कि जिसका करना धर्म है, उसका कराना और अनुमोदन करना भी धर्म है और जिसे करना अधर्म है, उसका कराना और अनुमोदन करना भी अधर्म है।

"वृक्ष को काटने मे पाप है तो उसे काटने के लिए कुल्हाडी देने और उसका अनुमोदन करने मे भी धर्म नहीं।

"गांव जलाने मे पाप है तो उसे जलाने के लिए अग्नि देने और उसका अनुमोदन करने मे भी धर्म नही है।

"युद्ध करने में पाप है तो युद्ध करने के लिए शस्त्र देने और उसका अनुमोदन करने में भी धर्म नही है[1]।"

इसी तरह किसी भङ्ग से अब्रह्मचर्य का सेवन करनेवाले ही अब्रह्मचारी नही, पर सेवन करानेवाला और अनुमोदन करानेवाला भी अब्रह्मचारी है।

महात्मा गांधी ने पूर्ण ब्रह्मचारी की एक कसौटी दी है। श्रमण भगवान महावीर और 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई' इस तरह भगवान महावीर को माननेवाले स्वामीजी ने भी कसौटी दी है। इन कसौटियो पर अपने को कसता हुआ जो अपने हृदय के एक-एक कोने से अब्रह्म के कूडे कचरे को दूर करता जायगा, वह निश्चय ही एक दिन पूर्ण ब्रह्मचारी हो जायगा, इसमें कोई सन्देह की चीज नही।

२१-महात्मा गांधी और ब्रह्मचर्य के प्रयोग

(१) कंधे का सहारा और साथ टहलना

सन् १९४२ में महात्मा गांधी ने कहा "ज्यो-ज्यो हम सामान्य अनुभव से आगे बढते हैं, त्यो-त्यो हमारी प्रगति होती है। अनेक अच्छी-बुरी शोध सामान्य अनुभव के विरुद्ध जाकर ही हो सकी हैं। चकमक से दियासलाई और दियासलाई मे बिजली की शोध इसी एक चीज की आभारी है। जो बात भौतिक वस्तु पर लागू होती है, वही आध्यात्मिक पर भी होती है। ' ' संयम धर्म कहाँ तक जा सकता है, इसका प्रयोग करने का हम सब को अधिकार है। और ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य भी है[2]।" इसी भावना से वे ब्रह्मचर्य के विषय मे कई प्रकार के प्रयोग करते रहे।

महात्मा गांधी बालिकाओ और स्त्रियो के कधे का सहारा लेकर घूमा करते। भारतवासियो के लिए यह एक नया प्रयोग ही था। इस प्रयोग की शुरुआत के सम्बन्ध मे महात्मा गांधी ने लिखा है

"सन् १८९१ में विलायत से लौटने के बाद मैंने अपने परिवार के बच्चो को करीब-करीब अपनी निगरानी में ले लिया, और उनके—बालक-बालिकाओ के कधो पर हाथ रखकर उनके साथ घूमने की आदत डाल ली। ये मेरे भाइयो के बच्चे थे। उनके बडे हो जाने पर भी यह आदत जारी रही। ज्यो-ज्यो परिवार बढता गया, त्यो-त्यो इस आदत की मात्रा इतनी बढी कि इसकी ओर लोगो का ध्यान आकर्षित होने लगा[3]।"

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यह प्रयोग बाद मे आश्रम की बहिनो के साथ भी चला।

सन् १९२९ में एक सज्जन ने उत्तेजित होकर लिखा

"इस सम्बन्ध मे मेरी विनति है कि ऐसा प्रयोग आपको भी नही करना चाहिए। काष्ठ की पुतली भी मनुष्य को फसा लेती है तो पराई स्त्रियो के कधे पर हाथ रख कर फिरना और चाहे जिस तरह स्पर्श करना, क्या यह मनुष्य को अधःपतन के रास्ते पर ले जानेवाला नहीं? आपने तो योगाभ्यास ठीक साधा होगा, ऐसा मान भी लिया जाय तो दुनिया का वैसा साधा हुआ नहीं होता। दुनिया आप, बोलने के बनस्पित आप क्या करते हैं, यह देखने और उस प्रकार करने के लिए प्रेरित होती है, और बिना विचारे अनुकरण के लिए चल पडती है।"

१—भिक्षु विचार दर्शन पृ० ७९-८०

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३३

३—हरिजन सेवक, २७-९-३५ ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ६०

इसके उत्तर में महात्मा गान्धी ने जो लिखा, उससे इस प्रयोग के पीछे रही हुई उनकी भावना पर अच्छा प्रकाश पडता है। उन्होने लिखा

"लेखक आश्रम में स्त्रियो के प्रति मेरे व्यवहार मे, उनके मेरे मा-समान स्पर्श मे दोष देखते है। इस विषय की आश्रम मे मैंने अपने साथियो के साथ चर्चा की है। आश्रम मे जो मर्यादित छूट पढ या अनपढ बहनें भोगती हैं, वैसी छूट अन्य कही हिन्द में वे भोगती हो, ऐसा मैं नही जानता। पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमें मैं दोष नही देखता। मेरा स्पर्श उसी प्रकार का है। मैं कभी एकान्त मे नही होता। मेरे साथ रोज बालिकाएँ घूमने को निकलती हैं तब उनके कधे पर हाथ रखकर मैं चलता हू। उस स्पर्श की निरपवाद मर्यादा है, वह ये बालिकाएँ जानती हैं और सब समझती हैं।

"अपनी लडकियो को हम अपङ्ग बनाते हैं, उनमे अयोग्य विकार उत्पन्न करते हैं, और जो उनमें नही है उसका आरोप करते हैं, और फिर हम उन्हें कुचलते हैं, और बहु बार व्यभिचार का भाजन बनाते हैं। वे यही मानना सीखती हैं कि वे अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ हैं। इस अपगता से बालिकाओ को मुक्त करने का आश्रम मे भगीरथ प्रयत्न चल रहा है। इस प्रकार का प्रयत्न मैंने दक्षिण अफ्रिका में ही आरभ किया था। मैंने उसका खराब परिणाम नही देखा। किन्तु आश्रम की शिक्षा से कितनी ही बालिकाएँ, बीस वर्ष तक की हो जाने पर भी निर्विकार रहने का प्रयत्न करनेवाली हैं, दिन-दिन निर्भय और स्वाश्रयी बनती जाती हैं। कुमारिका मात्र के स्पर्श से या दर्शन से पुरुष विकार-मय होता ही है, ऐसी मान्यता पुरुष के पुरुषत्व को लज्जित करनेवाली है—ऐसा मैं मानता हू। यह बात अगर सच ही है, तो ब्रह्मचर्य असभव ठहरेगा।

"इस सधिकाल के समय इस देश में स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट मे जोखम है। इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हू। अत स्त्री-स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए जितनी मर्यादा रखी जा सकती हो उतनी आश्रम मे रक्षित है। मेरे सिवा कोई पुरुष बालिकाओ का स्पर्श नही करता, करने का प्रसग ही नही होता। पितृत्व लिया-दिया नही जा सकता।

"मैं स्पर्श करता हू उसमे योगबल का जरा भी दावा नही है। मुझमें योगबल जैसा कुछ नही है। मैं दूसरो ही की तरह विकारमय माटी का पुतला हू। पर विकारमय पुरुष भी पितारूप मे देखने मे आये हैं। मेरी अनेक पुत्रियाँ हैं, अनेक बहिनें हैं। एक पत्नीव्रत से मैं बचा हुआ हू। पत्नी भी केवल मित्र रही है। अत सहज विकराल विकारो पर दबाव डालना पडता है। माता ने मुझे भर जवानी में प्रतिज्ञा का सौन्दर्य जानना सिखाया। वज्र से भी अधिक अभेद्य ऐसी प्रतिज्ञा की दीवाल मुझे सुरक्षित रखती है। मेरी इच्छा के विरुद्ध भी इस दीवाल ने मुझे सुरक्षित रखा है। भविष्य रामजी के हाथ मे है[1]।'

इस विषय का कु० प्रेमाबहन कटक ने अपने एक पत्र में जिक्र किया। उसके उत्तर में (१८-८-'३२ को) महात्मा गांधी ने लिखा·

"लोकमत याने जिस समाज के मत की हमको दरकार है, उसका मत। यह मत नीति से विरुद्ध न हो तब तक उसे सम्मान देना धर्म है। धोबी के किस्से पर से शुद्ध निर्णय करना कठिन है। हम लोगो को तो आज यह जरा भी अच्छा नही लगेगा। ऐसी टीका को सुनकर अपनी पत्नी का त्याग करनेवाला निर्दय और अन्यायी ही कहलायेगा।

"लडकियो के साथ मेरी छूट से आश्रमवासियों को आघात पहुँचता हो तो छूट लेना मुझे बन्द कर देना चाहिए, ऐसी मेरी मान्यता है। यह छूट लेने का कोई स्वतत्र धर्म नही और लेने मे नीति का भग नही। पर ऐसी छूट न लेने से लडकियो पर बुरा असर होता हो, तो मैं आश्रमवासियो को समझाऊँगा और छूट लूगा। लडकियाँ ही मुझे न छोडें तो फिर क्या करना, यह देखना मेरा काम रहा। मैं जो छूट जिस प्रकार से लेता हू उसकी नकल तो कोई भी न करे। 'आज से मुझे छूट लेनी है' इस प्रकार विचार कर कृत्रिम रूप से कोई छूट नही ली जा सकती और कोई इस तरह ले, तो यह बुरा ही कहा जायगा।'

"मूल बात यह है कि जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली छूट भी लेता है, वह खुद खाई में गिरता है और दूसरो को भी गिराता है। अपने समाज में जब तक स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध स्वाभाविक नही होता, तब तक अवश्य चेतकर चलने की जरूरत है। इस सम्बन्ध में सबको लागू पडे—ऐसा कोई राजमार्ग नही। लौकिक मर्यादा मात्र खराब है, ऐसा कहकर समाज को आघात नही पहुचाना चाहिए[2]।"

१—नवजीवन २८-७-'२६ : त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो पृ० २६२-६४

२—बापूना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने (गु०) पृ० १२६-३० से संक्षिप्त

साबरमती मे एक आश्रमवासी ने महात्माजी से कहा कि आप जब बडी-बडी उम्र की लडकियो और स्त्रियो के कन्धो पर हाथ रखकर चलते हैं, तब इससे लोक-स्वीकृत सभ्यता के विचार को चोट पहुँचती मालूम देती है। किन्तु आश्रमवासियो के साथ चर्चा होने के बाद यह चीज जारी ही रही। सन् १९३९ में महात्मा गांधी के दो साथी वर्धा आये, तब उन्होने महात्मा गांधी से कहा कि आपकी यह आदत सभव है कि दूसरो के लिए उदाहरण बन जाय।

महात्मा गांधी को यह दलील जची नही। फिर भी वे इन चेतावनियो की अवलेहना करना नही चाहते थे और उन्होने पांच आश्रमवासियो से इसकी जाँच करके सलाह देने के लिए कहा।

इसी बीच एक निर्णयात्मक घटना घटी। यूनिवर्सिटी का एक तेज विद्यार्थी अकेले मे एक लडकी के साथ, जो उसके प्रभाव में थी, सभी तरह की आजादी से काम लेता था, और दलील यह दिया करता था कि वह उस लडकी को सगी बहन की तरह प्यार करता है। उसपर कोई अपवित्रता का जरा भी आरोपण करता तो वह नाराज हो जाता। वह लडकी उस नौजवान को बिल्कुल पवित्र और भाई के समान मानती। वह उसकी उन चेष्टाओ को पसन्द नही करती; आपत्ति भी करती। पर उस बेचारी में इतनी ताकत नही थी कि वह उन चेष्टाओ को रोक सकती।

इस घटना ने गांधीजी को विचार में डाल दिया। उन्हें साथियो की चेतावनी याद आई। उन्होने अपने दिल से पूछा कि यदि उन्हें यह मालूम हो कि वह नवयुवक अपने बचाव में उनके व्यवहार की दलील दे रहा है तो वह कैसा लगे? इस विचार के बाद महात्मा गांधी ने उपर्युक्त प्रथा का परित्याग कर दिया। उन्होने १२ सितम्बर, १९३५ के दिन यह निर्णय वर्धा के आश्रमवासियो को सुनाया।

अपनी मानसिक स्थिति को उपस्थित करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा था—"जहाँ तक मुझे याद है, मुझे कभी यह पता नही चला कि मैं इसमे कोई भूल कर रहा हूँ।' ··· यह बात नही कि यह निर्णय करते समय मुझे कष्ट न हुआ हो। इस व्यवहार के बीच या उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन में नही आया।" उन्होने फिर लिखा "मेरा आचरण कभी छिपा हुआ नही रहा है। मैं मानता हूँ कि मेरा आचरण पिता के जैसा रहा है और जिन अनेक लडकियो का मैं मार्ग-दर्शक और अभिभावक रहा हू, उन्होने अपने मन की बाते इतने विश्वास के साथ मेरे सामने रखी कि जितने विश्वास के साथ शायद और किसी के सामने न रखती।"

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसी शुद्ध मानसिक स्थिति के होने पर भी उन्होने यह प्रयोग क्यो बन्द किया। इसका कारण महात्मा गांधी ने इस प्रकार बताया है "यद्यपि ऐसे ब्रह्मचर्य में मेरा विश्वास नही, जिसमें स्त्री पुरुष का परस्पर स्पर्श बचाने के लिए एक रक्षा की दीवार बनाने की जरूरत पडे और जो ब्रह्मचर्य जरासे प्रलोभन के आगे भग हो जाय तो भी जो स्वतन्त्रता मैंने ले रखी है, उसके खतरो मे मैं अनजान नही हूँ। इसलिए मेरे अनुसधान ने मुझे अपनी यह आदत छोड देने के लिए सचेत कर दिया, फिर मेरा कन्धो पर हाथ रखकर चलने का व्यवहार चाहे जितना पवित्र रहा हो।" इस परित्याग के समय महात्माजी ने यह भी सोचा "मेरे हरेक आचरण को हजारो स्त्री-पुरुष खूब सूक्ष्मता से देखते हैं। मैं जो प्रयोग कर रहा हू, उसमें सतत जागरूक रहने की आवश्यकता है। मुझे ऐसे काम नही करने चाहिए जिन का बचाव मुझे दलीलो के सहारे करना पडे।"

साधारण लोगो को चेतावनी देते हुए महात्मा गांधी ने कहा—"मेरे उदाहरण का कभी यह अर्थ नही था कि उसका चाहे जो अनुसरण करने लग जाय।' ·मैंने इस आशा से यह निश्चय किया है कि मेरा यह त्याग उन लोगो को सही रास्ता सुझा देगा, जिन्होने या तो मेरे उदाहरण से प्रभावित होकर गलती की है या यो ही[१]।"

इस त्याग के थोडे दिनों के बाद (२८-९-३५ को) उन्होने एक बहिन को लिखा—" मेरे त्याग के विषय में जब तू सब जानेगी तब तू भी मुझसे सहमत होगी, ऐसा मुझे विश्वास है[२]।" उसी बहिन को उन्होने पुन (६-५-३६ को) लिखा "लडकियो के कन्धे पर हाथ रखना बन्द किया, उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नही[३]।"

१—हरिजन सेवक, २७-९-'३५ ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ९७-९९

२—बापूना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कटकने पृ० २३५

३—वही पृ० २३६

त्याग के उपरान्त भी यह पयोग पुन चालू कर दिया गया। इस सम्बन्ध मे श्री बलवन्तसिंहजी ने बापू से एक पत्र में प्रकाश चाहा। बापू ने उत्तर देते हुए लिखा है

"तुम्हारा पत्र बहुत ही अच्छा है, निर्मल है। और तुम्हारी सब शका उचित है। भय भी स्थान पर है। और सावधानी स्वागत योग्य है।

"१९३५ की प्रतिज्ञा लिखी गई है अग्रेजी मे। गुजराती अथवा उसका हिन्दी अनुवाद मैंने पढा नही था। मूल अग्रेजी का अर्थ है—'बहनो के कन्धे पर हाथ रखने का मुहावरा मैंने रखा है, उसका मैं त्याग करता हूँ'।

"लेकिन लोक-सग्रह की दृष्टि से उसका त्याग किया। दिल मे कभी यह अर्थ नही था कि मैं कभी किसी लडकी के कन्धे पर हाथ नहीं रखूगा। मुझे खयाल नही है कि सेगांव मे कन्धे पर हाथ रखने का मैंने किस लडकी से शुरू किया। लेकिन मुझे इतना खयाल है कि मुझ को १९३५ की प्रतिज्ञा का पूरा स्मरण था और वह स्मरण होते हुए मैंने उस लडकी के कन्धे पर हाथ रखा। हो सकता है उस लडकी के आग्रह को मैं रोक न सका, अथवा मुझे उसके कन्धे के टेक की दरकार थी। ऐसा तो मैं कैसे कह सकता हूँ कि दुर्बलता के कारण ही मैंने सहारा लिया। और अगर ऐसा भी था तो मैं प्रतिज्ञा के कायम रखने के लिए किसी भाई का सहारा ले सकता था। लेकिन मेरी प्रतिज्ञा का ऐसा व्यापक अर्थ था नही, मैंने कभी किया नही।

"अब रही अमल की बात। मैंने मेरे निर्णय का अमल शुरू किया, उसके बाद ही भाष्य चला। प्रथम भाष्य मे जो अमल तीन चार दिन के बाद करने की बात थी, उसको मैंने दूसरे ही दिन शुरू कर दिया। जहाँ तक मेरी निर्विकारता अधूरी रहेगी, वहाँ तक भाष्य होना ही है। शायद वह आवश्यक भी है। सम्पूर्ण ज्ञान मौन से ज्यादा प्रकट होता है, क्योकि भाषा कभी पूर्ण विचार को प्रकट नही कर सकती। अज्ञान विचार की निरकुशता का सूचक है, इसलिए भाषारूपी वाहन चाहिए। इस कारण ऐसा अवश्य समझो कि जहाँ तक मुझे कुछ भी समझाने की आवश्यकता रहती है वहाँ तक मेरे मे अपूर्णता भरी है अथवा विकार भी है। मेरा दावा छोटा है और हमेशा छोटा ही रहा है। विकारो पर पूर्ण अकुश पाने का अर्थात् हर स्थिति में निर्विकार होने का मैं सतत प्रयत्न करता हू, काफी जाग्रत रहता हूँ। परिणाम ईश्वर के हाथ में है। मैं निश्चिन्त रहता हू (११-६-३८)।[1]"

(७) स्त्रियों के साथ खुला जीवन :

महात्मा गांधी स्त्रियो के साथ आजादी से मिलते-जुलते थे। उन्होने लिखा है "दक्षिण अफ्रिका मे भारतियो के बीच मुझे जो काम करना पडा, उसमें स्त्रियो के साथ आजादी के साथ हिलता-मिलता था। ट्रांसवाल और नेटाल में शायद ही कोई भारतीय स्त्री हो जिसे मैं न जानता होऊ।"

ऐसे घुले-मिले जीवन मे भी उन्होने ब्रह्मचर्य की किस तरह रक्षा की, इसकी झांकी उन्होने इस रूप मे दी

" दुनिया में आजादी से सबके साथ हिलने-मिलने पर ब्रह्मचर्य का पालन यद्यपि कठिन है, लेकिन अगर ससार से नाता तोड लेने पर ही यह प्राप्त हो सकता है तो इसका कोई विशेष मूल्य ही नही है। जैसे भी हो मैंने तो तीस वर्ष से भी अधिक समय से प्रवृत्तियो के बीच रहते हुए, ब्रह्मचर्य का खासी सफलता के साथ पालन किया है।" अपनी दृष्टि के विषय मे उन्होने लिखा है "मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहनें और बेटियां ही थी। धार्मिक साहित्य में स्त्रियो को जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है, उसे मैं इतना भी नही मानता।" आगे जाकर उन्होने लिखा है "स्त्रियो को मैंने कभी इस तरह नही देखा कि कामवासना की तृप्ति के लिए ही वे बनाई गई हैं, बल्कि हमेशा उसी श्रद्धा के साथ देखा है जो कि मैं अपनी माता के प्रति रखता हूँ[2]।"

'सत्याग्रह आश्रम के इतिहास' से पता चलता है कि आश्रम मे ब्रह्मचर्य की व्याख्या पूर्ण रखी गयी थी। आश्रम में स्त्री-पुरुष दोनो रहते थे। और उन्हे एक दूसरे के साथ मिलने की काफी आजादी थी। आदर्श यह था कि जितनी स्वतन्त्रता मां-बेटे या बहिन-भाई भोगते हैं, वही आश्रमवासियो को मिल सके[3]। इस प्रयोग में जो जोखिम थी, उससे महात्मा गांधी परिचित थे और उन्होने लिखा है

१—बापू की छाया में पृ० २४६-५०

२—हरिजन सेवक, २३-७-३८ : ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०४

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४२

"स्त्री-पुरुष एक ही आश्रम में रहें, साथ काम करें, एक दूसरे की सेवा करें और ब्रह्मचर्य रखने की कोशिश करें, तो इसमें डर बहुत हैं। इसमें एक हद तक पश्चिम की जानबूझ कर नकल है। इस तरह के प्रयोग करने की अपनी योग्यता में मुझे शक है। मगर यह तो मेरे सारे प्रयोगो के बारे मे ही कहा जा सकता है। यह शका बहुत जोरदार है, इसीलिए मैं किसी को अपना शिष्य नहीं मानता। समझबूझ कर जो आश्रम में आये हैं, वे सब जोखमो को जानते हुए भी साथी के रूप में आश्रम में आये हैं। लडके और लडकियो को मैं अपने बच्चे मानता हू। इसलिए वे सहज ही मेरे प्रयोगो में घसीटे जाते हैं। सब प्रयोग सत्यरूपी परमेश्वर के नाम पर हैं। वह कुम्हार है और हम उसके हाथ में मिट्टी हैं[1]।"

इस तरह जोखम उठाकर ब्रह्मचर्य-पालन करने की कोशिश के प्रयोग मे निराशा जैसा अनुभव महात्मा गाधी को नहीं हुआ। उनके अनुभव के अनुसार स्त्री-पुरुष दोनो को कुल मिलाकर लाभ ही हुआ। सबसे ज्यादा फायदा स्त्रियो को हुआ[2]। प्रयोग करने में कुछ स्त्री-पुरुष नाकामयाब रहे, कुछ गिर कर उठे। महात्मा गांधी ने लिखा है ' "प्रयोग मात्र में ठोकर, ठेस तो खानी ही होती है। जिसमें सोलहो आने सफलता है, वह प्रयोग नही। वह तो सर्वज्ञ का स्वभाव कहा जायगा[3]।"

आश्रमवासियो के बारे में महात्मा गांधी के पास शकाएँ आयीं तब एक बार महात्मा गांधी ने लिखा : "आश्रम में जो कुटुम्ब-भावना के नाम पर अन्तर में विषयो का सेवन करते होगे, वे तो तीसरे अध्यायवाले मिथ्याचारी हैं। हम यहाँ सत्याचारी की बात कर रहे हैं। और यह सोच रहे हैं कि सत्याचारी को क्या करना चाहिए। इसलिए आश्रम में अगर ९९ फीसदी लोग कुटुम्ब-भावना का ढोग करके विषयों का सेवन करते हो, तो भी अगर १ फीसदी भी बाहर और भीतर से केवल कुटुम्ब-भावना का ही सेवन करते हो, तो उससे आश्रम कृतार्थ हो जायगा। इसलिए हमे यह नही सोचना है कि दूसरा क्या करता है। हमें तो यही विचार करना है कि अपने लिए क्या हो सकता है।' कुटुम्ब-भावना की पृष्ठ-भूमिका में सिद्धान्त क्या है, इस की चर्चा करते हुए उन्होने कहा "इसके साथ ही साथ इतना तो सही है ही किसी का महल देख कर हम अपनी झोपडी न उखाडें। कोई कुटुम्ब-भावना से रह सकने का दावा करे, मगर हम अपने में यह शक्ति न पायें तो उसके दावे को स्वीकार करते हुए भी हम तो कुटुम्ब की छूत से दूर ही रहें। आश्रम में हम एक नया, और इसलिए भयकर प्रयोग कर रहे हैं। इस कोशिश मे सत्य की रक्षा करते हुए जो घुलमिल सकें, वे घुलमिल जायें। जो न घुलमिल सकें, वे दूर रहें। हमने ऐसे धर्म की कल्पना नही की है कि आश्रम में सभी सब तरह से स्त्री मात्र के साथ घुलें मिलें। इस तरह घुलने-मिलने की हमने सिर्फ छूट रखी है। धर्म का सेवन करते हुए जो इस छूट को ले सकता है, वह ले ले। मगर इस छूट को लेने में जिसे धर्म खो बैठने का डर है, वह आश्रम मे रहते हुए भी उससे सौ कोस दूर भाग सकता है[4]।" इस प्रयोग में महात्मा गांधी एक वैज्ञानिक की सी दृढ़ता से लगे थे "हाइड्रोजन और आक्सीजन को मिलाने पर धडाका होना सभव है, यह जानते हुए भी रसायनशास्त्री इस प्रयोग को छोड थोडे ही देंगे? हमारे यहां ऐसे धडाके होते रहेंगे, किन्तु इससे क्या हुआ[5]। सौ में पांच प्रयोग गलत साबित हुए हो, तो उससे क्या हुआ? हमें भूल करने का अधिकार है। जहाँ से भूल होगी, वहाँ से फिर गिनेंगे और आगे बढ़ेंगे[6]।"

(३) बहिनों से पत्र-व्यवहार :

महात्मा गांधी का पत्र व्यवहार विवाहित-अविवाहित अनेक बहिनो के साथ चलता रहा। पत्रो द्वारा वे बहिनो को अनेक प्रकार की शिक्षाएँ देते, उनकी समस्याओ का हल करते और आत्मिक उन्नति की बातें बतलाते। जब कभी बहनें ब्रह्मचर्य अथवा रत् सम्बन्धी विषयो पर प्रश्न पूछती तब वे उन्हे पूरा उत्तर देते। बहिनो के पत्रो मे ऐसे प्रश्नो को छूना नाजुक था और भारत-भूमि मे यह एक नया प्रयोग ही कहा

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४३

२—वही पृ० ४३

३—वही पृ० ४४

४—महादेव भाई की डायरी (पहला भाग) पृ० १०८

५—वही (तीसरा भाग) पृ० ११

६—वही (पहला भाग) पृ० १०९

जायेगा। महात्मा गांधी के साथ बहिनो के पत्र-व्यवहार के अनेक सग्रह प्रकाशित हो चुके हैं और वे बडे प्रभावक हैं। बहिनों के साथ ब्रह्मचर्य सम्बन्धी प्रश्नो पर भी कैसे खुलकर बात चीत होती थी, उसका नमूना कुछ पत्रो के निम्न उद्धरणो से पाठको के सामने आ सकेगा।

"... रक्तपित आदि रोग जिसके हुए हैं, उसे जबरदस्ती से नपुसक करने की प्रथा को पसन्द करने में अनेक रुकावट आती हैं। इससे अनेक प्रकार के अनर्थ होने की सभावना है। पुन किसी भी रोग को असाध्य मान लेना भी उचित नही। संयम का प्रचार कर जितना फल प्राप्त किया जा सके, उतने से सतुष्ट रहना, इसीमे मुझे सही-सलामत लगती है। पद-पद पर मुझे कायरता की गध आती है। कायर कातने वाला सूते में पडी हुई गुत्थी को चाकू से निकालेगा। कुशल कातनेवाला धीरज से और कला से उसे सुलझायेगा और सूते को अविछिन्न रखेगा। ऐसा ही कुछ अहिंसक मनुष्य असाध्य मानी जानेवाली व्याधि से पीडित लोगो के लिए ढूंढेगा (२-९-३५) [1]।"

"महाराष्ट्र के पत्र की बात बिल्कुल सत्य है। पर उसकी कल्पना बिल्कुल असत्य है। लडकियो के कधो पर हाथ रखकर मैं अपनी विषय-वृत्ति का पोषण करता था, ऐसा इस लिखनेवाले के पत्र का अर्थ किया जा सकता है। इसका कथन तो जुदा ही था। पर बात यह है कि, लडकियो के कधो पर हाथ रखना बन्द किया उसके साथ मेरी विषय-वासना का कोई सम्बन्ध नही।

"इसकी उत्पत्ति[2] केवल निकम्मे पडे रहकर खाते रहने मे थी। मुझे स्राव हुआ, पर मैं जाग्रत था और मन अकुश मे था। कारण समझ गया और तब से डाक्टरी आराम लेना बन्द कर दिया। और अब तो मेरी जो स्थिति थी उससे अधिक सरस की कल्पना की जा सके तो सरस है। इस विषय में तुझे विशेष पूछना हो तो पूछ सकती हो, क्योकि तुम से मैंने बडी आशाएँ रखी हैं। अत. तू मुझसे मेरे विषय में जो जानना हो वह जान ले।

"जननेन्द्रिय विषय के लिए है ही नही, यदि यह स्पष्ट हो जाय तो समूची दृष्टि ही न पलट जाय ? जैसे कोई रास्ते मे क्षय रोगी के खखार को मणि समझकर उसे हाथ मे लेने के लिए उत्सुक होता है, पर खखार है, ऐसा समझते ही वह शान्त हो जाता है। उसी प्रकार जननेन्द्रिय के उपयोग के विषय में है। बात यह है कि यह मान्यता ऐसी दृढ और स्पष्ट कभी थी नही। और अब तो नया शिक्षण इस मत की निंदा करता है, मर्यादित विषय-सेवन को सद्गुण मानने को कहता है, और उसकी आवश्यकता है, ऐसा सुझाता है। इन सब पर विचार कर देखना (९-५-३६)[3]।"

जब इस बहिन ने महात्मा गाधी से उन्हें स्वप्न होते हैं या नही, यह जानने की इच्छा की तो उन्होने लिखा

"तूने प्रश्न उचित पूछा है। अब भी और अधिक स्पष्टता से पूछ सकती है। मुझे (स्वप्न मे) स्खलन तो हमेशा हुए हैं। दक्षिण अफ्रिका में वर्षों का अन्तर पडा होगा, मुझे पूरा याद नही। यहां महीने के अन्दर होता है। स्खलन होने का उल्लेख मैंने अपने दो-चार लेखो में किया है। यदि मेरा ब्रह्मचर्य स्खलन-रहित होता तो आज मैं जगत के सम्मुख बहुत अधिक वस्तु रख सकता। पर जिसे १५ वर्ष की उम्र से लेकर ३० वर्ष की उम्र तक, फिर चाहे अपनी स्त्री के विषय मे ही रहा हो, विषयभोग किया है, वह ब्रह्मचारी होकर वीर्य को सर्वथा रोक सके, यह लगभग अशक्य जैसा मालूम होता है। जिसकी सग्राहक शक्ति १५ वर्ष तक दिन प्रतिदिन क्षीण होती रही है, वह एकाएक इस शक्ति को प्राप्त नही कर सकता। उसका मन और शरीर दोनो निर्बल हो चुके होते हैं। अत अपने स्वय को मैं बहुत अपूर्ण ब्रह्मचारी मानता हू। पर जिस तरह जहां वृक्ष नही होता वहां एरड ही प्रधान होता है, वही मेरी स्थिति है। यह मेरी अपूर्णता ससार को मालूम है।"

रुग्णता मे जो अनुभव हुआ उसको विशेष रूप से जानने की जिज्ञासा का उत्तर उन्होने उपर्युक्त पत्र मे ही इस प्रकार दिया :

"जिस अनुभव ने मुझे बम्बई में तग किया, वह तो विचित्र और दु खदायी था। मेरे सारे स्खलन स्वप्नो में रहे, उन्होने मुझे सताया नही। उन्हें मैं भूल सका हू। पर बम्बई का अनुभव तो जाग्रत स्थिति मे था। इस इच्छा को पूरी करने की तो मूल में ही वृत्ति न थी, मूढता जरा भी न थी। शरीर पर काबू पूरा था। पर प्रयत्न होने पर भी इन्द्रिय जागृत रही, यह अनुभव नया था और शोभा न दे, ऐसा था। उसका कारण तो मैंने बताया ही है। यह कारण दूर होने पर जागृति बद हुई। अर्थात् जागत अवस्था में बन्द।"

इसके बाद पत्र मे अपनी शुद्धि और ब्रह्मचर्य की साध्यता के विषय पर एक सुन्दर प्रवचन-सा ही है।

१—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कटकने पृ० २३५

२—इसका सम्बन्ध बीमारी के समय की उस बेचैनीपूर्ण घटना से है जिसका उल्लेख पीछे पृ० ६८ पर आया है।

३—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कटकने पृ० २३६-७

"मेरी अपूर्णता होने पर भी एक वस्तु मेरे लिए सुसाध्य रही है। वह यह कि मेरेपास हजारो स्त्रियाँ सुरक्षित रही हैं। ऐसे प्रसग मेरे जीवन मे आए हैं, जब अमुक बहिनो को, उनमे विषय-वासना होने पर भी ईश्वर ने उन्हें, अथवा कहो मुझे बचाया है। यह ईश्वर की ही कृति है, ऐसा मैं शत-प्रतिशत मानता हू। इससे मुझे इस बात का जरा भी अभिमान नही। यह मेरी स्थिति मरणान्त तक कायम रहे, ऐसी ईश्वर से मेरी नित्य प्रार्थना रहती है।

"शुकदेव की स्थिति प्राप्त करने का मेरा प्रयत्न है। वह प्राप्त नही कर सका हू। वह स्थिति पैदा हो तो वीर्यवान होते हुए भी मैं नपुसक बनू और स्खलन असंभव हो।

"पर ब्रह्मचर्य के विषय मे जो विचार इधर में दर्शाये हैं, उनमें कोई न्यूनता नही, अतिशयोक्ति नही। इस आदर्श तक प्रयत्न से चाहे जो स्त्री-पुरुष पहुँच सकता है। इसका अर्थ यह नही है कि इस आदर्श को मेरे जीते जगत या हजारों मनुष्य पहुँच जायगे। इमे हजारो वर्ष लगने हो तो भले ही लगें, पर यह वस्तु सच्ची है, साध्य है, सिद्ध होनी ही चाहिए।

"मनुष्य को अभी तो बहुत मार्ग काटना है। अभी उसकी वृत्ति पशु की है। मात्र आकृति मनुष्य की है। ऐसा लगता है, जैसे हिंसा चारो ओर फैल रही है। असत्य से जगत भरा है। तो भी सत्य-अहिंसा धर्म के विषय में शका नही, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विषय में समझो।

"जो प्रयत्न करते हैं फिर भी जलते रहते हैं, वे प्रयत्न नहीं करते। जो अपने मन में विकारो का पोषण करते रहने पर भी केवल स्खलन नही होने देना चाहते, स्त्री-सग नही करना चाहते, उनके प्रति दूसरा अध्याय लागू पड़ता है। ये मिथ्याचारियो मे गिने जायगे।

"मैं अभी जो कर रहा हू, वह है विचार शुद्धि।

"आधुनिक विचार ब्रह्मचर्य को अधर्म मानता है। इससे कृत्रिम उपायो से सतति को रोक कर विषय-सेवन का धर्म-पालन करना चाहता है। इसके सम्मुख मेरी आत्मा विद्रोह करती है।

"विषयासक्ति जगत में रहेगी ही, पर जगत की प्रतिष्ठा ब्रह्मचर्य पर है और रहेगी (२१ ५-'३६)[1]।"

इन पत्रो की प्रथा ने भी काफी बवडर उत्पन्न किया। महात्मा गांधी को लिखना पडा "साबरमती-आश्रम की सदस्या प्रेमाबहन कंटक के नाम लिखी गई मेरी चिट्ठियाँ भी मेरे पतन को सिद्ध करने के काम में लाई गई हैं। प्रेमाबहन एक ग्रेजुएट महिला और योग्य कार्य-कर्त्री है। वह ब्रह्मचर्य और इसी प्रकार के दूसरे विषयो पर प्रश्न पूछा करती थी। मैं उन्हें पूरे जवाब भेजता था। उन्होंने यह सोच कर कि ये जवाब सर्व साधारण के लिए भी उपयोगी होंगे, मेरी इजाजत से उन्हें प्रकाशित कर दिया। मैं उन्हें बिल्कुल निर्दोष और पवित्र मानता हू[2]।"

(४) औपचारिक मालिश और स्नान

दक्षिण अफ्रिका मे महात्मा गांधी स्त्री-पुरुषो की प्राकृतिक चिकित्सा किया करते। सेवाग्राम आश्रम में स्त्री-पुरुष परस्पर रोगी की परिचर्या करते।

स्वय महात्मा गांधी स्त्रियो से मालिश करवाते और उनसे औपचारिक स्नान लेते। मालिश कराते समय वे प्राय नग्न होते। बहिनें भी मालिश करती। यह प्रयोग भी भारतभूमि में नया ही कहा जायगा। इस छूट की भी आलोचना हुई। एक बार महात्मा गांधी ने कहा :

"मालिश और औपचारिक स्नान—ये बातें ऐसी हैं, जिनके लिए मेरे आस-पास के व्यक्तियो में डॉक्टर सुशीला नैयर सब से अधिक योग्य हैं। उत्सुक व्यक्तियो की जानकारी के लिए यह बतला दू कि ये काम तनहाई में कभी नही किये जाते। ये काम डेढ घटे से भी अधिक देर तक होते रहते हैं, और इसके बीच मे प्राय सो जाता हू या दूसरे साथियो के साथ काम भी करता हू[3]।' मालिश और स्नान का कार्य अन्य बहिनें भी करती।

महात्मा गांधी ने अपनी इन प्रवृत्तियों को लक्ष्य कर लिखा

"मेरे इस जीवन में कोई गोपनीयता नही है। कमजोरियाँ मुझमे भी हैं जरूर। लेकिन अगर कामुकता की ओर मेरा झुकाव होता तो मुझ

१—बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कंटकने पृ० २३८-४०

२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० २६

३—वही पृ० २८

मे इतना साहस है कि मैं उसको कबूल कर लेता।"

उन्होने अपने खुले जीवन के बारे में लिखा है

"जब मेरे अन्दर अपनी पत्नी के साथ विषय-सबन्ध रखने की अरुचि काफी बढ गई, और इस सम्बन्ध से मैंने काफी परीक्षा कर ली, तभी मैंने १९०६ मे ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था। उसी दिन से मेरा खुला जीवन शुरू हो गया। सिर्फ उस अवसर को छोड कर, जिसका कि मैंने 'यगइन्डिया' और 'नवजीवन' के अपने लेखो मे उल्लेख किया है, और कभी मैं अपनी पत्नी या अन्य स्त्रियो के साथ दरवाजा बद करके सोया या रहा होऊ, ऐसा मुझे याद नही पडता। और वे रातें मेरे लिए सचमुच काली रातें थीं। लेकिन जैसा कि मैंने बार-बार कहा है, अपने बावजूद ईश्वर ने मुझे बचाया है।

"जिस दिन से मैंने ब्रह्मचर्य शुरू किया, उसी दिन से हमारी स्वतत्रता का आरभ हुआ है। मेरी पत्नी मेरे स्वामित्व के अधिकार से मुक्त हो गई, और मैं अपनी उस वासना की दासता से मुक्त हो गया, जिसकी पूर्ति उसे करनी पडती थी।

"जिस भावना मे मैं अपनी पत्नी के प्रति अनुरक्त था, उस भावना में और किसी स्त्री के प्रति मेरा आकर्षण नही रहा है। पति के रूप में उसके प्रति मै बहुत वफादार था और अपनी माता के सामने किसी अन्य स्त्री का दास न बनने की मैंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसके प्रति भी मै वैसा ही वफादार था।

"जिस तरह मेरे अन्दर ब्रह्मचर्य का उदय हुआ, उसके कारण अदम्यरूप से स्त्रियो को मै मातृभाव से देखने लगा। स्त्रियां मेरे लिए इतनी पवित्र हो गई कि मै उनके प्रति कामुकतापूर्ण प्रेम का खयाल ही नही कर सकता। इसलिए तत्काल हरेक स्त्री मेरे लिए बहन या बहन की तरह हो गयी।

"फिनिक्स में मेरे आसपास काफी स्त्रियां रहती थी। दक्षिण अफ्रिका में अंग्रेज व हिंदुस्तानी अनेक बहनो का विश्वास प्राप्त था। भारत लौटने पर यहां भी जल्दी ही मैं भारतीय स्त्रियो में हिलमिल गया। ' दक्षिण अफ्रिका की तरह यहां भी मुसलमान स्त्रियो ने मुझसे कभी परदा नही किया। आश्रम मे मैं स्त्रियो से घिरा हुआ सोता हू, क्योकि मेरे साथ वे अपने को हर तरह सुरक्षित महसूस करती हैं। मुझे यह भी याद दिला देनी चाहिए कि सेगांव-आश्रम मे कोई पेशादगी नही है।

"अगर स्त्रियो के प्रति मेरा कामुकतापूर्ण झुकाव होता तो, अपने जीवन के इस काल मे भी, मुझमें इतना साहस है कि मैंने कई पत्नियां रख ली होती।

"गुप्त या खुले स्वतत्र प्रेम में मेरा विश्वास नही है। उन्मुक्त प्रेम को मै तो कुत्तो का प्रेम समझता हू। और गुप्त प्रेम मे तो, इसके अलावा कायरता भी है[1]।"

(५) अन्तिम और सब से बडा प्रयोग

सन् १९४७ के साम्प्रदायिक दगो के समय महात्मा गान्धी नोआखाली गये। मनु बहन गान्धी श्रीरामपुर मे उनके साथ हुई। उस समय बहिन की उम्र १८-१९ वर्ष की रही।

मनु बहिन रिस्ते में महात्मा गांधी की पोती होती थी। उनकी माता का देहान्त उस समय हो गया जब वह केवल बारह साल की थी। बा ने कभी इन्हें मां की कमी महसूस न होने दी। आगाखान महल में बा की अस्वस्थता के समय मनु बहन सरकार द्वारा उनकी परिचर्या के लिए नागपुर जेल से वहां भेजी गई। तेरह महीने तक मनु बहन बा की सतत सेवा करती रही। बा का मनु बहन पर असीम स्नेह था। सन् ४४ की २२ फरवरी को बा का देहावसान हुआ। उसी रात को, बा के अग्निदाह के बाद बापू ने मनु बहन को अपने पास बुलाया और बाकी की कई चीजें उसके हाथ मे दी। उनमे बा की हाथी दांत की दो पुरानी चूडियां भी थी। उस समय बापू ने कहा " अब तुम्हारा काम यह है कि जैसे भरत ने राम के बदले राम की पादुका को गादी पर बैठाकर उनसे प्रेरणा ली थी, वैसे ही तुम भी इन चीजो से प्रेरणा लो। और बा कैसी सती थी। उसका सबूत यह है कि उनकी ये चूडियां मनो लकडियो की आग मे से भी सही सलामत निकली हैं।" बापू मनु बहन को प्यार में 'मनुडी' कहते। और इस १४-१५ साल की बच्ची की देख-भाल करते। वे बार-बार कहा करते—"मैं तो तुम्हारी मां बन चुका

१—हरिजन-सेवक, ४-११-'३९ ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० २९-३१ का सारांश

हूँ न ? वैसे बाप तो बहुतो का बन चुका, लेकिन माँ सिर्फ तुम्हारी ही बना हूँ[१] ।"

गांधीजी नोआखाली जाने को थे। उस समय मनु बहन के पिता जयसुखलाल भाई को पत्र दिया जिसमे लिखा—"इस समय मनु का स्थान मेरे पास ही हो सकता है। . ." मनु बहन ने उत्तर में लिखा "यदि मुझे किसी गांव में बैठाने का इरादा हो तो मुझे वहाँ नही आना है, परन्तु आप अपनी व्यक्तिगत सेवा करने देने की शर्त पर आने दें तो ही मेरी इच्छा वहां आने की है।" बापू ने तार द्वारा प्रस्ताव स्वीकार किया। मनु ने उत्तर में लिखा · "....एक बार..... आदि मेरी सभी सहेलिया जानेवाली थी, तब मैंने कहा था, 'बापू, अब तो मैं अकेली हो गयी।' तब आपने मुझ से कहा था, तुम और मैं अकेले ही रहेंगे। मै जीता हूँ तब तक तुम अकेली कैसे हो ?' और फिर आपने गीता के 'आपूर्यमाणम्' .श्लोक का अर्थ समझाया था। वह दिन सचमुच आ गया। मैं तो ईश्वर से प्रार्थना करती हू कि वह मुझे अन्त तक प्रामाणिकता से आपकी सेवा करने की शक्ति दे। ...सेवा करते-करते कोई छुरा भी भोंक देगा तो खुशी से वह दु ख सह लूंगी। [२] ।"

मनु बहन अपने पिता के साथ ता० १९-१२-४६ को श्रीरामपुर पहुँची। गांधीजी ने जयसुखलाल भाई से कहा "यहाँ तो करना या मरना है। इसके लिए मनु की तैयारी होगी, इसका मुझे विश्वास नही था। यहाँ इसकी परीक्षा होगी। मैंने इस हिन्दू-मुस्लिम एकता को यज्ञ कहा है। इस यज्ञ में जरा भी मैल हो तो काम नही चल सकता। इसलिए मनु के मन में जरा भी मैल होगा तो इसका बुरा हाल होगा। यह सब तुम समझ लो, जिससे अब भी वापस जाना हो तो यह तुम्हारे साथ चली जाय। बाद में बुरा हाल होने पर जाय, उसके बजाय अभी लौट जाना ज्यादा अच्छा है।"

रात में महात्माजी ने मनु बहन को अपने साथ अपनी शय्या मे सुलाया। रात को ठीक १२॥ बजे सिर पर हाथ फेर कर बापू ने मनु बहन को जगाया। बोले : "मनुडी, जागती हो क्या ? मुझे तुम्हारे साथ बाते करनी हैं। तुम अपना धर्म अच्छी तरह समझ लो। ." मनु बहन का निश्चय रहा "जहां आप वहां मैं, मेरी यह एक शर्त आपको मंजूर हो तो फिर मैं किसी भी परीक्षा का और आपकी किसी भी शर्त का स्वागत करूगी।" गांधीजी ने पत्र लिखा "चि० मनुडी, अपना वचन पालन करना। मुझ से एक भी विचार छिपाना मत। जो बात पूछूँ उसका बिलकुल सच्चा उत्तर देना। आज मैंने जो कदम उठाया, वह खूब विचारपूर्वक उठाया था। उसका तुम्हारे मन पर जो असर हुआ हो वह मुझे लिख देना। मैं तो अपने सब विचार तुम्हें बताऊँगा ही। परन्तु इतना वचन मुझे तुम्हारी ओर से चाहिये। यह हृदय मे अंकित करके रख लेना कि मैं जो कुछ कहूँगा या चाहूँगा, उसमें तुम्हारा भला ही मेरे सामने होगा[३] ।" मनु बहन ने मरते दम तक सब कष्ट सहन करने का वचन दिया। गांधीजी ने लिखा : "तुम्हारी श्रद्धा सचमुच ही यहाँ तक पहुच गई हो तो तुम सुरक्षित हो। तुम इस महायज्ञ मे पूरा भाग अदा करोगी—मूर्ख हो तो भी ..।" जब मनु बहन के पिताजी लौटने लगे तब गांधीजी ने कहा . "मेरी धारणा है कि जब तक मैं जिंदा हूं तब तक उसे जाने को नही कहूगा। यह लग आ जाय तो भले ही जा सकती है। परन्तु मेरा तो अभयदान है कि वह चाहे तो मुझे छोड सकती है, पर मैं इसे नही छोडूँगा। . .[४]" दिन में गांधी ने कहा —"अपनी मां से कुछ भी छिपाओगी तो पाप लगेगा। भले अच्छा विचार आये या बुरा, सब मुझे कह देना[५] ।"

इस तरह मनु बहन गांधीजी की सार-सम्भाल में रहने लगी। गान्धीजी मनु बहन को अपनी ही शैया पर सुलाने लगे। इस कार्य के पीछे कई भावनाएँ थी।

१—१९ वर्ष की आयु मे भी मनु बहन में कामोद्रेक नहीं, ऐसा उसका कहना था[६]। गांधीजी के मन में विचार उठा या तो 'मनुडी' अपने मन को नही जानती अथवा स्वय को धोखा दे रही है। उन्होने सोचा मां के रूप में मेरा कर्तव्य है कि मैं असली बात जानूँ।

१—बापू—मेरी माँ पृ० ३-१२

२—अकेला चलो रे पृ० ४-६

३—अकेला चलो रे पृ० ७-८

४—वही पृ० १०-११

५—वही पृ० १२

६—My days with Gandhi P 155

गांधीजी इस राय के थे कि लडकियाँ भी मन हो तो ब्रह्मचारिणी रह सकती हैं, पर मन मे विकार का पोषण करते हुए विवाह न करने के हिमायती नही थे। यदि इस बात की सच्ची जांच हो सके कि मनु की क्या स्थिति है, तो एक समस्या का हल हो सकता था[१]। महात्मा गांधी ने एक बार कहा "मैं इस समय तुम्हारी मां के रूप मे हू' मैं तुम्हारे जरिये इस बात का साक्षी बनना चाहता हू कि एक पुरुष भी मां बन कर बेटी की हर तरह की गुत्थी को सुलझा सकता है[२]।"

२—उनकी यह धारणा थी कि यदि मनु बहन का दावा सत्य नही है, तो वह मां से छिपा नही रह सकता। यदि कोई कमी होगी तो वह प्रकट होकर ही रहेगी। यदि उसमे कोई कमी नही होगी तो सत्य, साहस और बुद्धि मे उसका क्रमश विकास होता चला जायगा[३]।

३—साथ ही प्रासगिक रूप से महात्मा गांधी यह भी जानना चाहते थे कि वे पूर्ण ब्रह्मचर्य की दिशा मे कहाँ तक बढे हुए हैं[४]। इस प्रयोग के पीछे केवल निदान की दृष्टि ही नही थी, पर एक दृष्टि और भी थी। योगशास्त्र मे कहा है 'पूर्ण अहिंसक के सम्मुख वैर नही टिक सकता'। इसी तरह, महात्मा गांधी की धारणा थी कि पूर्ण ब्रह्मचारी के सम्मुख विषय-विकार दूर हो जाना चाहिए[५]।

होरेस एलेक्जेण्डर के साथ हुआ निम वार्तालाप उपर्युक्त बातो को स्पष्ट करता है।

महात्माजी से उन्होने कहा · "ब्रह्मचर्य की जांच के लिए ऐसे अन्तिम छोर के कदम की आवश्यकता नही थी। यह जाँच तो अन्य तरीके भी की जा सकती थी। सीम्योन स्टाइलिट स्तभ पर चढकर अपनी आत्म-सयम की शक्ति का प्रदर्शन किया करता था। मैंने कभी इसकी प्रशसा नही की। 'सब बातो मे नम्रता'—यह एक अच्छा सूत्र है।"

गांधीजी ने उत्तर में कहा—"यह ठीक है। सीम्योन स्टाइलिट वास्तव मे कोई अनुकरणीय आदर्श नही, क्योकि वह अहभावी और क्रोधी था। मैंने जो यह कदम उठाया है वह यह दिखाने के लिए नही कि मैं क्या कर सकता हू, वरन् यह तो पौत्री की शिक्षा की दिशा मे जरूरी कदम है। यह तो मनु ने जो मुझे विश्वास दिया है, उसकी परीक्षा है और आनुसगिक रूप में यह मेरी भी एक जांच है। यदि मेरी सच्चाई उस पर असर डाल सकी और उसमे उन खूबियो का विकास कर सकी, जिसको मैं चाहता हू तो इससे यह प्रमाणित होगा कि मेरी सत्य की खोज सफल हुई है। तब मेरी सच्चाई मुसलमान, मुस्लिम लीग के मेरे विरोधी और जिन्ना पर भी असर डाल सकेगी जो कि मेरी सत्यता पर सन्देह करते रहे, तथा उनके द्वारा अपना तथा भारतवर्ष का नुकसान करते रहे[६]।"

४—वे मनु बहन का एक आदर्श नारी के रूप मे निर्माण करना चाहते थे। जब महात्मा गांधी के सामने प्रश्न आया कि ऐसे समय मे जब कि आप ऐसे महत्त्व के काम मे लगे हुए हैं, ऐसे कार्य में ध्यान कैसे दे सकते हैं? तब उन्होने मनु बहन से कहा था "लोग इसे मोह समझते हैं। उनके अज्ञान पर मुझे हसी आती है। उनमे समझ का अभाव है। मैं तुम पर समय और शक्ति लगा रहा हू, वह सार्थक है। यदि भारत की करोडो लडकियो में से मैं एक को भी आदर्श मां बनकर, आदर्श स्त्री बना सकू, तो मैं स्त्री-जाति की अपूर्व सेवा कर सकूगा। पूर्ण ब्रह्मचारी होकर ही कोई स्त्रियो की सेवा कर सकता है[७]।"

५—मनु बहन को एक बार उन्होने कहा था "यह न समझना कि मैंने तुम्हें यहाँ केवल अपनी सेवा के लिए ही बुलाया है। मेरी सेवा तो तुम करोगी ही। परन्तु जहाँ छोटी-सी लडकी या वृद्ध स्त्री भी सुरक्षित नही, वहाँ तुम्हें १६-१७ वर्ष की जवान लडकी को, मैंने अपने पास रखा है। यदि कोई भी गुण्डा तुम्हे तग करे और तुम उसका सामना बहादुरी के साथ कर सको अथवा सामना करते-करते मर जावो तो मैं खुशी से नाचूगा। तुम्हें बुलाने मे यह भी एक प्रयोग है[८]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, pp 575-76

२—अेकला चलो रे पृ० २३

३—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, P 576

४—वही पृ० ५७६

५—वही पृ० ५७७

६—वही पृ० ५८०

७—वही पृ० ५७८

८—अेकला चलो रे पृ० ११

६—महात्मा गांधी यह भी देखना चाहते थे कि उनमें नपुंसकत्व की सिद्धि कहाँ तक है। उन्होने एक बार लिखा था—"जिसकी विषयासक्ति जलकर खाक हो गई है, उसके मन में स्त्री-पुरुष का भेद मिट जाता है और मिट जाना चाहिए। उसकी सौंदर्य की कल्पना भी दूसरा रूप ले लेती है। वह बाहर के आकार को देखता ही नही। इसलिए सुन्दर स्त्री को देखकर वह विह्वल नही बन जायेगा। उसकी जननेन्द्रिय भी दूसरा रूप ले लेगी अर्थात् वह सदा के लिए विकार-रहित बन जायगी। ऐसा पुरुष वीर्यहीन होकर नपुंसक नही बनेगा, मगर उसके वीर्य का परिवर्तन होने के कारण वह नपुंसक-सा लगेगा। सुना है कि नपुंसक का रस नही जलता। जो रस मात्र के भस्म हो जाने से ऊर्ध्वरेता हो गया है, उस का नपुंसकपना बिलकुल अलग ही किस्म का होता है। वह सबके लिए इष्ट है। ऐसा ब्रह्मचारी विरला ही देखने में आता है[1]।" महात्मा गांधी ऐसे नपुंसकत्व के कामी थे और उनमें ऐसा नपुंसकत्व है या नही, इसकी जाँच वे इस कठोर आँच में करना चाहते थे।

७—महात्मा गांधी जानना चाहते थे कि उनकी अहिंसा कही ब्रह्मचर्य की कमी के कारण तो निस्तेज नही है।

एक कांग्रेस-नेता ने बातचीत के सिलसिले में १९३८ में गांधीजी से कहा—"*यह क्या बात है कि कांग्रेस अब नैतिकता की दृष्टि से वैसी नही रही, जैसी कि वह १९२० से १९२५ तक थी? तबसे तो इसकी बहुत नैतिक अवनति हो गई है। ...क्या आप इस हालत को सुधारने के लिये कुछ नही कर सकते?*" इसका उत्तर गांधीजी ने इस प्रकार दिया :

"अहिंसा की योजना में जबर्दस्ती का कोई काम नही है। उसमें तो इसी बात पर निर्भर रहना पडता है कि लोगो की बुद्धि और हृदय तक—उसमें भी बुद्धि की अपेक्षा हृदय पर ही ज्यादा—पहुँचने की क्षमता प्राप्त की जाय।

"इसका अभिप्राय हुआ कि सत्याग्रह के सेनापति के शब्द मे ताकत होनी चाहिये—वह ताकत नही जो कि असीमित अस्त्र-शस्त्रो से प्राप्त होती है, बल्कि वह जो जीवन की शुद्धता, दृढ जागरूकता और सतत आचरण से प्राप्त होती है। यह ब्रह्मचर्य का पालन किये बगैर असम्भव है। इसका इतना सम्पूर्ण होना आवश्यक है, जितना कि मनुष्य के लिए सभव है।

"जिसे अहिंसात्मक कार्य के लिए मनुष्य-जाति के विशाल समूहो को सगठित करना है, उसे तो इन्द्रियो के पूर्ण निग्रह को प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना ही चाहिए।

"इस बात का मैंने कभी दावा नही किया कि मैं अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा ब्रह्मचारी बन गया हूँ। अब भी मै अपने विचारो पर उतना नियत्रण नही रख सकता हू जितने नियत्रण की, अपनी अहिंसा की शोधो के लिये मुझे आवश्यकता है, लेकिन अगर मेरी अहिंसा ऐसी हो जिसका दूसरो पर असर पडे और वह उनमें फैले, तो मुझे अपने विचारो पर और अधिक नियत्रण करना ही चाहिए। इस लेख के आरभिक वाक्यो मे नेतृत्व की जिस प्रत्यक्ष असफलता का उल्लेख किया गया है, उसका कारण शायद कही-न-कही किसी कमी का रह जाना ही है" (हरिजन सेवक, २३-७-'३८)[2]।

इसी तरह उन्होने फिर कहा था—"जब तक यह ब्रह्मचर्य प्राप्त नही हो जाता, मनुष्य उतनी अहिंसा तक जितनी कि उसके लिए शक्य है, पहुँच नही सकता" (हरिजन सेवक, २८-१०-'३९)[3]।

गांधीजी की यह धारणा नोआखाली के दगे के समय भी रही। उनकी ब्रह्मचर्य की साधना मे कोई कमी तो नही—यह वे जानना चाहते थे। यदि वे सच्चे ब्रह्मचारी हैं तो उसका असर वातावरण पर पडे बिना नही रह सकता—यह उनका विश्वास था।

ठक्कर बापा से उनकी जो बातचीत हुई, वह इस सम्बन्ध मे यथेष्ट प्रकाश डालती है

ठक्कर बापा ने पूछा—"यह प्रयोग यहाँ क्यो?"

गान्धीजी ने उत्तर दिया—"बापा! भूल कर रहे हो। यह प्रयोग नही है पर मेरे यज्ञ का सायुज्य अग है। प्रयोग बाद दिया जा सकता है, पर कोई अपने कर्तव्य को नही छोड सकता। अब यदि मै किसी बात को अपने यज्ञ—पवित्र कर्तव्य का अग मानता हू तो सार्वजनिक मत मेरे खिलाफ होने पर भी मै उसका त्याग नही कर सकता। मै तो आत्मशुद्धि प्राप्त करने में लगा हुआ हू। पांच महाव्रत मेरे आध्यात्मिक प्रयत्नो

१—आरोग्य की कुजी पृ० ३१-२

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० १००, १०२, १०३, १०४-५

३—ब्रह्मचर्य (दूसरा भाग) पृ० ७

के पांच आधार हैं। ब्रह्मचर्य इन्ही में से एक है। ये पांचो अविभाज्य हैं तथा परस्पर सम्बन्धित और अन्योन्याश्रित हैं। यदि उनमें से एक का भङ्ग किया जाता है तो पांचो का भङ्ग हो जाता है। ऐसा होने से यदि मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए ब्रह्मचर्य की साधना मे फिसलू तो मैं ब्रह्मचर्य को ही जोखिम मे नही डालता पर सत्य, अहिंसा और सब महाव्रतो को भी जोखिम मे डालता हू। मैं दूसरे व्रतो के सम्बन्ध मे व्यवहार और सिद्धान्त मे कोई अन्तर नही लाने देता। यदि मैं केवल ब्रह्मचर्य के विषय में ही ऐसा करूँ तो क्या इससे मैं ब्रह्मचर्य की धार को मन्द नही करूँगा? सत्य की मेरी साधना को दूषित नही करूँगा? जब से मैं नोआखाली मे आया हू, मैं अपने से यह प्रश्न पूछता रहा हू, कि वह कौन-सी बात है, जो मेरी अहिंसा को कार्यकारी होने से रोक रही है। यह मंत्र काम क्यो नही कर रहा है? कही मैंने ब्रह्मचर्य के बारे में तो गलती नही की कि जिसका यह परिणाम हो।"

बापा बोले—"आपकी अहिंसा असफल नही है। विचार करें—यदि आप यहाँ नही आते तो नोआखाली के भाग्य में क्या बदा होता? दुनिया ब्रह्मचर्य के बारे मे उस रूप मे नही सोचती, जिस रूप मे आप सोच रहे हैं।"

गान्धीजी बोले—"यदि मैं आपकी बात को मान लूँ तो उसका अर्थ यह हुआ कि दुनिया को नाराज करने के भय से मैं उस बात को छोड दूँ, जिसे मैं ठीक समझता हू। अगर मैं अपने जीवन मे इस तरह से आगे बढता तो न मालूम मैं कहाँ होता? मैं अपने को किसी गड्ढे के तले मे पाता। बापा! आप इसका कोई अनुमान नही लगा सकते, पर मैं इसका दृश्य अपने लिए आंक सकता हू। मैंने अपने वर्तमान साहस-पूर्ण कार्य को यज्ञ—तप कहा है। इसका अर्थ है—परम आत्म-शुद्धि। ऐसी आत्म-शुद्धि कैसे हो सकती है, यदि मैं अपने मन मे एक बात रक्खू और उसे खुल्लम-खुल्ला व्यवहार मे लाने की हिम्मत नही कर सकूँ? क्या उस बात के करने के लिए भी, जिसे व्यक्ति अपने हृदय से कर्तव्य समझता है, किसी की सलाह या स्वीकृति की आवश्यकता रहती है? ऐसी परिस्थिति में मित्रो के लिए दो ही मार्ग खुले हैं या तो वे मेरे उद्देश्य की पवित्रता में विश्वास रखें, फिर भले ही वे मेरे विचारो को समझने मे असमर्थ हो या उनसे असहमत हो, अथवा वे मुझसे ही हट जाय। बीच का कोई रास्ता नही। उस हालत मे जब कि मैं एक यज्ञ में उतरा हू जिसका अर्थ है सत्य का पूर्ण प्रयोग, मैं उस बात का साहस नही कर सकता कि मेरे तर्क-सिद्ध विश्वासो को काम में परिणत न करूँ। न यही उचित है कि मैं आन्तरिक विश्वासो को छिपाऊँ, या अपने तक ही रखूँ। यह तो मेरी मित्रो के प्रति अवफादारी होगी। मैं इस जांच से कैसे दूर भाग सकता हू? मैंने अपने मन को स्थिर कर लिया है। ईश्वर के एकाकी मार्ग पर, जिस पर कि मैं चल रहा हू, मुझे किसी पार्थिव साथी की आवश्यकता नही। हजारो हिन्दू-मुसलिम स्त्रियाँ मेरे पास आती हैं। वे मेरे लिए अपनी माँ, बहन और पुत्रियो की तरह हैं। यदि ऐसा अवसर आ जाय, जिससे आवश्यक हो जाय कि मैं उनके साथ अपनी शय्या का उपभोग करूँ तो मुझे जरा भी हिचकिचाहट नही होनी चाहिए? यदि मैं वैसा ब्रह्मचारी हू, जैसा कि मेरा दावा है। यदि मैं इस परीक्षा से अलग होऊँ, तो मैं अपने को डरपोक और धोखेबाज साबित करूँगा।"

बापा—"और यदि आपका कोई अनुकरण करने लगे तो?"

गांधीजी "यदि मेरे उदाहरण का कोई अधानुकरण करे अथवा उसका अनुचित फायदा उठावे, तो समाज उसे सहन नही करेगा और न उसे सहन करना ही चाहिए। पर यदि कोई सच्चा और इमानदारीपूर्ण प्रयत्न करता हो, तो समाज को उसका स्वागत करना चाहिए और यह उसकी भलाई के लिए ही होगा। जैसे ही मेरी यह खोज पूर्ण होगी, मैं खुद ही उसका परिणाम सारी दुनिया के सामने रखूँगा।"

बापा—"कम-से-कम मैं तो आपमे कोई बुरी बात होने की कल्पना नही करता। आखिर मनु तो आपकी पौत्री ही है। मैं यह स्वीकार करता हू कि आरम्भ मे मेरे मन में कुछ विचार थे। मैं नम्रता के साथ अपनी शंका को आपके सामने जोर मे रखने के लिए आया था। मैं समझ नही पाया था। आपके साथ आज जो बातचीत हुई, उसके बाद ही मैं गहराई से समझ सका हू कि आप जिस बात के करने के प्रयत्न मे हैं, उसका अर्थ क्या है?"

गांधीजी बोले "क्या इससे कोई वास्तविक अन्तर पड़ता है? कोई अन्तर नहीं पड़ता और न पड़ना चाहिए। आप मनु और अन्य बालाओ में भेद करना चाहते हैं। मेरे मन में ऐसा भेद नहीं है। मेरे लिए तो सब पुत्रियां हैं[१]।"

ठक्कर बापा के साथ महात्मा गांधी की जो बातचीत हुई, उसके बाद मनु वहां गांधीजी के पास आकर बोली। "यद्यपि आरम्भ में ठक्कर बापा को कार्य के औचित्य के बारे में शंका थी। परन्तु अपने छह दिनो के निकट सम्पर्क और निरीक्षण से उनकी शंकाएं पूर्णरूप से दूर हो गई

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp 585-87

हैं। और उनको इस बात की तसल्ली हो गई है कि आप जो कर रहे हैं, उसमें कोई बुराई या अनौचित्य नही है और न इससे सम्बन्धित व्यक्तियो में। उन्होने अपने मित्रो को भी यह बात लिखी है। उन्होने यह भी कहा है कि उनके विचारो मे परिवर्तन सब से अधिक यह देख कर हुआ है कि हम दोनो की नीद निर्दोष और गहरी होती है। तथा म एकाग्रता और अथक श्रद्धा के साथ कर्त्तव्य का पालन करती रहती हू। ऐसी हालत में यदि बापू को स्वीकार हो तो मै इस बात में कोई हानि नही देखती कि ठक्कर बापा का यह सुझाव, कि इस प्रयोग को फिलहाल स्थगित कर दिया जाय, स्वीकार कर लिया जाय।" मनु बहन ने यह भी स्पष्ट किया कि जहाँ तक विचारो का प्रश्न है, वह महात्मा गांधी के विचारो से एकमत है। और वह एक इंच भी पीछे नही हट रही है। गान्धीजी ने इस बात को स्वीकार किया।

प्रयोग को स्थगित करने का निश्चय हैमचर मे हुआ। जबतक महात्मा गांधी विहार मे रहे, तब यह प्रयोग स्थगित रहा। बाद में जब दिल्ली पहुचे, तब वह पुन चालू कर दिया गया और महात्माजी की मृत्यु तक जारी रहा[१]।

महात्मा गांधी ता० २४-२-'४७ को हैमचर पहुँचे। उनसे ठक्कर बापा की बातचीत केवल आध घटा ता० २६-२ '४७ को हुई[२]। उसी का परिणाम ऐसा निकला। मनु ने अपना निवेदन सभवत २-३-'४७ को महात्मा गांधी के सामने रखा था[३]। मई के अन्तिम सप्ताह मे गांधीजी ने पटना छोडा और दिल्ली के लिए प्रस्थान किया[४]। इस तरह लगभग तीन महीना प्रयोग स्थगित रहा।

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग को अपने जीवन का सब से बडा और अन्तिम प्रयोग कहा था[५]। उन्होने कहा "मैंने खूब विचार किया है। चाहे मुझे सारी दुनिया छोड दे पर मेरे लिए जो सत्य है, उसे मैं छोडने की हिम्मत नही कर सकता। यह एक धोखा और मोह-पाश हो सकता है। पर मुझे खुद को वह वैसा मालूम होना चाहिए। इसके पहले भी मैं खतरे मोल ले चुका हूँ। अगर यह प्रयोग खतरा ही होना है तो होकर रहे[६]।" इसके पहले उन्होने मीरा बहिन को लिखा था "सत्य का मार्ग खण्डो से छाया हुआ रहता है, जिस पर हिम्मत के साथ चलना पडता है[७]।" इसी तरह उन्होने लिखा: "तुम रास्ते में बिछे कांटे, पत्थर और खड्डो से घबडाओगे तो ब्रह्मचर्य के रास्ते पर नही चल सकते। यह सभव है कि हम ठोकर खा जाय, हमारे पैरो से खून बहने लगे, यहाँ तक कि हमारे प्राण भी चले जाय। पर हम उस से मुड नही सकते[८]।"

महात्मा गांधी ने यह प्रयोग ता० १९-१२-'४६ को आरभ किया था[९]। थोडे ही दिनो मे आस-पास कानाफूसियाँ होने लगी। बाहर से भी आपत्तियाँ आई।

महात्मा गांधी १-२-'४७ की प्रार्थना सभा में अपने प्रयोग का जिक्र करते हुए बोले: "मैं इतने सन्देह और अविश्वास के बीच मे हू कि मैं नही चाहता कि मेरे अत्यन्त निर्दोष कार्य इस तरह उलटे समझे जायें और उनका उलटा प्रचार किया जाय। मेरी पोती मेरे साथ है। वह मेरे साथ मेरे बिछौने पर सोती है।

"पैगम्बर चीर-फाड के द्वारा नपुसकत्व प्राप्त करने की निन्दा करते थे। ईश्वर की प्रार्थना के बल पर जो नपुसक होते थे, उनका वे स्वागत करते थे। मेरी भावना भी ऐसे ही नपुसकत्व की प्राप्ति की है। इस तरह एक ईश्वर-कृत नपुसक की भावना से मै कर्त्तव्य में लगा हू।

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, pp 587, 591, 598

२—अेकलो जाने रे पृ० १७०

३—वही पृ० १७८ (पहली पक्ति)

४—विहारनी कोमी आगमां पृ० ३६८

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, p 591

६—वही पृ० ५८१

७—वही

८—वही पृ० ५८४

९—My days with Gandhi p 115

यह तो मेरे यज्ञ का एक अविभाज्य अङ्ग है। मुझे सब कोई आशीर्वाद दें। मैं जानता हूं कि मेरे मित्रों में भी मेरे कार्य की आलोचना है, परन्तु अत्यन्त अभिन्न मित्रों के लिए भी कर्त्तव्य को नहीं छोडा जा सकता[1]।"

ता० २-२-४७ के प्रार्थना-प्रवचन मे उन्होंने कहा—"मैंने जानबूझ कर खानगी जीवन की बातें कही हैं, क्योंकि मैं यह कभी नहीं मानता कि मनुष्य का खानगी जीवन, उसके सार्वजनिक कार्यो पर कोई असर नहीं डालता। मैं यह नहीं मानता कि अपने जीवन मे अनैतिक रहते हुए भी मैं जनता का सच्चा सेवक रह सकूंगा। अपने खानगी चरित्र का असर सार्वजनिक कार्यों पर पडे बिना नहीं रह सकता। खानगी और सार्वजनिक जीवन मे द्वैध के कारण बहुत बुराई हुई है। मेरे जीवन मे अहिंसा की जांच का यह सर्वोपरि अवसर है। ऐसे अवसर पर मैं ईश्वर और मनुष्य के सम्मुख अपने आन्तरिक और सार्वजनिक दोनो कार्यो के योगफल के आधार पर जाँचा जाना चाहता हूं। मैंने वर्षों पूर्व कहा था कि अहिंसा का जीवन, फिर चाहे वह व्यक्ति का हो, चाहे समूह का हो, चाहे एक राष्ट्र का, आत्म-परीक्षा और आत्मशुद्धि का होता है[2]।"

ता० ३-२-'४७ के प्रवचन मे महात्माजी ने कहा "मैंने अपने खानगी जीवन के बारे मे जो बातें कही हैं, वह अन्धानुकरण के लिए नहीं है। मैंने यह दावा नहीं किया कि मुझ मे कोई असाधारण शक्ति है। मैं जो कर रहा हूं वह सबके करने योग्य है, यदि वे उन शर्तों का पालन करें जिन का मैं करता हूं। ऐसा नहीं करते हुए जो मेरे अनुकरण का बहाना करेंगे, वे पछाड खाये बिना नहीं रह सकते। मैं जो कर रहा हूं, वह अवश्य खतरे से भरा हुआ है। पर यदि शर्तों का कठोरता से के साथ पालन किया जाय तो यह खतरा नहीं रहता[3]।"

उपर्युक्त उदगारो से स्पष्ट है कि महात्मा गांधी इस प्रयोग को, अपने यज्ञ का अविभाज्य अंग मानते रहे। वे इसे इतना पवित्र मानते रहे कि उन्होंने जनता को इसकी सफलता के लिए आशीर्वाद देने को आमन्त्रित किया।

इस प्रयोग का विवरण दो पुस्तको मे प्राप्त है (१) श्री प्यारेलालजी लिखित—'महात्मा गांधी—दी लास्ट फेज' और (२) श्री निर्मल बोस लिखित—'माई डेज विथ गांधी'। महात्मा गाधी ने जिस प्रयोग की खुल्ले मे चर्चा की है, उसी प्रयोग के बारे मे उपर्युक्त दोनो विवरणो मे अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढग से और गोपनीयता के साथ चर्चा की गई है। सम्मान और नम्रता के साथ कहना होगा कि दोनो विवरण पूरे तथ्यो को उपस्थित नहीं करते और ऐतिहासिक दृष्टि से दोषपूर्ण हैं।

श्री प्यारेलालजी ने महात्मा गांधी की पौत्री श्री मनु तक परिमित रख कर ही इस प्रयोग की चर्चा की है। श्री बोस के अनुसार यह प्रयोग अन्य बहनो को साथ लेकर भी किया गया था और प्रथम बार ही नहीं था[4]। और उनके अनुसार महात्मा गाँधी ने ऐसा स्वीकार भी किया था[5]। महात्मा गांधी का यह प्रयोग सीमित था या व्यापक, इसका स्वय उनकी लेखनी से कोई विवरण न मिलने पर भी यह तो निश्चत ही है कि इस प्रयोग को वे ऐसा समझते थे कि जिसमे पौत्री मनु और अन्य बहन का अन्तर नहीं किया जा सकता[6]। ऐसी परिस्थिति में इस प्रयोग को व्यापक प्रयोग समझ कर ही उसकी चर्चा की जाती तो सत्य के प्रति न्याय होता।

१—अमिशापाडा का प्रार्थना-प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p 155, Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol 1, p 580

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, p 581

३—दशघरिया का प्रवचन। देखिए—My days with Gandhi p 155, Mahatma Gandhi—The Last Phase Vol I, p 581

४—My days with Gandhi pp 134, 154, 174, 178

५—वही पृ० १३४, १७८

६—(क) वही पृ० १७७

The distinction between Manu and others is meaningless for our discussion That she is my grand-daughter may exempt me from criticism But I do not want that advantage.

(ख) देखिए पृ० ८३

जहाँ तक पता चला, इस विषय में पहली आपत्ति नोआखाली में गांधीजी के टाइपिस्ट श्री परशुराम की तरफ से आई। उन्होने तीन बार महात्मा गांधी से वातचीत की और चौथी बार में फुलस्केप साइज के १० पेज जितने लम्बे पत्र में अपनी भावना महात्मा गांधी के सामने रखी[१]। श्री प्यारेलालजी इन सब की नोंध तक नही लेते। श्री वोस ने भी न वातचीत का सार दिया है और न उस पत्र की वातो का उल्लेख किया है। एक वातचीत में श्री परशुराम के विचार किस रूप में फूट पडे, इसका वर्णन उन्होने इस प्रकार दिया है : "गांधीजी की दृष्टि चाहे जो भी हो, पर एक साधारण मनुष्य की तरह मुझे कहना चाहिए कि गांधीजी को ऐसा मौका नही देना चाहिए कि जिस से उनके प्रति कोई गलत धारणा वन पाय। यदि गांधीजी के व्यक्तिगत आचरण पर आक्षेप आते हैं, तो जिस उद्देश्य के लिए वे खडे हुए हैं, वह क्षतिग्रस्त होता है। यह एक ऐसी बात है जो मुझसे सहन नही होती। जब मैं स्कूल में था तब मै अपने साथियो के साथ इसी बात पर मुक्कामुक्की करने लगा था कि उन्होने महात्मा गांधी के आचरण के प्रति दोषारोपण किया था। और भी अधिक, क्या उन्होने अपने सेवाग्राम के साथियो से यह प्रतिज्ञा नही की थी कि वे स्त्रियो को अपने संसर्ग से दूर रखेंगे[२] ?"

महात्मा गांधी ने अपनी स्थिति को परिष्कृत करते हुए कहा "यह सत्य है कि मैं स्त्री कार्यकर्त्रियो को अपनी शय्या का व्यवहार करने देता हूँ। समय-समय पर यह आध्यात्मिक प्रयोग किया गया है। मुझ मे विकार नही, ऐसी मेरी धारणा है। फिर भी यह असभव नही कि कुछ लवलेश बच गया हो और इससे उस लडकी के लिए सकट उपस्थित हो सकता है जो प्रयोग में शरीक हो। मैंने यह पूछा है कि कही बिना इच्छा भी, मै उनके मन में थोडा भी विकार उत्पन्न करने का निमित्त तो नही हुआ ? मेरे सुप्रसिद्ध साथी नरहरि (परीख) और किशोर लाल (मशरूवाला) ने इस प्रयोग पर आपत्ति उठाई थी और उनकी एक शिकायत यह थी कि मुझ जैसे उत्तरदायित्ववाले नेता का उदाहरण दूसरो पर क्या असर डालेगा[३] ?"

इस वार्तालाप से पता चलता है कि यह प्रयोग पहले भी हुआ और वह अन्य स्त्रियो के साथ रहा।

श्री परशुराम ने जो सुझाव रखे वे महात्मा गांधी को स्वीकार नही हुए अत साथ छोड कर चले गये। यह ता० २ जनवरी १९४७ की घटना है।

इसके बाद अपने एक मित्र को महात्मा गांधी ने पत्र लिखा जिसमे श्री परशुराम के चले जाने का मुख्य कारण बताया गया था, उनका गांधीजी के सिद्धान्तो में विश्वास न होना और मनु का उनके साथ एक शय्या पर सोना। इस पर टिप्पणी करते हुए श्री वोस लिखते हैं कि गांधीजी का ऐसा लिखना परशुराम के प्रति अन्याय था। उनका कहना है—गांधीजी के सिद्धान्तो मे परशुराम की पूर्ण श्रद्धा थी। श्री परशुराम की मुख्य शंका मनु बहन के साथ के प्रयोग को लेकर नही थी, बल्कि अन्य स्त्री-पुरुषो की स्थिति के विषय को लेकर थी। उनके यह समझ में नही आ रहा था कि साधारण स्तर पर रहे हुए स्त्री-पुरुषो का स्पर्श किस तरह एक आध्यात्मिक आवश्यकता हो सकती है[४]।

श्री वोस के विवरण से पता चलता है कि इस बार भी श्री मशरूवाला और श्री नरहरि परीख आपत्ति करनेवालो में थे। जनवरी '४७ के अन्तिम सप्ताह में उनका आपत्तिकारक पत्र पहुचा[५]। श्री मशरूवाला के पत्र का उत्तर महात्मा गांधी ने तार से दिया, जिस मे लिखा गया था कि वे ता० १-२-'४७ के सार्वजनिक वक्तव्य को देखें। पत्र दिया जा रहा है[६]। इसके बाद किशोरलाल मशरूवाला और नरहरि परीख का तार आया, जिसमें उन्होने ता० १-२-'४७ के पत्र की पहुच देते हुए लिखा था कि वे हरिजन पत्रो के कार्यभार से मुक्त हो रहे हैं। पत्र देखें[७]। फरवरी के अन्तिम सप्ताह में भी मशरूवाला का पत्र था। श्री वोस के अनुसार उस पत्र का सार यह था कि स्त्रियो के साथ के व्यवहार

१—My days with Gandhi pp 127, 131, 134

२—वही पृ० १३३-३४

३—वही पृ० १३४

४—My days with Gandhi p 137 Only, his point of view was the point of view of the common man, he did not realise how contact with men and women on a common level might be a spiritual need for Gandhiji

५—वही पृ० १५४

६—वही पृ० १५५

७—वही पृ० १५८

मे गांधीजी मोहभाव से गस्त थे[१] ।

इनके प्रश्न थे· (१) बीमारी के कारण परिचर्या की आवश्यकता न होते हुए भी अथवा परवशता के अन्य अवसरो को छोडकर भी क्या कोई बिना जरूरत, नग्न अवस्था में मनुष्य अथवा स्त्री के सामने आ सकता है, जब कि वह ऐसे समाज का व्यक्ति नही जिस में नग्नता एक पथा हो ? (२) जिनमें पति-पत्नी का सम्बन्ध न हो अथवा जो मुक्त रूप मे ऐसा व्यवहार न रखते हो, ऐसे स्त्री-पुरुष क्या एक शय्या का साथ उपयोग कर सकते हैं[२] ?

श्री प्यारेलालजी इस सारे पत्र-व्यवहार का जिक्र नही करते और न विरोध मे आए हुए पत्रो का सार ही देते हैं। हरिजन पत्र के सम्पादन कार्य से दो साथियो के हटने का वे उल्लेख करते हैं, पर वे साथी कौन थे, इस बात से भी वे पाठको को अन्धेरे मे रखते हैं।

श्री प्यारेलालजी इस बात का उल्लेख अवश्य करते हैं कि महात्मा गांधी ने इस विषय मे अनेक पत्र लिखे और राय जाननी चाही पर नाम उन्ही के प्रकाशित किए हैं, जिन्हे कोई आपत्ति न थी अथवा जिनको बाद में कोई आपत्ति नही रही। जिनकी अन्त तक आपत्ति रही उनके नामो को तो उन्होने सर्वत्र ही बाद दिया है।

फरवरी के अन्तिम सप्ताह मे जब श्री किशोरलाल मशरूवाला का एक पत्र आया, तब गांधीजी ने श्री बोस को अपने पास बुलाया और उनमे तथा उनके निकट के साथियो मे किस तरह मतभेद हो गया है, यह बतलाया। गांधीजी ने साथियो द्वारा उठाई गई आपत्तियो के विषय में श्री बोस के विचार जानने चाहे। मनु बहन ने श्री मशरूवाला का पत्र अनुवाद कर बताया और फिर प्रयोग का पूरा विवरण बताया[३]। श्री बोस को जो जानकारी हुई, उसके अनुसार महात्मा गांधी अपनी शय्या पर बहिनो को सुलाते। ओढने का कपडा एक ही होता। और फिर गाधीजी इस बात को जानना चाहते कि उनमे या उनके साथी में क्या अल्प-मात्र भी विकार उत्पन्न हुआ[४] ?

इस तरह अपनी परीक्षा के लिए स्त्रियो का सहारा लेना श्री बोस को नागवार मालूम दिया। उनके मत से गांधीजी जो कईयो द्वारा, निजी सम्पत्ति माने जाने लगे थे, उसका कारण यही था। उनकी दृष्टि से कईयो का व्यवहार स्वस्थ मानसिक सम्बन्ध का परिचय नही देता था। इस प्रयोग का मूल्य खुद गांधीजी के जीवन मे कितना ही क्यो न हो, उसका असर उन दूसरो के व्यक्तित्व के लिए घातक था, जो कि नैतिक स्तर मे उतने हस्तिवाले नही थे और जिनके लिए इस प्रयोग मे शरीक होना कोई आध्यात्मिक आवश्यकता नही थी। मनु की बात दूसरी थी जो रिश्ते मे पोती थी[५]।

कई आलोचको ने कहा—"हम यह मानने के लिए तैयार हैं कि आप इस साधना से आध्यात्मिक प्रगति कर सकते हैं, पर यह तो सम्मुख पक्ष के बलिदान पर होगा, जिसमे आप की तरह का सयम नही है।"

महात्मा गांधी ने कहा—"नही ऐसा नही हो सकता। यह तो परस्पर टकरानेवाली बात है। दूसरे के नुकसान पर अपनी आध्यात्मिक उन्नति नही हो सकती। साथ ही उचित खतरा उठाना ही होगा, अन्यथा मनुष्य-जाति प्रगति नही कर सकती।" उन्होने एक दृष्टान्त दिया—"जब एक कुम्हार मिट्टी का बर्तन बनाने लगता है, तब वह यह नही जानता कि मिट्टी में देने पर उनमें तेरे पड जायगी अथवा अच्छी तरह पक कर बाहर निकलेंगे। यह अनिवार्य है कि उनमें से कई टूट जाय, किन्ही में तेरें चत उठें और थोडे ही पक कर सख्त हो, अच्छे बर्तन के रूप में बाहर आय। मै तो एक कुम्हार की तरह हू। मै आशा और श्रद्धापूर्वक कार्य करता हू। अमुक बर्तन टूटेगा या उसमें दरार होगी—यह एक कुदरत और भाग्य की ही बात होगी। कुम्हार को चिन्ता नही करनी चाहिए। अगर कुम्हार ने इतनी चौकसी ले ली हो कि मिट्टी अच्छी किस्म की है और उसमे मिलावट या कूडा-ककट नही है और उसे ठीक आकार दिया गया है, तो उसके बाद की उसे चिन्ता करने की आवश्यकता नही। मैने जानबूझ कर अपने जीवन में कोई गलत कार्य नही किया है। यदि कभी अनजाने मे कोई मुझसे गलत

१—My days with Gandhi p 160 The main charge seemed to have been that Gandhiji was obviously suffering from a sense of self-delusion in regard to his relation with the opposite sex

२—वही पृ० १८६

३—वही पृ० १५६-६०

४—वही पृ० १७४

५—वही पृ० १७४-५

कार्य हो गया हो तो मैंने तुरन्त उसे जनता के सामने स्वीकार किया और पता चलते ही उसका उचित प्रायश्चित किया। इसी तरह इस बात में भी किसी भी समय मुझे मिट्टी में अगर कोई अशुद्धि या मिलावट दिखाई देगी अथवा मुझमें मालूम देगी तो मुझे उसका त्याग करने में एक क्षण भी नही लगेगा और सारी दुनिया के सामने अपनी अयोग्यता स्वीकार कर लूगा[१]।"

श्री बोस के अनुसार स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी भी विरोधी मत रखते थे। श्री प्यारेलालजी यह तो लिखते हैं कि महात्मा गांधी बिहार में आये तब दो मित्रो ने उनसे लगातार पाँच दिन तक[२] बातचीत की। पर ये दोनो, स्वामी आनन्द और श्री केदारनाथजी थे, इसको गोपनीय रखते हैं। महात्मा गांधी और इनमे जो वार्तालाप हुआ, उसका सार इस प्रकार है :

प्रश्न—"इस नये प्रयोग को आरम्भ करते समय आपने अपने साथियो से क्यो नहीं कहा और उन्हे अपने साथ क्यो नही रखा ? यह गुप्ताचरण क्यो ?"

गान्धीजी "इस बात को गुप्त रखने का इरादा नही था। सारी बात स्पष्ट थी। जैसी यह बात है उसमे मित्रो की पूर्व सलाह की तो कोई बात ही नही थी, पूर्व स्वीकृति अनावश्यक थी। फिर भी आरभ में ही इस बात के अच्छी तरह प्रचार के लिए मुझे जोर देना चाहिए था। अगर मैंने ऐसा किया होता तो आज जो सकट और हलचल है, वह बहुत कुछ बचाई जा सकती। ऐसा न करना एक बडी त्रुटि हुई। जब ठक्कर बापा मेरे पास आये तब मैं सोच रहा था कि इसका समुचित प्रायश्चित क्या है। बाद की बात तो आप जानते ही हैं।"

प्रश्न "यदि आप नैतिक सस्कारो की नीव को, जिस पर कि समाज टिका हुआ है और जो कि एक लम्बे और कष्टपूर्ण अनुशासन से निर्मित है, ढीला करेंगे तो उससे जो अपूर्तिकर क्षति होगी, वह स्पष्ट है। गढे हुए सस्कारो का इस तरह भग करने से ऐसा कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं दिखाई देता, जो उसके औचित्य को सिद्ध करे। आपका बचाव क्या है ? हम आपको नीचा दिखाने के लिए नही आये हैं और न आप पर विजय पाने के लिए ही आये हैं। हम तो केवल समझना चाहते हैं।"

गान्धीजी "यदि कोई कट्टर सस्कारो के बाहर जाने को तैयार न हो तो कोई नैतिक उन्नति या सुधार की सभावना नही। सामाजिक रूढियो के सिकजो मे अपने को जकड कर हम लोगो ने खोया ही है। ब्रह्मचर्य से सम्बन्धित नौ बाडो की जो रूढिगत कल्पना है, वह मेरे विचारो से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नही किया। मेरे मत से इन बाडो की आड में रहकर सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रयत्न भी सभव नही। मैं बीस वर्ष तक दक्षिण अफ्रिका मे पश्चिमी लोगो के साथ गहरे सम्पर्क मे रह चुका हू। हवलॉग इलिस और बर्ट्रण्ड रसल जैसे ख्यातनामा लेखको की कृतियो को और उनके सिद्धान्तो को मैंने जाना है। वे सभी प्रसिद्ध विचारक खरे और अनुभवी हैं। अपने विचारो के कारण और उन्हें प्रकाशित करने के कारण उन्हें कष्ट उठाने पडे हैं। विवाह और प्रचलित नैतिक आचार-विधि की सम्पूर्ण आवश्यकता को न मानते हुए भी (यहाँ मेरा उनसे मतभेद ही है) वे ऐसी सस्था और रीति-रिवाजो के बिना ही स्वतत्ररूप से जीवन मे पवित्रता लाना सम्भव है और उसे लाना आवश्यक है, ऐसा मानते हैं। पश्चिम मे ऐसे स्त्री-पुरुषो के सम्पर्क मे आया हू जो कि पवित्र जीवन बिताते रहे हैं, हालांकि वे प्रचलित प्रथाओ और सामाजिक विश्वासो को वे नही मानते और न उनका पालन करते हैं। मेरी खोज कुछ-कुछ उसी दिशा में है। यदि आप, जहाँ आवश्यक हो पुरानी बात को दूर कर सुधार करने की आवश्यकता और इच्छा रखते हो और वर्तमान युग के साथ मेल खाते हुए आध्यात्म और नैतिकता के आधार पर एक नई पद्धति का निर्माण करना चाहते हो, तो उस हालत मे दूसरो की इजाजत लेने अथवा उन्हें समझाने का प्रश्न ही नही उठता। एक सुधारक उस समय तक नहीं ठहर सकता, जब तक कि सब में परिवर्तन हो जाय। पहले सुधारक को ही करनी होगी और सारे ससार के विरोध के सन्मुख अकेले चलने का साहस करना होगा। मैं अपने अनुभव, अध्ययन और सूत्र के प्रकाश मे ब्रह्मचर्य की उस वर्तमान परिभाषा की जांच करना चाहता हू और उसे विस्तृत तथा सशोधित करना चाहता हू। अत जब भी अवसर आता है तब मैं उससे बच कर नही निकलता और न उससे दूर ही भागता हू। इसके विपरीत मैं अपना यह कर्तव्य—धर्म मानता हू कि मैं उसका सामना करूँ। और इसका पता लगाऊँ कि वह कहाँ लेजाकर छोडता है। और मैं कहाँ पर खडा हू। स्त्री के स्पर्श से बचना और भयवश उससे दूर भाग जाना मेरी दृष्टि मे सच्चे ब्रह्मचर्य की कामना करनेवाले के लिए अशोभनीय है। मैंने काम

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase pp 583-84

२—श्री बोस और मनु बहन के अनुसार यह बात दो ही दिन हुई। पांच दिन सभवत भूल से लिखा गया है। वे दोनो ता० १४-३-४७ को बिहार आये। ता० १५ और १६ को बातचीत हुई। —देखिए My days with Gandhi पृ० १७३, बिहारनी कोमी आगमां पृ० ४८, ५०, ६१, ६५

वासना की तृप्ति के लिए स्त्रियो से सम्पर्क साधने की कभी चेष्टा नही की। मैं इस बात का दावा नही करता कि मैं अपने मे से काम-विकार को सम्पूर्णत दूर कर सका हू, पर मेरा यह दावा है कि मैं इसे काबू में रख सकता हूँ।"

प्रश्न "हम लोगो की यह जानकारी नही है कि आपने जनता के सामने अपने इन विचारो को रखा है। इसके विपरीत आपने जनता के सामने ऐसे ही विचार रखे हैं, जिनके साथ हम लोग परिचित हैं। आपके प्रयतो के साथ उन विचारो को ही समझा है। आपका क्या खुलासा है?"

गान्धीजी "आज भी मैं, जहां तक सर्वसाधारण का सवाल है, उन्ही विचारो को उनके सामने रखता हूँ, जिनको आप मेरे पुराने विचार कहते हैं। साथ ही जैसा कि मैंने कहा है, मैं आधुनिक विचारो से बहुत गहराई तक प्रभावित हू। हम लोगो मे तांत्रिक विचार-धारा भी है, जिसने कि न्यायाधीश, सर जोन उड्रफ जैसे पश्चिमी विद्वानो को भी प्रभावित किया है। मैंने यरवदा जेल मे उनकी कृतियो का अध्ययन किया। आप इङ्गित सस्कारो मे पले-पुसे हैं। मेरी परिभाषा के अनुसार आप ब्रह्मचारी नही माने जा सकते। आप जब-कभी बीमार पड जाते हैं। सब तरह की शारीरिक व्याधियो मे ग्रसित हैं। मै यह दावा करता हू कि सच्चे ब्रह्मचर्य का प्रतिनिधित्व मैं आपसे अच्छा करता हू। आप सत्य, अहिंसा, अचौर्य के भङ्ग को इतनी गम्भीर दृष्टि से नही देखते। पर ब्रह्मचर्य का—स्त्री और पुरुष के बीच के सम्बन्ध का— काल्पनिक भङ्ग भी आप को पूर्णत विचलित कर देता है। ब्रह्मचर्य की इस कल्पना को मै सकुचित, प्रतिगामी और रूढिग्रस्त मानता हू। मेरे लिए सत्य, अहिंसा और ब्रह्मचर्य के आदर्श समान महत्व रखते हैं। और सबके सब हमारी ओर से समान प्रयत्न की अपेक्षा रखते हैं। उनमे से किसी का भी भङ्ग मेरे लिए समान चिन्ता का विषय होता है। म यह मानता हू कि मेरा आचरण ब्रह्मचर्य के सच्चे आदर्श से दूर नही गया है। इसके विपरीत उस ब्रह्मचर्य का, जो क्या करना और क्या नही करना, यहीं तक सीमित रहता है, असर समाज पर बुरा ही पडता है। उसने आदर्श को नीचे गिरा दिया है। और उसके सच्चे तत्त्व को छीन लिया है। यह मैं अपना उच्चतम कर्तव्य समझता हू कि मै इन नियमो और बन्धनो को समुचित स्थान मे रखूँ और ब्रह्मचर्य के आदर्श को उन बेडियो से मुक्त कर दूँ, जिनसे कि वह जकड लिया गया है।"

प्रश्न "यदि आपके विचार और आचार आत्म-सयम के पालन मे इतने आगे बढ गये हैं तो इनका आपके चारो ओर के वातावरण पर लाभकारी असर क्यो नही दिखाई देता? हम आपके चारो ओर इतनी अशान्ति और दु ख को क्यो पाते हैं? आपके साथी विकारो से मुक्त क्यो नही होते?'

गान्धीजी—"मै अपने साथियो के गुण और कमियो को अच्छी तरह जानता हू। आप उनके दूसरे पक्ष को नही जानते। ऊपराऊपरी निरीक्षण के आधार पर तुरन्त किसी निर्णय पर पहुच जाना सत्य-शोधक के लिए अशोभनीय है। आप लोग सोचते हैं, वैसा मै खो नही गया हू। मै तो आपसे इतना ही कह सकता हू कि आप लोग मुझ मे विश्वास रखें। मै आपके कहने पर उस बात को नही छोड सकता, जो मेरे लिए गहरे विश्वास का विषय है। मुझे खेद है, मै असहाय हू।"

प्रश्न "हम नही कह सकते कि आपने हमे समझा दिया। हम सतुष्ट नही हैं। हम लोग इस बात को यही नही छोड सकते। हम लोग आपके साथ निरन्तर प्रयास करते रहेंगे। यदि आप बनी हुई मर्यादा के खिलाफ फिर जाने को प्रेरित हो तो अपने दु खित मित्रो का भी खयाल करे।"

गान्धीजी—"मैं जानता हू। पर मै क्या कर सकता हूँ, जब कि मै कर्तव्य-भावना से प्रेरित हू। मैं ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर सकता हू, जब कि मै स्थापित नियमो के विरुद्ध जाना अपना स्पष्ट कर्तव्य समझूँ। ऐसी परिस्थितियो मे मै अपने को किसी भी वायदे के द्वारा बधन मे डालना नही चाहता।"

इस वार्तालाप के बाद ता० १६-३-'४७ की डायरी मे महात्मा गाधी ने लिखा

"ब्रह्मचर्य की मेरी परिभाषा के अनुसार आज के इनके ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विचार दूषित अथवा अधूरे लगे। उनमे मेरे मार्ग के अनुसार सुधार की अति आवश्यकता है। मैंने विकार पोसने के लिए कभी भी जानबूझ कर स्त्री-सग का सेवन नही किया। एक अपवाद बतलाया है। अपने आचार से मैं आगे बढा हू और अभी अधिक की आशा करता हू[१] ।"

१—बिहारनी कोमी आगमां पृ० ६१

इसके बाद भी पत्र-व्यवहार चलता ही रहा। अन्त मे महात्माजी के सामने यह सुझाव आया कि चूकि दोनो ही पक्ष एक दूसरे को नही समझा सके हैं, अत स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध और स्त्री-पुरुष-व्यवहार के सम्बन्ध में वर्तमान स्थितियो के अनुकूल मर्यादा स्थिर करने का प्रश्न कितने ही व्यक्तियो पर छोडा जाय।

१—गान्धीजी का मत रहा—प्रस्तावक पुराने परम्परा के नियमो से दूर जाना नही चाहते और मैं सत्य की अनन्त खोज मे उन शर्तों से बद्ध नही हो सकता, जो उस खोज मे बाधक हो। उन्होने लिखा—आप ही की स्वीकृति के अनुसार नया विधान आप पर लागू नही होगा। जहां तक मेरा सवाल है, वहां तक मैं अपनी ही मर्यादाओ से बंधा रहूगा। इस तरह दोनो जहां हैं, वही रहेंगे। ऐसी परिस्थिति में कोई लाभ नही कि हम लोग भूसी मे से धान निकालने के काम में लोगो को लगावें।

उपर्युक्त वार्तालाप के दो दिन बाद (ता० १८-३-'४७ को) महात्मा गांधी ने श्रीमती अमृतकौर को जो पत्र लिखा, वह इस प्रकार है

"तुम्हे मेरे इस वक्तव्य को मजूर करने मे कोई कठिनाई नही होगी कि हम लोगो मे से ब्रह्मचर्य की पूरी कीमत और उसका अर्थ कोई नही जानता और हम मूर्खों में, मैं ही कम मूर्ख हू और अधिक मे अधिक अनुभवी।··· मैंने हजारो स्त्रियो का स्पर्श किया है, परन्तु मेरे स्पर्श का अर्थ कभी भी विकार-भाव नही रहा। मेरा स्पर्श दोनो के हित के लिए रहा। जिनका अनुभव इससे भिन्न हो, वे मेरे विरुद्ध अपने सबूत पेश करें। ···ब्रह्मचर्य का मेरा अर्थ यह है—वह ब्रह्मचारी है जिसके मन में कभी भी विकार नही होता। और जो ईश्वर के प्रति अपनी निरन्तर मौजूदगी के द्वारा ऐसा सयमी हो गया है कि वह नग्न स्त्रियो के साथ नग्नरूप में सो सकता है, चाहे वह कितनी भी सुन्दर क्यो न हो और ऐसा करने पर भी जिसमे किसी तरह की विषय-भावना की जागृति नही होती। ऐसा व्यक्ति कभी झूठ नही बोलेगा। दुनिया में किसी भी स्त्री व पुरुष के प्रति किसी तरह की क्षति नही करेगा व क्रोध और द्वेष से मुक्त होगा और भगवद्गीता की परिभाषा के अनुसार स्थितप्रज्ञ होगा। ऐसा पुरुष पूर्ण ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी का शाब्दिक अर्थ है—वह व्यक्ति जो कि ईश्वर की ओर क्रमश हमेशा बढता जाता है और जिसका प्रत्येक कार्य इसी ध्येय से किया जाता है और किसी अभिप्राय से नही [१]।"

प्रयोग स्थगित करने के पहले और बाद मे महात्मा गांधी की जो भावना रही, वह उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है। प्रयोग स्थगित किया गया, उसका कारण ठक्कर बापा के अनुरोध की रक्षा और लोगो को इस प्रयोग के मर्म को समझने के लिए कुछ अवकाश देना मात्र था [२]। इस प्रयोग के विषय मे निम्न बातें चिन्तनीय हैं

महात्मा गांधी ने इस प्रयोग पर विचार जानने के लिए अनेक मित्र और साथियो से पत्र-व्यवहार किया। उपर्युक्त दोनो पुस्तको से जो पत्र सामने आते हैं, उनमें प्रयोग के साथ उनकी पौत्री मनु बहन का ही नामोल्लेख है [३]। सार्वजनिक भाषण में भी उन्होनें मनु बहिन का ही उल्लेख किया [४]। जिन्होनें इस प्रयोग में कोई दोष नही देखा, उनके विचार भी प्राय इसी बात पर आधारित थे अथवा महात्मा गांधी के प्रति अत्यन्त श्रद्धा पर अवलम्बित थे। इसके दो नमूनें नीचे दिये जाते हैं

(१) श्री अब्दुल गफ्फारखां ने एक बार कहा "उनमे तो साधारण सन्तुलन भी नही। वे यह क्यो नही देखते हैं कि मनु तो आपके लिए एक ६ महीने की बच्ची के तुल्य है।···· 'मनु आपके साथ एक ही बिछौने पर सोती है, इसमें मैं जरा भी दोष नही देखता। मैं समझ नही पाता कि एक विचारशील व्यक्ति ऐसी साधारण बात भी क्यों नही समझ सकता [५]।"

१—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 591

२—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 587 The concession was only to feelings and sentiments of those who could not understand his stand and might need time for new ideas to sink into their minds

३—My days with Gandhi p 136 (Letter to a friend name not mentioned), वही पृ० १५५ (श्री सतीश चन्द्र मुकर्जी के नाम पत्र), Mahatma Gandhi—The Last Phase p 581 (श्री आचार्य कृपलानी के नाम पत्र) , वही पृ० ५८० (हारेस एलेक्जेण्डर के नाम पत्र)।

४—My days with Gandhi p 154, Mahatma Gandhi—The Last Phase p 580

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 592

इसमे प्रयोग पर सार्वभौम दृष्टि से विचार नही है।

(२) आचार्य कृपलानी ने महात्मा गांधी के ता० २४-२-४७ के पत्र[1] का उत्तर देते हुए ता० १-३-४७ के पत्र मे उनके प्रति अत्यन्त श्रद्धा व्यक्त करते हुए लिखा

"ऐसे प्रश्न मेरे बूते के बाहर हैं। दूसरो का न्याय करने बैठूं—खास कर उनका जो नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से मुझसे अनेक कोस दूरी पर हैं—उसके पहले अपने को नैतिक दृष्टि से सीधा रखने के लिए मुझे बहुत कुछ करना है। मैं तो इतना ही कह सकता हू कि मुझे आपमें पूर्ण विश्वास है। कोई भी पापी मनुष्य आपकी तरह कार्य नही कर सकता। अगर कोई सन्देह होता भी तो मैं अपनी आँखो और कानो का ही अविश्वास करता। क्योकि मैं मानता हूं कि मेरी इन्द्रियां मुझे अधिक धोखा दे सकती हैं, बनिस्वत आप, अत मैं तो निश्चित हू। कभी मैं सोचा करता हू आप कही मनुष्यो का प्रयोग साध्य के रूप मे न कर, साधन के रूप में तो नही कर रहे हैं। पर मैं यह विचार कर धैर्य ग्रहण कर लेता हू कि आप अवश्य ही ऐसा ऊहापोह रखते होगे। यदि आप स्वय अपने विषय मे निश्चित हैं, तो दूसरो को इससे हानि नही हो सकेगी। मुझे आश्चर्य हुआ कही आप गीता के लोक-सगह का भग तो नही कर रहे हैं। परन्तु इस प्रयोग में यह विचार भी आप की दृष्टि से ओझल नही होगा। मैं जानता हू स्त्रियो के प्रति आपकी जो भावना है, वही सही है। क्योकि आप उनमें से हैं, जो स्त्री को साध्य मानते हैं केवल साधन नही। आपने कभी स्त्री-जाति से अनुचित लाभ नही उठाया[2]।"

यह उत्तर श्रद्धा भावना से प्रेरित है और प्रकारान्तर से उसमे आपत्तियां दिखा ही दी गयी हैं।

२—महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में इस प्रयोग के पीछे जो दृष्टियां बतलायी हैं, वे ऐसी नही जो सहज हृदयगम हो सकें। मनु बहिन के मन की स्थिति के परीक्षण के लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नही थी। मनु बहिन जैसी सच्ची, निश्छल स्त्री अपने पितामह को अपने मनोभाव बिना प्रयोग के ही सही-सही कह देगी, ऐसा महात्मा गांधी को विश्वास होना चाहिए था। जो बात, बातचीत से जानी जा सकती थी, उसके लिए ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नही थी। सम्पर्क मे आनेवाली बहिनो के मनोभावो को जानने के लिए ऐसे प्रयोग की सार्वभौम प्रयोजनीयता सिद्ध नही होती, फिर भले ही ऐसा प्रयोग कोई ब्रह्मचारी ही करे।

३—योगसूत्र मे यह अवश्य कहा है कि—"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग"—अहिंसक के सान्निध्य में वैर नही टिकता, पर यहां सान्निध्य का अर्थ खूब सन्निकटता नही है। दूर या समीप, अहिंसक का ऐसा प्रभाव पडता है। ब्रह्मचारी के समीप भी विकार शान्ति को प्राप्त होते हैं, यह सत्य है, पर इसके लिए क्या एक शय्या के सान्निध्य की आवश्यकता होगी? पतजलि का सूत्र ऐसी बात नही कहता।

४—यह पौत्री मनु के शिक्षण की दिशा में जरूरी कदम किस दृष्टि से था, यह भी स्पष्ट नही है। ब्रह्मचर्य के क्षेत्र मे किसी भी बहिन के शिक्षण के साथ इस प्रयोग का सीधा सम्बन्ध कैसे बैठता है, यह समझ में नही आता। नोआखाली जैसे भयकर क्षेत्र मे अपनी पौत्री के साथ स्थित हो, वहां की जनता में अदम्य साहस लाने और परिस्थिति का निर्भयता के साथ-साथ मुकाबिला करने का अनुपम आदर्श जरूर रखा गया था, पर बहिनो के सह शय्या-शयन के साथ उसका सम्बन्ध नही बैठता।

५—नपुसकत्व-प्राप्ति की साधना के लिए भी ऐसे प्रयोग की आवश्यकता नही। बिना ऐसे प्रयोग के नपुसकत्व सिद्ध हुआ है, ऐसा इतिहास बतलाता है। कोई स्वय ब्रह्मचर्य मे कहां तक बढा हुआ है, इस बात को जानने के लिए ऐसा प्रयोग उन्ही आपत्तियो को सामने लाता है, जो आचार्य कृपलानी द्वारा प्रस्तुत हुई थी।

६—मनु बहिन का एक आदर्श नारी के रूप मे निर्माण करने की भावना के साथ भी सह-शय्या के प्रयोग का सीधा सम्बन्ध नही बैठाया जा सकता। इस प्रयोग के न करने से वह कैसे रुकता, यह बुद्धिगम्य नही होता।

७—सह-शय्या-शयन नोआखाली यज्ञ का सायुज्य अङ्ग कैसे था, इस पर महात्मा गांधी का कथन स्पष्ट नही है।

१—इस पत्र में बात इस रूप में रखी हुई है—Manu Gandhi my grand-daughter, as we consider blood-relation, shares the bed with me, strictly as my very blood ....as part of what might be called my last yajna

२—Mahatma Gandhi The Last Phase pp 582-3

८—महात्मा गांधी को मानव-मात्र का प्रतीक मानें और मनु बहिन को बहिन-मात्र का, तो इस प्रयोग का सार यह हो सकता है कि सब मनुष्य स्त्री-मात्र को अपनी पौत्रियाँ समझें और स्त्रियाँ पुरुष-मात्र को अपना पितामह। यह प्रयोग ऐसे पदार्थ-बोध के लिए हो तो भी उचित नही कहा जा सकता। क्योकि ऐसा आदर्श महापुरुष हमेशा देते आए हैं, पर ऐसा करने के लिए उन्हें कभी ऐसा प्रयोग करना पडा हो, ऐसा इतिहास नही बताता।

२२-बाड़ें और महात्मा गांधी

ऊपर महात्मा गांधी के प्रयोगो का जो उल्लेख आया है, उससे स्पष्ट है कि महात्मा गांधी ने प्रथम तीन बाडो की अवगणना की है। निर्विकार ससर्ग, स्पर्श, एक शय्या-शयन और एकान्त मे अकेली स्त्री को धर्मोपदेश—यह उनके जीवन मे चलते रहे। महात्मा गांधी शील की नव बाडो के सम्बन्ध में अपना स्वय का चिन्तन रखते थे। वे इस विषय में सापेक्ष दृष्टि से चलते रहे। नीचे काल क्रम मे उनके विचारो को दिया जा रहा है

१—एक भाई ने पूछा—"मेरी दशा दयनीय है, दफ्तर मे, रास्ते में, रात मे, पढते समय, काम करते हुए और ईश्वर का नाम लेते समय भी वही विचार मन मे आते रहते हैं। विचारो को किस तरह काबू मे रखू? स्त्री-मात्र के प्रति मातृ-भाव कैसे पैदा हो?" महात्मा गांधी ने जवाब दिया—"यह स्थिति हृदय-द्रावक है। यह स्थिति बहुतो की होती है। पर जब तक मन उन विचारो से लडता रहे, तब तक डरने का कोई कारण नही। आँखें दोष करती हो तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। कान दोष करें तो उनमें रूई भर लेनी चाहिए। आँखो को सदा नीची रख कर चलने की रीति अच्छी है। इससे उन्हें और कुछ देखने का अवकाश ही नहीं रहता। जहां गन्दी बातें होती हो, या गन्दे गीत गाये जा रहे हो, वहां से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए। जीभ पर पूरा काबू हासिल करना चाहिए। पर विषय-वासना को जीतने का रामबाण उपाय तो रामनाम या ऐसा ही कोई मत्र है[1]।" (२५-४-'२४)

२—ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नही है कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी बहन का भी, स्पर्श न करू। ब्रह्मचारी होने का यह अर्थ है कि जैसे कागज को छूने से मेरे मन में कोई विकार उत्पन्न नही होता, वैसे ही स्त्री का स्पर्श करने से भी नही होना चाहिए। मेरी बहन बीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण मुझे उसकी सेवा करने से हिचकना पडे तो वह ब्रह्मचर्य कोडी काम का नही। मुर्दे को छूकर हम जिस अविकार दशा का अनुभव कर सकते हैं, उसी अविकार दशा का अनुभव जब किसी परम सुन्दरी युवती को छूकर भी कर सकें, तभी हम सच्चे ब्रह्मचारी हैं[2]। (२६-२-'२५)

३—विवाहित जीवन मे ब्रह्मचर्य-पालन के उपाय बताते हुए महात्मा गांधी ने लिखा है

(१) विवाहित पुरुष को अपनी स्त्री के साथ एकान्त मे मिलना-जुलना बन्द करना होगा। थोडा विचार करने से हर आदमी देख सकता है कि सभोग के सिवा और किसी बात के लिए अपनी स्त्री से एकान्त मे मिलने की जरूरत नही होती।

(२) रात मे पति-पत्नी को अलग-अलग कमरो में सोना चाहिए।

(३) दिन में दोनों को अच्छे कामो और अच्छे विचारो मे सदा लगे रहना चाहिए।

(४) जिनसे अपने सद्विचार को उत्तेजना मिले, ऐसी पुस्तकें पढें। ऐसे स्त्री-पुरुष के चरित्रों का मनन करें। और विषय-भोग मे दु ख ही दु ख है, इसे सदा स्मरण रखें[3]।

जो भगवान को पाने के लिए ब्रह्मचर्य-व्रत लेगा, उसे जीवन की लगाम ढीली कर देने से मिलनेवाले सुखो का मोह छोडना ही होगा। और इस व्रत के कडे बन्धनो में ही सुख मानना होगा। वह दुनिया मे रहे भले ही, पर उसका होकर नही रहेगा। उसका भोजन, उसका काम-धन्धा, उसके काम करने का समय, उसके मनबहलाव के साधन, उसका साहित्य, जीवन के प्रति उसकी दृष्टि, सभी साधारण जन-समुदाय से भिन्न होंगे[4]। (५-९-'२६)

१—अनीति की राह पर पृ० ५६, ६०

२—वही पृ० ६४-६५

३—वही पृ० ९८-९९

४—वही पृ० १०६

४—आज मेरे ५६ साल पूरे हो चुके हैं, फिर भी उसकी कठिनता का अनुभव तो होता ही है। यह असि-धारा व्रत है—इस बात को दिन-दिन अधिकाधिक समझ रहा हू। निरन्तर जागत रहने की आवश्यकता देख रहा हूं।

ब्रह्मचर्य का पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय—'जीभ' को वश में करना ही होगा। ...हमारी खुराक थोडी, सादी और बिना मिर्च मसाले की होनी चाहिए। ब्रह्मचर्य का आहार वनपक्व फल है। दुग्धाहार से यह कष्ट-साध्य हो जाता है।

बाह्य उपचारो मे जैसे आहार के प्रकार और परिमाण की मर्यादा आवश्यक है, वैसे ही उपवास को भी समझना चाहिए। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि उन पर चारो ओर से, ऊपर और नीचे से, दशो दिशाओ से घेरा डाला जाय, तभी काबू मे रहती हैं। आहार के बिना वे काम नही कर सकती। उपवास से इन्द्रियो को काबू मे लाने मे मदद मिलती है। उपवास का सच्चा उपयोग वही है, जहाँ मन भी देह-दमन मे साथ देता है। मन मे विषय-भोग के प्रति विरक्ति हो जानी चाहिए। विषय-वासना की जडें तो मन मे ही होती हैं। उपवास के बिना विषयासक्ति का जड मूल से जाना सभव नही। अत उपवास ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग है।

सयमी और स्वच्छद, त्यागी और भोगी के जीवन मे भेद होना ही चाहिए। दोनो का भेद स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। आँख का उपयोग दोनो करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है। भोगी नाटक सिनेमा मे लीन रहता है। कान से दोनो काम लेते हैं। पर एक भगवद् भजन सुनता है, दूसरे को विलासी गाने सुनने मे आनन्द आता है। जागरण दोनो करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्था में हृदय-मन्दिर में विराजनेवाले राम को भजता है, दूसरे को नाच-रग की धुन में सोने का खयाल ही नही रहता। खाते दोनो हैं। पर एक शरीररूपी तीर्थ क्षेत्र की रक्षार्थ देह को भोजनरूपी भाडा देता है, दूसरा जबान के मजे की खातिर देह में बहुत सी चीजो को ठूसकर उसे दुर्गंधमय बना देता है। यो दोनो के आचार-विचार में भेद रहा ही करता है और यह अतर दिन-दिन बढता जाता है, घटता नही।

ब्रह्मचर्य के मानी है, मन-वचन-काय से सम्पूर्ण इन्द्रियो का सयम। इस सयम के लिए ऊपर बताये हुए त्यागो की आवश्यकता है, यह मुझे आज भी दिखाई दे रहा है।

प्रयत्नशील ब्रह्मचारी तो अपनी कमियो को हर वक्त देखता रहेगा। अपने मन के कोने मे छिपे हुए विकारो को पहचान लेगा और उन्हें निकाल बाहर करने की कोशिश सदा करता रहेगा।

जब तक विचारो पर यह काबू न मिल जाय कि अपनी इच्छा के बिना एक भी विचार मन में न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नही। उन्हें वश में करने का मानी है, मन को वश में करना।

जो लोग ईश्वर साक्षात्कार के उद्देश्य से, जिस ब्रह्मचर्य की व्याख्या मैंने ऊपर की है, वैसे ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होंगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नही।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्तते[1] ॥

अत रामनाम और रामकृपा, यही आत्मार्थी का अन्तिम साधन है, इस सत्य का साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तान आने पर किया। आत्म-कथा ख० ३ अ० ८

५—विषय-मात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। निस्सदेह, जो अन्य इन्द्रियो को जहा-तहा भटकने देकर एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है, वह निष्फल प्रयत्न करता है। कान से विकारी बातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारो को उभारनेवाली चीज को छूना और फिर भी जननेंद्रिय को रोकने का इरादा रखना तो आग मे हाथ डालकर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है। इसलिए जननेंद्रिय को रोकने का निश्चय करनेवाले के लिए इंद्रिय-मात्र का, उनके विकारो से रोकने का निश्चय होना ही चाहिए[2]। (५ ८-३०)

६—कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि अपनी या परायी स्त्री के लिए विकारवश होने से, उन्हे विकारी बनकर छूने में, ब्रह्मचर्य का भग नहीं

१—निराहार रहनेवाले के विषय तो निवृत्त हो जाते है, पर रस बना रहता है। ईश्वर के दर्शन से वह भी चला जाता है। गीता २ ५९

२—ब्रह्मचर्य (पहला भाग) पृ० ७

होता। यह भयकर भूल है। इसमे स्थूल ब्रह्मचर्य का सीधा भग है। इस तरह रमनेवाले स्त्री-पुरुष अपने को और दुनिया को धोखा देते हैं। ..ऐसे लोगो की अन्तिम क्रिया बाकी रहती है, तो उसका श्रेय उन्हें नही, हालात को है। वे पहले ही मौके पर फिसलनेवाले हैं[1]। (१९-९-'३२)

७—ब्रह्मचर्य के पालन के लिए सिर्फ इतना ही काफी नही है कि ब्रह्मचारी स्त्री या पुरुष को दुरी नजर मे न देखें। लेकिन वह मन से भी विषयो का चिन्तन या भोग न करे।

अपनी पत्नी या दूसरी स्त्री हो, अपना पति हो या दूसरा पुरुष हो किसी के भी विकारमय स्पर्श, या वैसी बातचीत या फिर कोई वैसी ही चेष्टा से भी स्थूल ब्रह्मचर्य टूटता है। यह विकारमय चेष्टा यदि पुरुष-पुरुष के बीच ही हो या स्त्री-स्त्री के बीच ही हो या दोनो की किसी चीज के लिए हो, तो भी स्थूल ब्रह्मचर्य का भग होता है[2]।

८—स्त्री-सग न करने मे जो ब्रह्मचर्य का आदि और अन्त मानते हैं, वे ब्रह्मचारी नही हैं। दूसरे सब भोग भोगते हुए जो पुरुष स्त्री-सग से दूर रहने की इच्छा रखता होगा, या ऐसी कोई स्त्री पुरुष-सग से दूर रहना चाहती होगी, उसकी कोशिश बेकार है। कूएँ में जानबूझ कर उतर कर पानी से अछूता रहने के प्रयत्न जैसा ही यह प्रयत्न है। जो स्त्री-पुरुष सग के त्याग को आसान बनाना चाहते हैं, उन्हें उसे उत्तेजना देनेवाली सभी जरूरी चीजे छोडनी चाहिए। उन्हें जीभ के स्वाद छोडने चाहियें, शृगार-रस छोडना चाहिए। और विलास मात्र छोडना चाहिए। मुझे जरा भी शक नही कि ऐसे लोगो के लिए ब्रह्मचर्य आसान है[3]। (१९-९-'३२)

९—गीता के दूसरे अध्याय में कहा है कि "निराहारी के विषय तबतक भले ही दब गये, जब तक निराहार जारी रहे। मगर उसका रस नही मिटता। वह तो तभी मिटेगा जब पर के यानी सत्य के यानी ब्रह्म के दर्शन हो जायेंगे।" ...इस श्लोक में पूर्ण सत्य कह दिया है। उपवास से लगाकर जितने सयमो की कल्पना की जा सकती है, वे सब ईश्वर की कृपा के बिना बेकार हैं। ब्रह्म का दर्शन यानी ब्रह्म हृदय में निवास करता है, ऐसा अनुभव ज्ञान। यह न हो तब तक रस नही मिटता। इसके आते ही रस मात्र सूख जाते हैं। यह ज्ञान लगातार अभ्यास से ही होता है। . सत्य के दर्शन के अन्त में परमानन्द है[4]। (१९-९-'३२)

१०— . .उपवास करके उलटे सिर लटक कर, हाथ सुखाकर, पैर सुखाकर किसी भी तरह विषयो को निवृत्ति करनी ही है[5]। (२५-९-'३२)

११—शुद्ध प्रेम में शरीर-स्पर्श करने की आवश्यकता नही होती। किन्तु उसका अर्थ यह तो नहीं है कि स्पर्श मात्र अपवित्र होता है। मेरा मेरी माँ पर शुद्ध प्रेम था। जब उसके पांव दर्द करते, तब मैं उन्हें दबाता था। उसमे कोई अपवित्रता नही थी। विकारी स्पर्श दूषित है। अत में ऐसा कहूगा कि शरीर-स्पर्श के बिना शुद्ध प्रेम अशक्य है, ऐसा कहनेवाले ने शुद्ध प्रेम समझा ही नही[6]। (२९-५-'३७)

१२— ' मेरा ब्रह्मचर्य पुस्तकीय नही है। मैंने तो अपने तथा उन लोगो के लिए जो मेरे कहने पर इस प्रयोग में शामिल हुए हैं, अपने ही नियम बनाए हैं। और अगर मैंने इसके लिए निर्दिष्ट निषेधो का अनुसरण नही किया है, तो स्त्रियो को धार्मिक साहित्य मे जो सारी बुराई और प्रलोभन का द्वार बताया गया है, उसे मैं इतना भी नही मानता। पुरुष ही प्रलोभन देनेवाला और आक्रमण करनेवाला है। स्त्री के स्पर्श से वह अपवित्र नही होता, बल्कि वह खुद ही उसका स्पर्श करने लायक पवित्र नही होता। लेकिन हाल में मेरे मन मे सदेह जरूर उठा है कि स्त्री या पुरुष के सपर्क मे आने के लिए ब्रह्मचारी या ब्रह्मचारिणी को किस तरह की मर्यादाओ का पालन करना चाहिए। मैंने जो मर्यादायें रखी हैं, वे मुझे पर्याप्त नही मालूम पडती, लेकिन वे क्या होनी चाहिएँ, यह मैं नहीं जानता[7]। हरिजन सेवक, (२३ ७-'३८)

१—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४२

२—वही पृ० ६१

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४८-५१

४—वही पृ० ४२-४४

५—वही पृ० ४५

६—अमृतवाणी पृ० १५५

७—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२, १०३-४

१३—ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक मानी जानेवाली बाड को मैंने हमेशा के लिए आवश्यक नही माना है। जिसे किसी बाह्य रक्षा की जरूरत है, वह पूर्ण ब्रह्मचारी नही। इसके विपरीत, जो बाड को तोडने के ढोग से प्रलोभनो की खोज में रहता है, वह ब्रह्मचारी नही, किन्तु मिथ्याचारी है।

ऐसे निर्भय ब्रह्मचर्य का पालन कैसे हो? मेरे पास इसका कोई अचूक उपाय नही, क्योंकि मैं पूर्ण दशा को नही पहुचा हू। पर मैंने अपने लिए जिस वस्तु को आवश्यक माना है, वह यह है

विचारो को खाली न रहने देने की खातिर निरतर उन्हें शुभ चिन्तन में लगाये रहना चाहिए।

रामनाम का इकतारा तो चौबीसो घटे, सोते हुए भी, श्वास की तरह स्वाभाविक रीति से, चलता रहना चाहिए।

वाचन हो तो शुभ, और विचार किया जाय, तो अपने पारमार्थिक कार्य का।

विवाहितो को एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नही करना चाहिए।

एक कोठरी मे एक चारपाई पर नही सोना चाहिए।

यदि एक दूसरे को देखने से विकार पैदा होता हो तो, अलग-अलग रहना चाहिए।

यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा होता हो, तो बातें नही करनी चाहिए।

जो मनुष्य कान से बीभत्स या अश्लील बातें सुनने मे रस लेते हैं, आंख से स्त्री की तरफ देखने मे रस लेते हैं, वे ब्रह्मचर्य का भग करते हैं।

अनेक ब्रह्मचर्य-पालन मे हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन, वाचन, भाषण आदि की मर्यादा नही जानते। जो पुरुष स्त्री के चाहे जिस अङ्ग का सविकार स्पर्श करता है, उसने ब्रह्मचर्य का भङ्ग किया है, यह समझना चाहिए।

जो ऊपरी मर्यादा का ठीक-ठीक पालन करता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य सुलभ हो जाता है।

आलसी मनुष्य कभी ब्रह्मचर्य का पालन नही कर सकता। वीर्य-सग्रह करनेवाले मे एक अमोघ-शक्ति पैदा होती है। उसे अपने शरीर और मन को निरतर कार्यरत रखना ही चाहिए।

हर एक साधक को ऐसा सेवा-कार्य खोज लेना चाहिए कि जिससे उसे विषय-सेवन करने के लिए रचमात्र भी समय न मिले।

साधक को अपने आहार पर पूरा काबू रखना चाहिए। वह जो कुछ खाये, वह केवल औषधिरूप मे शरीर-रक्षा के लिए, स्वाद के लिए कदापि नही। इसलिए मादक पदार्थ, मसाले वगैरह उसे खाना ही नही चाहिए। ब्रह्मचारी मिताहारी नही, किन्तु अल्पाहारी होना चाहिए।

सब अपनी मर्यादा को बांध लें।

उपवासादि के लिए ब्रह्मचर्य-पालन में अवश्य स्थान है।

'क्षणिक रस के लिए मैं क्यों तेजहीन होऊँ? जिस वीर्य में प्रजोत्पत्ति की शक्ति भरी हुई है, उसका पतन क्यों होने दूँ?' इस विचार का मनन यदि साधक नित्य करे, और रोज ईश्वर-कृपा की याचना करे, तो सभवत वह इस जन्म में ही वीर्य पर काबू प्राप्त कर ब्रह्मचारी बन सकता है[1]। (२८-१०-'३६)

१४—पर मेरा ब्रह्मचर्य उसका पालन करने के लिए बने हुए कट्टर नियमो के बारे में कुछ नही जानता। मैंने तो जब जैसी जरूरत देखी, उसके अनुसार नियम बना लिये। लेकिन मेरा यह विश्वास कभी नही रहा कि ब्रह्मचर्य का उपर्युक्त रूप मे पालन करने के लिए स्त्रियो से किसी भी तरह के ससर्ग से बिलकुल बचना चाहिए। जो सयम अपने विपरीत वर्ग के सब ससर्गो से, फिर वह कितना ही निर्दोष क्यो न हो, बचने के लिए कहे, वह बलात् सयम है, जिसका कोई महत्त्व नही। इसलिए सेवा या काम-काज के लिए स्वाभाविक ससर्गो पर कभी कोई प्रतिबन्ध नही रहा[2]। (४-११-'३६)

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ७-१०

२—वही पृ० २६-३१

१५—एक भाई ने गांधीजी से प्रश्न किया "मैं जानना चाहता हूं कि क्या आप पुरुष और स्त्री सत्याग्रहियों का स्वच्छन्दतापूर्वक मिलना-जुलना और उनका एक साथ काम करना पसन्द करेंगे अथवा अलग इकाइयों के रूप में उनका संगठन करना ।"

गांधीजी ने उत्तर दिया "मैं तो अलग इकाइयाँ रखना ही पसन्द करूँगा। औरत के पास औरतों के बीच करने के लिए काफी से ज्यादा काम है। सिद्धान्त की दृष्टि से भी मैं स्त्री-पुरुष दोनों के अलग-अलग अपना काम करने में विश्वास रखता हूं। लेकिन इसके लिए कोई कठोर नियम नहीं बना सकता। दोनों के बीच के सम्बन्ध पर विवेक का नियंत्रण होना चाहिए। दोनों के बीच कोई अंतराय न होना चाहिए। उनका परस्पर का व्यवहार प्राकृतिक और स्वेच्छापूर्ण होना चाहिए[1] ।" (१-६-'४०)

१६— जो ब्रह्मचर्य-पालन के सामान्य नियमों की अवगणना करके वीर्य-संग्रह की आशा रखते हैं, उन्हें निराश होना पड़ता है, और कुछ तो दीवाने-जैसे बन जाते हैं। दूसरे निस्तेज देखने में आते हैं। वे वीर्य-संग्रह नहीं कर सकते, और केवल स्त्री-संग न करने में सफल हो जाने पर अपने आपको कृतार्थ समझते हैं[2] । (११-१०-'४२)

१७—ब्रह्मचर्य स्त्रियों के साथ पवित्र सम्बन्ध रखने से, या उनके आवश्यक स्पर्श से अशुद्ध नहीं हो जायगा। ब्रह्मचारी के लिए स्त्री और पुरुष का भेद नहीं-सा हो जाता है। इस वाक्य का कोई अनर्थ न करे। इसका उपयोग स्वेच्छाचार का पोषण करने के लिए कभी नहीं होना चाहिये[3] । (१०-११-'४२)

१८—अगर मन कमजोर है तो बाहर की सब सहायता बेकार है, और मन पवित्र है, तो सब अनावश्यक है। इसका यह मतलब कदापि नहीं समझना चाहिए कि एक पवित्र मनवाला आदमी सब तरह की छूट लेते हुए भी बेदाग बचा रह सकता है। ऐसा आदमी खुद ही अपने साथ कोई छूट न लेगा। उसका सारा जीवन उसकी अंदरूनी पवित्रता का सच्चा सबूत होगा[4] । (२-५-'४६)

१९—"मैं पुरानी धारणा से जैसा कि हम उसे जानते हैं, आगे जाता हूं। मेरी परिभाषा ढिलाई को स्थान नहीं देती। मैं उसे ब्रह्मचर्य नहीं कहता—जिसका अर्थ है स्त्री का स्पर्श न करना। मैं जो आज करता हूं वह मेरे लिए नया नहीं है। जहां तक मैं अपने को जानता हूं, मैं आज वही विचार रखता हूं जो कि मैं ४५ वर्ष पूर्व, जब कि मैंने व्रत ग्रहण किया था, रखता था। व्रत लेने के पहले जब मैं इंग्लैण्ड में विद्यार्थी था, तब भी मैं स्वतंत्रता पूर्वक स्त्रियों से मिलता जुलता था, और फिर भी वहां रहते समय मैं अपने को ब्रह्मचारी कहता था। मेरे लिए, ब्रह्मचर्य वह विचार और चर्या है, जो कि ब्रह्म के साथ सम्पर्क कराता है और उस तक ले जाता है। दयानन्द इस अर्थ में ब्रह्मचारी नहीं थे। निश्चय ही मैं भी नहीं हूं, परन्तु मैं उस दशा को पहुँचने की चेष्टा कर रहा हूं और मेरे विचार से मैंने काफी प्रगति की है।

मैं उस अर्थ में आधुनिक नहीं हूं जिस अर्थ में आप समझते हैं। मैं उतना ही पुराना हूं, जितनी कल्पना की जा सकती है। और अपने जीवन के अन्त तक वैसा ही रहने की आशा करता हूं[5] । (१७-३-'४७)

२०—जिस ब्रह्मचर्य की चर्चा की है, उसके लिए कैसी रक्षा होनी चाहिए? जवाब तो सीधा है। जिसे रक्षा की जरूरत हो, वह ब्रह्मचर्य ही नहीं। मगर यह कहना आसान है। उसे समझना और उस पर अमल करना बहुत मुश्किल है। यह बात पूर्ण ब्रह्मचारी के लिए ही सच्ची है। जो ब्रह्मचारी बनने की कोशिश कर रहा है, उसके लिए तो अनेक बंधनों की जरूरत है। आम के छोटे पेड़ को सुरक्षित रखने के लिए उसके चारों तरफ बाड़ लगानी पड़ती है। छोटा बच्चा पहले मां की गोद में सोता है, फिर पालने में और फिर चालन-गाड़ी लेकर चलाता है। जब बड़ा होकर खुद चलने-फिरने लगता है, तब सहारा छोड़ देता है। न छोड़े तो उसे नुकसान होता है। ब्रह्मचर्य पर भी यही चीज लागू होती है।

ब्रह्मचर्य की मर्यादा या बाड़ एकादश व्रतों का पालन है। मगर एकादश व्रतों को कोई बाड़ न माने। बाड़ तो किसी खास हालत

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ ४०

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३०

३—वही पृ० ३६-३७

४—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ४५-४६

५—My days with Gandhi pp 176-77

के लिए ही होती है। हालत बदली और बाड भी गई। मगर एकादश व्रत[1] का पालन तो ब्रह्मचर्य का जरूरी हिस्सा है। उसके बिना ब्रह्मचर्य-पालन नही हो सकता।

आखिर मे ब्रह्मचर्य मन की स्थिति है। बाहरी आचार या व्यवहार उसकी पहचान, उसकी निशानी है। जिस पुरुष के मन मे जरा भी विषय-वासना नही रही, वह कभी विकार के वश नही होगा। वह किसी औरत को चाहे जिस हालत मे देखे, चाहे जिस रूप-रग मे देखे, तो भी उसके मन मे विकार पैदा नही होगा। यही स्त्री के बारे मे भी समझना चाहिए। मगर जिसके मन में विकार उठा ही करते हैं, उसे तो सगी बहन या बेटी को भी नही देखना चाहिए। मैंने अपने कुछ मित्रो को यह नियम पालन करने की सलाह दी थी। • •••इसका पालन किया, उन्हे फायदा हुआ है। अपने बारे मे मेरा तजरुबा है कि जिन चीजो को देखकर दक्षिणी अफ्रीका में मेरे मन में कभी विकार पैदा नही हुआ था, उन्ही से दक्षिणी अफ्रीका से वापस आने पर मेरे मन में विकार पैदा हुआ। और, उसे शांत करने में मुझे काफी मेहनत करनी पडी।

ब्रह्मचर्य की जो मर्यादा हम लोगो मे मानी जाती है, उसके मुताबिक ब्रह्मचारी को स्त्रियो, पशुओ और नपुसको के बीच नही रहना चाहिए। ब्रह्मचारी अकेली स्त्री या स्त्रियो की टोली को उपदेश न करे। स्त्रियो के साथ, एक आसन पर न बैठे। स्त्रियो के शरीर का कोई हिस्सा न देखे। दूध, दही, घी वगैरह चिकनी चीजें न खाये। स्नान-लेपन न करे। यह सब मैंने दक्षिणी अफ्रीका मे पढा था। वहाँ जननेन्द्रिय का सयम करनेवाले पश्चिम के स्त्री-पुरुषो के बीच में मैं रहता था। मैं उन्हें इन सब मर्यादाओ को तोडते देखता था। खुद भी उनका पालन नही करता था। यहाँ आकर भी न कर सका।

मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर बताई हुई मर्यादाओ की जरूरत नही है। ब्रह्मचर्य जबरदस्ती से यानी मन से विरुद्ध जा कर पालने की चीज नही। वह जबरदस्ती से नही पाला जा सकता। यहाँ तो मन को वश में करने की बात है। जो जरूरत पडने पर भी स्त्री को छूने से भागता है, वह ब्रह्मचारी बनने की कोशिश नही करता।

इस लेख का मतलब यह नही कि लोग मनमानी करें। इसमें तो सच्चा सयम पालने की बात बताई गई है। दभ या ढोग के लिए यहाँ कोई जगह हो ही नही सकती।

जो छुपे तौर से विषय-सेवन के लिए इस लेख का इस्तेमाल करेगा, वह दभी और पापी गिना जायगा।

ब्रह्मचारी को नकली बाडो से भागना चाहिए। उसे अपने लिए मर्यादा बना लेनी चाहिए। जब उसकी जरूरत न रहे, तब तो उसे तोडना चाहिए[2]। (८-६-'४७)

२१—ब्रह्मचर्य क्या है, यह बताते हुए मैंने लिखा था कि ब्रह्म यानी ईश्वर तक पहुँचने का जो आचार होना चाहिए, वह ब्रह्मचर्य है। • ईश्वर मनुष्य नही है। इसलिए वह किसी मनुष्य मे उतरता है या अवतार लेता है, ऐसा कहें तो यह निरा सत्य नही है।' सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्त्व है, शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है। मगर हैरानी की बात यह है कि ऐसा होते हुए भी सब को उसका सहारा या फायदा नही मिलता, या यो कहें कि सब उसका सहारा पा नही सकते।

बिजली एक बडी शक्ति है। मगर सब उससे फायदा नही उठा सकते। उसे पैदा करने का अटल कानून है। उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है। बिजली जड है, बेजान चीज है, उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है। जिस चेतनामय बडी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही। ' उस नियम का नाम है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य को पालने का सीधा रास्ता रामनाम है। यह मैं अपने अनुभव से कह सकता हू।

इस तरह विचार करते हुए मैं कह सकता हू कि ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम ही है[3]। (१४-६-'४७)

२२—विलायत मे अच्छी तरह शिक्षाप्राप्त एक हिन्दुस्तानी भाई ने अपनी एक उलझन गांधीजी के सामने इस प्रकार रखी "एक तरफ से लगता है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को ज्यादा कुदरती बनाने से बुराई और पापाचार कम होगा। दूसरी तरफ से लगता है कि

१—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असग्रह, शरीरश्रम, अस्वाद, सर्वत्र भयवर्जन।
सर्वधर्मी, समानत्व, स्वदेशी, स्पर्शभावना, हीं एकादश सेवावीं नम्रत्व व्रतनिश्चये॥

२—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५४-५६

३—वही पृ० ५७-५८

एक-दूसरे को छूने से बुराई पैदा हुए विना रह नही सकती।... मुझे लगता है कि स्पर्श-सुख की वजह से आदमी, वदमाश हो तो, एक महीने या एक हफ्ते में और भला हो तो, धीरे-धीरे १० वरस में भी पाप की तरफ झुके विना नही रह सकता। यह भी खयाल आता है कि स्पर्श-मात्र-छोड देने से क्या काम चल सकेगा ? "

महात्मा गांधी ने उत्तर दिया "वहुतेरे नौजवान लडके-लडकियो की यही हालत होती है। उनके लिए सीघा रास्ता यही है उन्हें स्पर्शमात्र का त्याग करना ही चाहिए। कितावो में लिखी हुई मर्यादाएँ उस समय में होनेवाले अनुभव से वनाई गई हैं। लेखको के लिए वे जरूरी भी थी। साधक को अपने लिए उनमें से कुछ मर्यादाएँ या दूसरी कुछ नई मर्यादाएँ वना लेनी होंगी। अन्तिम मंजिल को वीच में रखकर उसके आसपास एक दायरा खीचें तो मजिल तक पहुचने के कई रास्ते दिखाई देगे। उनमें से जिसे जो आसान हो, उसपर चले और मजिल पर पहुँचे। जिस साधक को अपने-आप पर भरोसा नही, वह अगर दूसरो की नकल करने लगे तो जरूर ठोकर खायगा। . .

"जिसका राम दिल में वसता है, ऐसे साधक के लिए सारी स्त्रियां वहन या मां हैं। उसे कभी यह खयाल भी नहीं आता कि स्पर्श-मात्र बुरा है। उसमें से दोष पैदा होने का डर नही रहता। वह सारी स्त्रियो में उसी भगवान को देखता है, जिसे व अपने में पाता है।

"ऐसे लोग हमने नही देखें, इसलिए यह मानना कि वे हों ही नही सकते, घमड की निशानी है। इसमे ब्रह्मचर्य की महिमा घटती है। . [1]" (२९-६-'४७)

२३— सवको अपनी कमजोरी पहचाननी चाहिए। जान-वूझकर उसे जो छिपाता है और वलवान की नकल करने जाता है, वह ठोकर खायेगा ही। इसलिए मैंने तो कहा है कि हरेक को अपनी मर्यादा खुद वाघनी चाहिए।

मुझे नही लगता कि किशोरलाल भाई जिस चटाई पर स्त्री वैठी हो, उस पर वैठने से इनकार करेंगे। ऐसा हो तो मुझे ताज्जुव होगा। मैं तो ऐसी मर्यादा को समझ नही सकता। मैंने उनके मुँह से ऐसा कभी नही सुना। स्त्री की निर्दोप सगति की तुलना सांप के विल मे करना मैं तो अज्ञान ही मानता हूँ। इसमें स्त्री-जाति का और पुरुष का अपमान है। क्या जवान लडका अपनी मां के पास नही वैठेगा ? वहन के पास नही वैठेगा ? रेल में उसके साथ एक पटरी पर नही वैठेगा। ऐसे सग से भी जिनका मन चचल होता हो, उसकी हालत कितनी दयाजनक मानी जायगी ?

यह मैं मानता हूँ कि लोक-सग्रह के लिए वहुत कुछ छोडना चाहिए। मगर इसमें भी समझ से काम लेना होगा। यूरोप मे नगो का एक सघ है। उन्होने मुझे इसमें खीचने की कोशिश की। मैंने साफ इन्कार कर दिया।

नगो की मिसाल को मैं लोक-सग्रह की आवश्यकता मे गिनूगा। मगर लोक-सग्रह की दलील देकर मुझ पर दवाव डाला गया कि मैं छुआछूत मिटाने की वात छोड दू। लोक-सग्रह की दृष्टि से नौ वरस की लडकी की शादी करने का रिवाज चालू रखने की वात कही गई है। लोक-सग्रह की खातिर दरिया पार जाने से रोका जाता था। ऐसी और भी कई मिसालें दी जा सकती हैं। मगर घर के कुएँ मे हम तैरें, डूव न मरें।

वन्धन ऐसे तो नही होने चाहिए कि जिनसे स्त्री-पुरुष का भेद हम भूल ही न सके। हमें याद रखना चाहिए कि हमारे अनेक कामो में इस फर्क के लिए कोई जगह नही है। दरअसल इस भेद को याद करने का मौका एक ही होता है, वह तव, जव काम सवारी करता है। जिन स्त्री-पुरुषो पर सारे दिन ही काम सवार रहता है, उनके मन सडे हुए हैं। मैं मानता हूँ ऐसे लोग लोक-कल्याण नहीं कर सकते। इन्सान की हालत आमतौर पर ऐसी नही होती। करोडो देहाती अगर सारे दिन इसी चीज का खयाल किया करें, तो वे किसी भी शुभ काम के लायक नही रह सकते[2]। (१३-७-'४७)

महात्मा गांधी के पांच प्रयोगो का विस्तृत वर्णन ऊपर आया है। इन प्रयोगो में स्त्रियो के साथ एक-स्थान में वास, एकशय्या-शयन, एकांत भाषण और स्त्री-स्पर्श होने रहे। सर्दी की मौसम में महात्मा गांधी को कभी-कभी कंपन होने लगता। वह वडे जोरो से होता और कुछ समय तक रहता। उस समय जो समीप में होते, वे महात्मा गांधी के शरीर को अपने शरीर से सटा कर रखते, जिससे कि उनके शरीर का

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ६२-६३

२—वही पृ० ६५-६६

शरीर को गर्मी पहुच सके। ऐसे अवसरो पर बहनें भी होती[1]। प्रश्न हो सकता है—ऐसी स्थितियो मे महात्मा गांधी को ब्रह्मचारी कहा जा सकता है या नही ? ऐसा प्रश्न उठा। इस प्रश्न का उत्तर जैनी एकांतदृष्टि से नही दे सकता। महात्मा गांधी ने इन सारे प्रयोगो के अवसर पर अपनी मानसिक स्थिति को सम्पूर्णत निर्विकार बतलाया है। उन्होने कहा है—"पिता अपनी पुत्री का निर्दोष स्पर्श सब के सामने करे, उसमे दोष नही देखता। मेरा स्पर्श उस प्रकार का है[2]।" "इस व्यवहार के बीच अथवा उसके कारण कभी कोई अपवित्र विचार मेरे मन मे नही आया।' ' मेरा आचरण कभी छिपा नही रहा है। ' मेरा आचरण पिता के समान रहा है[3]।" "मेरे लिए तो इतनी सारी स्त्रियां बहिनें और बच्चियां ही थी[4]।" अगर महात्मा गांधी की मानसिक, वाचिक और कायिक स्थिति ऐसी ही थी तो कोई भी जैनी उन्हें अब्रह्मचारी कहने का साहस नही कर सकेगा। पर उनके मन मे जरा भी मोह रहा होगा, अगर ये प्रवृत्तियां मोह-वश ही होती रही होगी, तो महात्मा गांधी अपनी तुला मे ही पूर्ण ब्रह्मचारी नही ठहरेंगे। उन्होने स्वय ही कहा था—"जिस बात की जांच करना आवश्यक है, वह है मेरी मानसिक वृत्ति—वह ठीक है अथवा उसमे काम-वासना का अवशेष है[5]।" अगर उसमे "अज्ञातभाव से भी काम-वासना" का अवशेष रहा तो उन्हे ब्रह्मचारी नही कहा जा सकेगा।

स्थूलिभद्र ने कोशा गणिका के यहां चातुर्मास किया। स्पर्श और एक-शय्या-शयन से दूर रहे, पर जहां तक अन्य बाडो का प्रश्न था उनकी स्थिति वहां नही ही कही जा सकती है। रागवती वेश्या के घर मे वास था। एकांत था। वेश्या अनुगा थी। षट्रसयुक्त भोजन था। सुन्दर महल था। वेश्या का सुन्दर रूप-दर्शन था। युवावस्था थी। वर्षाऋतु थी। मधुर सगीत था। नाना प्रकार का अनुनय-विनय था। ये सब होने पर भी स्थूलिभद्र दुष्कर, दुष्कर-दुष्कर, महा दुष्कर करनेवाले कहे गये हैं। महात्मा गांधी ने स्पर्श और एक-शय्या-शयन का प्रयोग किया। उन्होने स्थूलिभद्र से भी आगे का कदम उठाया। यदि कसौटी ठीक है, यदि स्थूलभद्र कई बाडो की अनवस्थिति में भी आत्मजय, मनजय के कारण आदर्श ब्रह्मचारी हो सके तो वैसी ही स्थिति में महात्मा गांधी ब्रह्मचारी नही हो सकते, ऐसा कोई भी जैनी नही कह सकता।

इस दिशा में सुदर्शन का प्रसग भी एक प्रकाश देता है। सुदर्शन चम्पा नगरी के बारह व्रत धारी श्रावक थे। इस नगरी के अधिपति धात्रीवाहन राजा का मत्री कपिल, सुदर्शन का मित्र था। उसकी पत्नी का नाम कपिला था। एक बार प्रसग-वश सुदर्शन अपने मित्र कपिल के घर ठहरे। कपिला उसके सौंदर्य को देखकर मुग्ध हो गयी। एक दिन कपिल घर पर नही थे। कपिला ने दासी के द्वारा सुदर्शन को कहलाया—"कपिल बीमार हैं और आप को याद कर रहे हैं।" मित्र के स्नेहवश सुदर्शन कपिल के घर पहुचा। दासी उसे महल मे ले गई। कपिला ने द्वार बन्द कर लिया और सुदर्शन से भोग की प्रार्थना करने लगी। सुदर्शन निर्विकार रहे। कपिला काम-विह्वल हो उनके शरीर से लिपट गई। फिर भी सुदर्शन निर्विकार रहा। कपिला बोली · "क्या आप में पुरुषत्व नही ?" सुदर्शन बोले "हां मैं नपुसक हू।"

मनोरमा के अतिरिक्त सब स्त्रियां सुदर्शन के लिए मां-बहिन के समान थी। वह वास्तव में उन सब के प्रति नपुसक-से थे। कपिला उनसे दूर हुई। सुदर्शन घर लौटे।

एक बार राजा ने नगरी में वसन्त-महोत्सव रचा। सब का जाना अनिवार्य था। सुदर्शन की पत्नी मनोरमा भी अपने पुत्रो सहित उत्सव मे उपस्थित हुई। महारानी अभया ने, मनोरमा के देवकुमार सदृश पुत्रो को देखकर दासी से पूछा—"ये पुत्र किस के हैं ?" दासी ने कहा—"यह नगर के सुदर्शन सेठ के पुत्र हैं। मनोरमा इनकी मां है"। अभया सुदर्शन के प्रति मोहित हो गई।

एक बार सुदर्शन चतुर्दशी के दिन पोषध कर रात्रि मे श्मसान मे ध्यानस्थ थे। रानी के कहने से धाय सुदर्शन को उसी अवस्था में उठा कर महल मे ले आई। अभया सुदर्शन को आकर्षित करने लगी, पर वह तो मिट्टी के से पुतले बने रहे। वे अभया के समीप भी उसी तरह समाधिस्थ रहे, जैसे श्मसान मे हो। अन्त मे रानी कुपित हो चिल्लाने लगी—"बचाओ ! बचाओ !! सुदर्शन मुझ पर अत्याचार कर

१—My days with Gandhi p 204

२—पृ० ७३

३—पृ० ७४

४—पृ० ७५

५—Mahatma Gandhi—The Last Phase p 591

रहा है।" द्वारपालो ने सुदर्शन को कैद कर लिया। धात्रीवाहन राजा ने सुदर्शन को शूली पर चढाने का आदेश दिया। सुदर्शन शांत रहे। नमुक्कारमत्र का ध्यान करने लगे। शूली सिंहासन के रूप में परिणत हुई।

इसके बाद सुदर्शन धर्मघोष स्थविर के उपदेश से गृह-त्याग कर मुनि हुए। अब एक दवदती नामक वेश्या मुनि सुदर्शन के रूप पर मोहित हो गयी। उसने श्राविका का रूप बनाया। मुनि सुदर्शन आहार के लिए उसके घर आये। वेश्या ने गृह-द्वार वन्द कर लिया और मुनि को अपने वश में करने का प्रयत्न करने लगी। मुनि उस सुन्दरी वेश्या के सम्मुख भी निर्विकार रहे। वेश्या ने आखिर उन्हें छोड दिया। मुनि सुदर्शन ने अपनी साधना से मोक्ष-प्राप्त किया[1]।

महात्मा गांधी ने जितने गुण ब्रह्मचारी के वतलाये हैं, वे सारे के सारे सुदर्शन में देखे जाते हैं। उनमें नपुसकत्व की सिद्धि थी। वे ऐसी स्थिति में आ गये जब स्पर्शादि की वाडें स्वयं नही रही, फिर भी अपनी मानसिक, वाचिक और शारीरिक स्थिति के कारण वे ब्रह्मचारी के आदर्श उदाहरण समझे जाते हैं।

स्थूलिभद्र और सुदर्शन की स्तुति में कवियो की लेखनी झकृत हो उठी

न दुक्कर अबयलुवतोडण, न दुक्कर सिरसव नच्चिआए।
त दुक्कर तं च महानुभावं, ज सो मुणी पमयवणमि वुच्छो॥
गिरौ गुहायां विजने वनान्तरे, वास श्रयतो वशिन सहस्रश।
हर्म्यति रम्ये युवतीजनांतिके, वशी स एक शकडालनदन॥
श्रीनदीषेणरथनेमिमुनीश्वराद्रं, बुद्ध्या त्वया मदन रे मुनिरेष दृष्ट।
ज्ञात न नेमिजवूसुदर्शनानाम्, तुर्यो भविष्यति निहत्य रणांगणे माम्॥
श्रीनेमितोपि शकडालसुत विचार्य, मन्यामहे वयममु भटमेकमेव।
देवोऽद्रिदुर्गमधिरुह्य जिगाय मोहं, यन्मोहनालयमय तु वशी प्रविश्य॥

महात्मा गांधी ने स्वय अपने लिए ऐसी स्थिति उत्पन्न की जिसमें वाडें नही रही। अगर उनकी स्थिति वहिनो के सम्पर्क में भी विशुद्ध रही तो स्थूलिभद्र और सुदर्शन की तरह वे भी ब्रह्मचारी क्यो न कहे जा सकेंगे? यह एक प्रश्न है जिस पर जैनियो को गभीर विचार करना है।

मुनि स्थूलिभद्र ने आचार्य सभूतिविजय से वेश्या के यहाँ चातुर्मास करने की आज्ञा ली। स्थूलिभद्र का यह प्रयोग इस वात का प्रमाण बन गया कि ब्रह्मचर्य की साधना में एक मुनि कितना आगे वढा हुआ हो सकता है। महात्मा गांधी के स्वप्रयोग भी इसी दृष्टि से थे। वह इस वात की खोज में थे कि 'सयम धर्म कहाँ तक जा सकता है[2]'।

जैसे स्थूलिभद्र का प्रयोग उनके गुरुभाई सिंहगुफावासी मुनि के लिए एक धर्म के रूप में नही हुआ था और उनके अनुकूल नही पडा, वैसे ही महात्मा गांधी ने भी कहा था "निर्दोष स्पर्श की छूट लेना कोई स्वतत्र धर्म नही[3]।

मुनि स्थलिभद्र और महात्मा गांधी के दृष्टान्त केवल इसी दृष्टि से अनुकरणीय हैं कि मनुष्य को अपने ब्रह्मचर्य की आराधना में कितना दृढ होना चाहिए और कितनी ऊचाई तक पहुचा हुआ होना चाहिए। वे इस वात का आदर्श नही रखते कि सब को ऐसा करना चाहिए। महात्मा गांधी अपने प्रयोगो मे रहे हुए खतरो से अच्छी तरह अवगत थे। उनके निम्न शब्द हर समय साधक के कानो में गूजते रहने चाहिए "स्त्री-पुरुष के बीच परस्पर सम्बन्ध की मर्यादा होनी ही चाहिए। छूट में जोखम है, इसका मैं रोज प्रत्यक्ष अनुभव करता हू। जो कोई विकार के वश होकर निर्दोष से निर्दोष लगनेवाली भी छूट लेता है, वह खुद खाई में गिरता है और दूसरो को भी गिराता है[4]।" "मेरे उदाहरण का

१—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर ख० २, रत्न १६, पृ० ६३१ से ६६६

२—पृ० ७२

३—वही

४—पृ० ७३

कभी यह अर्थ नही कि उसका चाहे जो अनुसरण करने लग जाय[1] ।"

आचार्य तुलसी ने अनुभव-वाणी मे कहा है "सभी स्त्रियो को माता की दृष्टि से देखे। माता पूज्य होती है। उसमें विकार की दृष्टि नही बनती[2] ।" 'मातृस्वसृसुतातुल्य दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम्—ब्रह्मचर्य-पालन में सबसे वडी चीज स्त्रीमात्र में माता, वहिन और पुत्री-भाव का साक्षात्कार करना है। महात्मा गांधी के अनुसार उन्होने ऐसी भावना को सम्पूर्णरूप से उत्पन्न कर लिया था। अत असाधारण प्रयोगो में भी वे सम्पूर्ण निर्दाग रह सके, ऐसा उनका स्वय का आत्मनिरीक्षण उन्हें कहता था।

गांधीजी के वाड विषयक विचार ऊपर मे विस्तार से दिये गये हैं। उनमे—"ब्रह्मचर्य से सम्वन्धित नौ वाडो की जो रूढिगत कल्पना है, वह मेरे विचारो से अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। मैंने अपने लिए कभी इसे स्वीकार नही किया। मेरे मत से इन वाडो की आड में रह कर सच्चे ब्रह्मचर्य का पयत्न भी सभव नही" (पृ० ८८), "मुझे लगता है कि जो ब्रह्मचारी बनने की सच्ची कोशिश कर रहा है, उसे भी ऊपर वताई हुई मर्यादाओ की जरूरत नही" (पृ० ९७), जैसे वाक्य मिलते हैं। ऐसे वाक्यो को एक बार दूर रखा जाय तो देखा जायगा कि आरभ से अन्त तक महात्मा गांधी वाडो की आवश्यकता का ही प्रतिपादन कर सके हैं, उनके खण्डन का नही। उन्होने समय-समय पर वैसे ही नियम वतलाये हैं जो जैन धर्म की वाडो में मिलते हैं।

सन् १९३२ में महात्मा गांधी ने कहा "ब्रह्मचारी की अपनी व्याख्या का अर्थ पूरी तरह स्पष्ट तो आज भी नही हुआ। जब मैं उस स्थिति में (निर्विकार स्थिति मे) पहुच जाऊगा, तब इसी व्याख्या को नयी आंखो से देखूगा[3] ।"

सन् १९४२ में उन्होने लिखा "मैंने ब्रह्मचर्य-पालन का व्रत १९०६ में लिया था, अर्थात् मेरा इस दिशा में छत्तीस वर्ष का प्रयत्न है। ... मेरे कितने ही प्रयोग समाज के सामने रखने की स्थिति को प्राप्त नही हुए। जहां तक मैं चाहता हू, वहां तक वे सफल हो जाय तो मैं उन्हें समाज के आगे रखने की आशा रखता हू। क्योकि मैं मानता हू कि उनकी सफलता से पूर्ण ब्रह्मचर्य शायद प्रमाण में कुछ सहज बन जाय[4] ।"

महात्मा गांधी के इस दिशा के प्रयोग कौन-से थे और उनमे वे पूर्ण सफल हुए या नही, खोज करने पर भी इसका पता नही लग सका। ब्रह्मचर्य प्रमाण में कुछ सहज वन जाय, ऐसा कोई नया नियम उनकी ओर से सामने नही आया। क्योकि उन्होने ब्रह्मचर्य-पालन के लिए वही नियम अन्त तक वतलाये, जो उन्होने शुरू-शुरू मे वतलाये थे। उनके सन् १९४७ मे वतलाये हुए नियम वे ही हैं, जो उन्होने सन् १९२० में वतलाये।

ब्रह्मचर्य के समाधि-स्थानो का जैसा सुव्यवस्थित रूप जैन धर्म मे मिलता है, वैसा अन्यत्र कही भी प्राप्त नही है। गांधीजी द्वारा वताये हुए नियम भगवान महावीर द्वारा वर्णित समाधि-स्थानो से जरा भी भिन्न नही और न कोई नयी वात सामने रखते हैं।

महात्मा गांधी कहते हैं—"मैं उसे ब्रह्मचर्य नही कहता जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "स्त्री का स्पर्श न करना ब्रह्मचर्य है"—ब्रह्मचर्य की ऐसी परिभाषा जैन आगम अथवा अन्य ग्रथो में नही मिलती। जैन धर्म में कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करने से ब्रह्मचर्य सुरक्षित रहता है। पर ऐसा नही कहा गया है कि स्त्री-स्पर्श न करना ही ब्रह्मचर्य है। जव साधक पूछता है कि ब्रह्मचर्य-पालन की सुगमता के लिए मेरा रहन-सहन वैसा हो, तव ज्ञानी गुरु कहते हैं—वह स्त्री-ससर्ग आदि का वर्जन करता हुआ रहे

१—साधक स्त्री-ससक्त, नपुसक-ससक्त, पशु-ससक्त स्थान में रहनेवाला न हो।

२—वह शृगार-पूर्ण विकारी स्त्री-कथा करनेवाला न हो।

३—एक शय्या, आसन आदि का सेवन करनेवाला न हो।

४—स्त्रियो की मनोहर इन्द्रियादि की ओर ताकनेवाला न हो।

५—प्रणीतभोजी न हो।

१—पृ० ७४

२—पथ और पाथेय पृ० ४०

३—सत्याग्रह आश्रम का इतिहास पृ० ४१

४—आरोग्य की कुजी पृ० ३२

६—अतिमात्रा मे आहार करनेवाला न हो।

७—पूर्व रति, क्रीडाओ का स्मरण करनेवाला न हो।

८—शब्दानुपाती, रूपानुपाती और श्लोकानुपाती न हो।

९—सुखाभिलाषी न हो।

१०—शरीर-विभूषा करनेवाला न हो[1]।

महात्मा गांधी ने भी प्रश्नकर्त्ताओ को ठीक ऐसे ही उत्तर दिये हैं, जो उद्धृत अशो में जगह-जगह प्राप्त हैं। महात्मा गांधी के चिन्तन स्वय अस्थिर से लगते हैं। कभी उन्होने बाडो की अत्यन्त आवश्यकता महसूस करते हुए उनके पालन पर अत्यन्त बल दिया और कभी जब उन्होने स्वतत्र प्रयोग किये और आलोचना हुई तब बाडो की निरर्थकता पर काफी जोर दिया। कभी साधक के लिए उन्हें जरूरी माना और कभी उसके लिए भी उनकी जरूरत न होने की बात कह दी।

ऐसा होते हुए भी महात्मा गांधी बाडो का खण्डन नही कर पाये। पर उन्होंने स्वय वही बाडें दी हैं, जो श्रमण भगवान महावीर ने दी। नीचे तुलनात्मक तालिका दी जाती है, जिससे यह बात स्पष्ट होगी :

१—ब्रह्मचारी स्त्री-नपुसक-पशु-संसक्त स्थान मे न रहे।	१—पति और पत्नी को अलग-अलग कमरो में रहना चाहिए[2]। अलग-अलग कमरो में सोना चाहिए[3]।
२—वह मोहोत्तेजक स्त्री-कथा न करे, एकान्त मे स्त्री के साथ बात न करे।	२—यदि साथ-साथ बातें करने में विकार पैदा हो तो बातें नही करनी चाहिए[4]।
३—वह स्त्री के साथ एक शय्या, एक आसन पर न बैठे।	३—पति-पत्नी को एकांत से बचना चाहिए[5]। उन्हे एक-दूसरे के साथ एकान्त-सेवन नही करना चाहिए। एक कोठरी मे एक चारपाई पर नही सोना चाहिए[6]।
४—वह स्त्री की मनोहर इन्द्रियो पर टकटकी न लगाये।	४—आँखें दोष करती हो तो उन्हें बन्द कर लेना चाहिए। .. आँखो को सदा नीची रखकर चलने की रीति अच्छी है[7]।
५—वह कामुक शब्दो को न सुने।	५—अनेक. ब्रह्मचर्य-पालन मे हताश हो जाते हैं, इसका कारण यह है कि वे श्रवण, दर्शन... भाषण आदि की मर्यादाएँ नही जानते[8]। ..कान दोष करें तो उनमें रूई भर लेनी चाहिए। जहां गन्दी बातें हों या गन्दे गीत गाये जा रहे हो, वहां से तुरन्त रास्ता लेना चाहिए[9]।

१—(क) देखिए पृ० १२६

(ख) उपदेशमाला गा० ३३४-३३६ ·

इत्थिपसुसंकिलिट्ठं, वसहिं इत्थीकहं च वज्जंतो। इत्थिजणसंनिसिज्जं, निरूवणं अंगुवंगाणं ॥
पुव्वरयाणुस्सरणं, इत्थीजणविरहरूवविलवं च। अइबहुअं अइबहुसो, विवज्जंतो अ आहारं ॥
वज्जंतो अ विभूसं, जइज्ज इह बंभचेरगुत्तीसु। साहु तिगुत्तिगुत्तो, निहुओ दंतो पसंतो अ ॥

२—अनीति की राह पर पृ० ५५

३—देखिए पीछे पृ० ६२

४—देखिए पीछे पृ० ६५

५—अनीति की राह पर पृ० ५५

६—देखिए पीछे पृष्ठ ६५

७—देखिए पीछे पृ० ६२

८— " पृ० ६५

९— " पृ० ६२

६—वह पूर्व क्रीडा का स्मरण न करे।	६—जो शरीर को तो वश मे रखता हुआ जान पडता है मन मे विकार का पोषण करता, वह मूढ मिथ्याचारी है। जहाँ मन होता है वहाँ शरीर अन्त में घसिटाए विना न रहता[1]।
७—वह विषयवर्द्धक गरिष्ट आहार का वर्जन करे	७—दूध का आहार ब्रह्मचर्य के लिए विघ्नकारक है, इस वि में मुझे तनिक भी शका नही है[2]। मेरी अपनी राय यह कि जो अपने विकारो को शान्त करना चाहता हो, उसे दूध का इस्तेमाल थोडा ही करना चाहिए विका त्तेजक वस्तुएँ खाने-पीनेवाले को तो ब्रह्मचर्य निभा सकने आशा ही न रखनी चाहिए[3]। ब्रह्मचारी को मिर्च-मस जैसी गरमी और उत्तेजना पैदा करनेवाले और मिठाइ तली-भुनी चीजो जैसे पाचन में भारी पडनेवाले पदार्थों परहेज करना चाहिए[4]।
८—वह अति आहार न करे	८—मित आहारी बनिए, सदा थोडी भूख रहते ही चौके पर उठ जाइए[5]। ब्रह्मचारी मित आहारी नही किन्तु अल्पाहा होना चाहिए[6]।
९—वह शरीर-विभूषा और शृगार को दूर रखे	९—पुरुष के आगे अपनी देह की सुन्दरता दिखाना क्या पसन्द होगा ?
१०—पाँचों इन्द्रियो के विषयो के सेवन से दूर रहे	१०—पहला काम है ब्रह्मचर्य की आवश्यकता को समझ लेन दूसरा काम है इन्द्रियो को क्रमश वश में लाना। ब्रह्मच को (क) अपनी जीभ को तो वश मे लाना ही चाहिए उसे जीने के लिए खाना चाहिए—रसना-सुख के लिए न (ख) आँख से वही चीजें देखनी चाहिए जो शुद्ध निष्पाप गन्दी चीजोकी ओर से उसे अपनी आँखें वन्द कर लेनी चाहिए निगाह निची कर के चलना—उसे इधर-उधर नचाते रहना शिष्ट सम्कारवान होने की पहिचान है (ग) ब्रह्मचा को अश्लील वातें सुनने और (घ) नाक-से तीव्र उत्तेज गध सूघने से भी परहेज रखना होगा। (ङ) अपने हा पैरो को किसी-न-किसी अच्छे काम में लगाये[7]। कान विकारी वातें सुनना, आंख से विकार उत्पन्न करनेवा वस्तु देखना, जीभ मे विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेन हाथ से विकारो को उभारनेवाली चीज को छूना और फि भी जननेन्द्रिय रोकने का इरादा रखना तो आग में हा डाल कर जलने से बचने के प्रयत्न के समान है[8]।

१—ब्रह्मचर्य (श्री०) पृ० ८
२—आत्मकथा ३.८
३— अनीति की राह पर पृ० १३६
४—वही पृ० ५५
५—वही पृ० ११०
६—पृ० ६५
७—अनीति की राह पर पृ० ७२
८—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ७

महात्मा गांधी ने कहा है कि साधक अपनी बाडें खुद बना लें। इसमे जैन धर्म का मतभेद नही। ब्रह्मचर्य की समाधि के लिए जो दस नियम दिये गये हैं, वे अन्तिम सख्या के सूचक नही हैं। आगमो मे स्पष्ट उल्लेख है कि—जो भी ब्रह्मचर्य मे विघ्न डालनेवाली बातें हैं, उनका ब्रह्मचारी वर्जन करे[१]।

महात्मा गांधी ने सूत्ररूप मे कही हुई बाडो के अध्याहारो को पूरे रूप से जाने बिना ही उनके त्रुटित रूप को उपस्थित कर उनकी आलोचना की है।

भगवान महावीर ने सघ मे श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका—इन चारो को स्थान दिया। हजारो वर्षों से यह सघ-पद्धति चली आ रही है। श्रमण, श्रमणियो अथवा गृहस्थ बहिनो का स्पर्श नही करते और न श्रमणियाँ अथवा गृहस्थ बहनें श्रमणो का। फिर भी सघ में सेवा-कार्य अबाध रूप से चलता रहा है। परस्पर वैयावृत्त्य करते हुए भी स्पर्श की आवश्यकता ही नही आती। सेवा के लिए स्पर्श आवश्यक होगा ही, ऐसी कोई बात नही। महात्मा गांधी ने जो प्रयोग किये, वे स्वय स्पर्शमूलक रहे। वे सेवा के लिए स्पर्श के प्रसग के नही। कधो का सहारा लेना, नग्न अवस्था में बहिनो से सर्व-अङ्ग स्नान करना, एक शय्या पर सोना, सेवा के लिए स्पर्श नही, पर स्पर्शमूलक प्रवृत्तियाँ हैं। कौन कह सकता है कि स्वय मोहमूलक न हो?

श्रमण, श्रमणियो का आदर्श है कि वे एक दूसरे का स्पर्श नही करते, पर शुद्ध सेवा के अवसर पर एक दूसरे का स्पर्श नही करता, ऐसा महावीर अथवा उनकी बाडो का विधान ही नही। वास्तविक वैयावृत्त्य की स्थितियो के अतिरिक्त, जैन धर्म में श्रमण-श्रमणी का परस्पर स्पर्श पिता-पुत्री, माता-पुत्र, भाई-बहिन मे भी निरपवाद वर्जित रहा।

बृहत्कल्प सूत्र में निम्न सूत्र मिलते हैं :

१— यदि निर्ग्रंथ के पैर में कीला, काँटा, काँच का टुकडा या ककड गड गया हो और वह गडकर टूट गया हो और वह स्वय उसे निकालने में अथवा समाप्त करने में असमर्थ हो, तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रंथी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करती ॥ ३ ॥

२—यदि निर्ग्रंथ की आँख में कोई जीव, बीज या रज पड जाय और वह उसे स्वयं निकालने में अथवा विशोधन करने में असमर्थ हो, तो उसे निकालती हुई अथवा विशोधन करती हुई निर्ग्रंथी तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करती ॥ ४ ॥

३—यदि निर्ग्रंथी के पैर में कील, काँटा, काँच या ककड गड गया हो और गड कर टूट गया हो और वह स्वय उसे निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो, तो उस कांटे को निकालता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ५ ॥

४—यदि निर्ग्रंथी की आँख में कोई जीव, बीज या धूलि पड जाय और वह उसे स्वय निकालने में या विशोधन करने में असमर्थ हो तो उसे निकालता हुआ अथवा विशोधन करता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकर की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ६ ॥

५—यदि निर्ग्रंथी दुर्ग—कठिन, विषम—ऊँचे-नीचे अथवा पर्वतीय स्थानो में चल रही हो और वह गति के स्खलन से गिर रही हो या गिरनेवाली हो, तो ऐसी स्थिति में अपनी भुजाओ से उसके अग को पकडता हुआ या उसकी भुजा अथवा सम्पूर्ण शरीर को पकड कर उसे अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ७ ॥

६—यदि निर्ग्रंथी जल-सीकरो से युक्त जलाशय में, पक में, ढीले कीचडवाले जलाशय में, उदक की प्रतीति होनेवाले जलाशय मे डूब रही हो तो ऐसी स्थिति में उसको पकड कर अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ८ ॥

७—जिस समय निर्ग्रंथी नाव में चढ रही हो या नाव से उतर रही हो उस समय उसे पकडता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ९ ॥

८—निर्ग्रंथी के क्षिप्त-चित्त होने पर उसे ग्रहण करता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रंथ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता ॥ १० ॥

९—यदि निर्ग्रंथी दीप्तचित्ता—लाभादि के मद से परवशीभूत हृदय हो गई हो तो उसे ग्रहण करता—पकडता हुआ या अवलम्बन देता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ ११ ॥

१—उत्तराध्ययन १६.१४ सकाथाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणव

१०—निर्ग्रन्थी के यक्षाविष्ट होने पर उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १२ ॥

११—उन्मादप्राप्ता निर्ग्रन्थी को पकडता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १३ ॥

१२—उपसर्ग को प्राप्त हुई निर्ग्रन्थी को पकडता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १४ ॥

१३—यदि निर्ग्रन्थी साधिकरण—क्लेशपूर्ण स्थिति में हो तो उसे पकडता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १५ ॥

१४—प्रायश्चित्त के आ जाने पर क्लान्ता या विषण्णवदना निर्ग्रन्थी को पकडता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १६ ॥

१५—भात—अन्न-पानी का प्रत्याख्यान करनेवाली निर्ग्रन्थी (यदि मूर्च्छित हो रही हो) को पकडता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १७ ॥

१६—यदि अर्थजात—द्रव्य से उत्पन्न होनेवाले कारणो से निर्ग्रन्थी मूर्च्छित हो जाय तो उस स्थिति मे उसे ग्रहण करता हुआ निर्ग्रन्थ तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण नही करता ॥ १८ ॥

पाठक देखें कि जैन-धर्म का वाड-विधान शुद्ध सेवा-कार्य के अवसर उपस्थित होने पर उनसे पराङ्मुख होना नही सिखाता। विकट स्थितियो मे श्रमण-श्रमणी भी निर्विकार भाव से एक दूसरे के स्पर्श-प्रसगो मे भाग ले सकते हैं। पर ऐसी स्थितियाँ जीवन में थोडी ही होती हैं। ऐसी परिस्थितियो को छोड कर स्पर्श-वर्जन सार्वजनिक और सर्वकालिक नियम रहा है, उसमे कोई दोष नही बता सकता।

गृहस्थ-जीवन में जहाँ माता-पुत्र, भाई-वहिन जैसे सम्बन्ध हैं, वहाँ अनिवार्य आवश्यक स्पर्श मर्यादा के साथ हर समाज में स्वीकृत है। उपर्युक्त सम्वन्धो में परिचर्या आदि की आवश्यकतावश निर्विकार स्पर्श किसी भी समाज मे गृहस्थो के मर्यादित ब्रह्मचर्य का उल्लघन नही माना गया है।

महात्मा गांधी की यह दलील भी ठीक नही कि पुत्र अपनी मां के पैर दवा सकता है, वैसे ही निर्विकार अवस्था मे वह स्त्री-मात्र का स्पर्श करे तो दोष नही। निर्विकार स्पर्श अपने आप मे कोई दोष नही पर स्त्री-पुरुषो में ऐसे निर्विकार स्पर्श का प्रचलन भी हितावह नही हो सकता। वह विषैला अङ्कुर है, जो विष-वृक्ष के रूप मे ही पल्लवित हो सकता है, अमृत-फल के वृक्ष के रूप मे नही।

महात्मा गांधी के स्पर्श-मूलक प्रयोगो पर निर्विकार पुत्र का माता के पैर दवाने का उदाहरण लागू नही पडता।

२३-महात्मा गांधी बनाम मशरूवाला

महात्मा गांधी ने वाडो के सम्बन्ध में विचार देते हुए लिखा है "ससार से नाता तोड लेने पर ही ब्रह्मचर्य प्राप्त हो सकता है, तो इसका कोई मूल्य नही है।" "ब्रह्मचर्य का यह अर्थ नही कि मैं स्त्री-मात्र का, अपनी वहिन का भी स्पर्श न करूँ, मेरी वहिन वीमार हो और ब्रह्मचर्य के कारण उसकी सेवा करने से हिचकिचाना पडे, तो वह ब्रह्मचर्य कौडी काम का नही।" "मैं उसे ब्रह्मचर्य नही कहता, जिसका अर्थ है—स्त्री का स्पर्श न करना।" "जिसे रक्षा की जरूरत हो, वह ब्रह्मचर्य नही।" "मेरा यह विश्वास कभी नही रहा कि ब्रह्मचर्य का उपर्युक्त रूप मे पालन करने के लिए स्त्रियो के किसी भी तरह के ससर्ग से विल्कुल वचना चाहिए।" पाठक देखेंगे कि यहाँ ससक्त शय्या परिहार, स्त्री-सग परिहार, एकशय्यासन वर्जन—ये वाडे विकृत रूप में अवतरित हुई हैं और ऐसी परिस्थिति मे उनकी आलोचना भी वेबुनियाद-सी वन गई हैं।

महात्मा गांधी ने उपर्युक्त वाक्यो में वाडो की जो आलोचना की है, उस विषय मे मशरूवाला का चिन्तन भी सामने आ जाना आवश्यक है। उन्होने स्त्री-पुरुष-मर्यादा और स्पर्श-मर्यादा पर चिन्तनपूर्ण विचार दिये हैं। हम नीचे उनके कई लेखो का सारांश उपस्थित करते हैं :

१—"नया समाज मे और नया सस्थाओ मे, स्त्री-पुरुष के वीच अनैतिक या नाजुक सम्वन्ध पैदा होने के उदाहरण हम वहुत वार सुनते हैं।

यह शायद आसानी से कहा जा सकता है कि आजकल की भोग-विलास की प्रेरणा देनेवाली जीवन-पद्धति तथा स्त्रियो और पुरुषो को परस्पर सहवास के अधिक अवसर देनेवाली प्रवृत्तियाँ इनमे वहुत ज्यादा वृद्धि कर रही हैं। •

"अपने सामने पवित्र जीवन का आदर्श रखनेवाले और उसके लिए वहुत प्रयत्नशील रहनेवाले अनेक स्त्री-पुरुषो के जीवन में भी अनैतिक सम्बन्ध पैदा होने के किस्से सुने गये हैं। ईश्वर की कृपा से मैं आज तक ऐसी स्थिति से वच सका हू। अपने चित्त की परीक्षा करते हुए मैं मेरा

बिलकुल नही मानता कि मेरे दिल में ईश्वर ने कोई विशेष प्रकार की पवित्रता रख दी है और उसकी वजह से मैं बच गया हू। मुझमे भी साधारण पुरुष की तरह ही विकार भरे हैं, और उनके साथ मुझे हमेशा झगडा जारी ही रखना पडता है।

"फिर भी, हम जिन्हें अनैतिक या अपवित्र सम्बन्ध मानते हैं, वैसे सम्बन्धो से मे और जहाँ तक जानता हू, मेरे परिवार के बहुत से लोग आज तक बचे हुए हैं। ईश्वर की कृपा के अलावा मे एक ही कारण मानता हूं। और वह है सदाचार के स्थूल नियमो का पालन।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा विजने तु वय स्थया।
अनापदि न तै स्थेय•••••• • • ••••   • •॥

"जवान मां, बहन या लडकी के साथ भी आपत्काल के बिना एकान्त मे नही रहना चाहिए—शिक्षापत्री का यह सूत्र हमें बचपन से ही रटाया गया था। और मेरे पिताजी तथा भाइयो के जीवन मे जिसका पालन करने और कराने का आग्रह मैं बचपन से देखता रहता था।

"स्त्री-पुरुष आपस मे आजादी से हिलें-मिलें, एक दूसरे के साथ अकेले घूमें-फिरें, एकान्त मे भी बैठे और फिर भी उनमे विकार पैदा न हो या वे नाजुक स्थिति में न फसे, तो उसे मे केवल ईश्वरीय चमत्कार ही समझूगा। ऐसे चमत्कार कदम-कदम पर नही हो सकते। सैकडो बरसो मे कोई एक स्त्री या पुरुष भले ही ऐसा पैदा हो। लेकिन मै हर किसी के बारे में तुरन्त ऐसी श्रद्धा नही कर लेता, और ऐसा दावा करने वाले हर किसी के शब्दो पर विश्वास भी नही करता। कोई मनुष्य बडा ब्रह्मनिष्ठ और योगीराज माना जाता हो और मुझसे कोई यह सलाह पूछे कि उसके निर्विकारी होने के दावे पर विश्वास किया जाय या नही, तो मै पूछनेवाले से यही कहूँगा कि विश्वास न करने से उसकी या आपकी कोई हानि न होगी।

"इस विषय में स्त्री के बनिस्बत पुरुष की स्थिति को ज्यादा सभालने की जरूरत होती है। कोई पुरुष ५० वर्ष तक विकारो से बचा रहा हो, तो भी यह नही कहा जा सकता कि अब वह सुरक्षित हो चुका है। और यह भी नही कहा जा सकता कि ७० वें वर्ष मे भी विकारो का शिकार होने का भय उसे नही रहेगा। इसलिए अगर कोई यह कहे कि अब मुझे पर स्त्री या पुरुष के साथ एकान्तवास न करने के स्थूल नियमो का पालन करने की जरूरत नही रही, तो मुझे यह शका हुए बिना नही रहेगी कि वह ढोग करता है।

"इन स्थूल नियमो का सख्ती से पालन करने का संस्कार मुझ पर पडा है, और मुझे लगता है कि इसी कारण से मैं आज तक किसी विषम परिस्थिति में फसने से बच सका हू।

"   • एकान्त-वास का अर्थ अधिक समझने की जरूरत है। जवान स्त्री-पुरुषो के बीच खानगी और लम्बे पत्र-व्यवहार का सम्बन्ध भी एकान्त-वास की ही गरज पूरी करता है, और उसी में स्थूल एकान्त-वास उत्पन्न होता है।

"आधुनिक जीवन में दूसरे भी बहुत से भयस्थान बढ गये हैं। ये भयस्थान एकान्त-वास से उलटे ढग के अर्थात् अति सहवास के होते हैं। अनेक प्रकार के कामकाज और शहरी जीवन के कारण कभी अनजान में, कभी अनिवार्यरूप मे और कभी अचानक स्त्री-पुरुषो को एक दूसरे के अगो का स्पर्श हो जाता है। रेलगाडियो में, मोटरो में, सभाओ में, रास्तो में एक दूसरे से सटकर बैठना पडता है, चलना पडता है, बातचीत करनी पडती है, शिक्षकों को लडकियो या बालाओ को पढाना होता है—और ये सब दोनो के लिए भयस्थान हैं। इन सब परिस्थितियो में जो अपनी पवित्रता के लिए आवश्यकता से अधिक अभिमान करता है, वह गिरता ही है, जो जाग्रत रहता है, ऐसे अवसरो को सुअवसर नही बल्कि आपत्ति-रूप समझता है और यह मनोवृत्ति रखता है कि पास आने के बजाय यथासभव इनसे इच भर भी दूर रहा जाय, वही ईश्वर की कृपा से बच सकता है।

"जहाँ-जहाँ हम ऐसे दोष पैदा होने की बात सुनते हैं, वहाँ-वहाँ यह देखने मे आयेगा कि दोष पैदा होने से पहले ऊपर के स्थूल नियमो के पालन में लापरवाही, उन नियमो के लिए थोडा-बहुत अनादर, अपनी सयम-शक्ति पर झूठा विश्वास और बहुत बार अनावश्यक स्त्री दाक्षिण्य (Chivalry) थे ही।

"जिसे स्वय जिन दोषो से बचना हो और समाज का—खास करके भोली बालाओ का—बचाव करना हो, वह इन नियमो का आग्रहपूर्वक पालन करे। यही राजमार्ग है।

"जब-जब मेरे जीवन में स्त्रियों और बढती हुई उमर की लडकियों को पढाने का मौका आया है, तब तब मैं सदा इस बात का ख्याल

मुझे मालूम हुए बिना हर कोई आ सके। यह चीज मैंने अपने पिताजी और बडे भाई से सीखी है। स्त्रियो के साथ एक आसन पर सटकर बैठने की बात मुझे आधुनिक जीवन में निभा लेनी पडती है, किन्तु, अच्छी बिलकुल नही लगती। अपने भाइयो की जवान लडकियो का भी आशीर्वाद के बहाने मैं जान बूझकर अंग-स्पर्श नही करता या नही होने देता। यदि कोई स्त्री लापरवाही से अथवा आजकल जैसी स्वतन्त्रता ली जाती है, उसे निर्दोष मानकर मेरे पास आकर बैठ जाती है तो मुझे दुःख होता है। ऐसा बर्ताव आज के जमाने में 'अति-मर्यादी' (Ultra-Puritan) समझा जाता है, यह भी मैं जानता हूँ। लेकिन इसमें मैंने अपनी और समाज की दोनो की रक्षा मानी है[1]।

" मैंने अपने को कभी पूरी तरह सुरक्षित नही माना, विशेष मनोबलवाला नही माना। वेदान्त-निष्ठा से सुरक्षित रहा जाता है, ऐसा मैं नही मानता। इस अभिमान से गिरने और फिसलनेवालो के उदाहरण मैंने बहुत देखे हैं। ईश्वर की कृपा से, बडे-बूढो के दिये हुए संस्कारो से और ऊपर बताये गये स्थूल नियमो के पालन से ही मैं अभी तक बच रहा हू, ऐसा मैं मानता हू। और इसी के बल पर आगे भी बचे रहने की आशा रखता हू[2]।" (२३-६-'३४)

२—"जहाँ तक मैं जानता हूँ हिन्दुस्थान मे—हिन्दू और मुस्लिम दोनो समाजो मे—जो सदाचार-धर्म माना गया है, वह जवान मां, बहन और बेटी को पर स्त्री की कोटि मे ही रखता है और दूसरे की स्त्री के साथ व्यवहार करने मे जो मर्यादाये पालनी चाहिए, उन्ही को इनके साथ के व्यवहार मे भी पालने की सूचना करता है। मैंने हिन्दू-आदर्श को इस तरह समझा है कि पर स्त्री को मां, बहन या बेटी के समान मानना चाहिए और मां, बहन या बेटी के साथ भी एक खास उमर के बाद मर्यादायुक्त व्यवहार ही करना चाहिए। इस तरह वह सभी स्त्रियो के साथ एक-सा व्यवहार करने का आदेश देता है।

"यह बात विचारने जैसी है कि मां, बहन या बेटी को भी इस तरह दो हाथ दूर रखने की प्रथा का खण्डन आवश्यक और उचित है या नही, धर्म और समाज के सुधार के लिए आवश्यक है या नही। एकाध लोकोत्तर विभूति का व्यवहार इस प्रथा के बन्धन से परे हो, यह दूसरी बात है। उसकी लौकिक या लोकोत्तर विशेषता के कारण समाज उसमें कोई दोष न मान कर उसे सहन कर लेता है। लेकिन 'दोष न मानने' का अर्थ सिर्फ इतना ही है कि करोडो मनुष्यो में एकाध के लिए सदा अपवाद रहता ही है[3]। लेकिन अगर सभी मनुष्य उस प्रथा को तोडें, तो समाज सहन नही करेगा, यानी उनकी निन्दा किए बिना नही रहेगा। इसलिए, इस विचार के साथ मेरा बहुत विरोध नही है कि किसी विरले पवित्र व्यक्ति के लिए इसका अपवाद हो सकता है[4]। लेकिन जो पिता अपनी मां, बहन या बेटी का निकट से स्पर्श करने मे—उदाहरण के लिए कंधे पर हाथ रखकर चलने मे—संकोच रखता है, वह संकुचित मनोवृत्तिवाला है, ऐसा कहा जाय तो यह मुझे ग्राह्य नही लगता।

१—२७ जुलाई, १९४७ के 'हरिजनबन्धु' में 'पुराने विचारों का बचाव' नाम से गांधीजी ने एक पत्र छापा था। उसमे पत्र लेखक मेरा उल्लेख करके लिखते हैं कि वे तो "यहां तक कहते हैं कि स्त्री-पुरुष को एक चटाई पर नहीं बैठना चाहिए।"

इस पर गांधीजी लिखते हैं "अगर यह सच है कि जिस चटाई पर कोई स्त्री बैठी हो, उस पर किशोरीलाल भाई न बैठें तो मुझे आश्चर्य होगा। मै ऐसी पाबन्दी को नहीं समझ सकता। उनके मुह से ऐसा मैंने कभी नहीं सुना।"

मेरा खयाल है कि पत्र-लेखक ने ऊपर के पैरे के विचारों का उल्लेख किया है। इन विचारों मे आज भी मै कोई परिवर्तन करने का कारण नहीं देखता। एक चटाई पर बैठना और एक ही आसन—यानी आम तौर पर जिस पर एक ही आदमी अच्छी तरह बैठ सके, ऐसी जगह पर या दूसरी काफी जगह होते हुए भी मेरे पलंग पर आकर बैठ जाना, इन दोनों मे बडा फर्क है। रेलगाडी, ट्राम, भीडभाड खचाखच भरी सभा आदि में ऐसा होना अलग बात है। परन्तु किसी के घर मिलने गये हों या अकेले हों, तब ऐसा व्यवहार मुझे बुरा और असभ्य मालूम होता है। इस तरह पुरुष का पुरुष के साथ या स्त्री का स्त्री के साथ बैठना भी जरूरी नहीं माना जायगा। सदाचार का यह नियम "मेहनत का काम न करनेवाले सफेदपोश मध्यमवर्ग का" नहीं है, सच पूछा जाय तो यही वर्ग इस नियम का कम पालन करता है। शहर के मजदूरों के बारे में तो निश्चयपूर्वक मै कुछ नहीं कह सकता, लेकिन मै यह मानता हूँ कि "गांव के किसान और कारीगर जिस ढंग से रहते और काम करते हैं" उनमें यह नियम अधिक पाला जाता है। (जनवरी १९४८)

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (स्त्री-पुरुष सम्बन्ध) पृ० ३४-३८

३—इस वाक्य में 'सदा अपवाद रहता ही है' के बदले में अब मै यह सुधार करना चाहता हूँ 'समाज उदारता से या निर्बलता से उन पुरुष के दूसरे महान गुणों को ध्यान मे रखकर उनके दोषों की उपेक्षा करता है। (जनवरी, १९४८)

४—'इसलिए अपवाद हो सकता है—यह वाक्य मै निकाल देना चाहूंगा। (जनवरी, १९४८)

"सच पूछा जाय तो स्त्री-पुरुष के बीच की जो मर्यादा है, उसका पालन स्त्री-स्त्री में या पुरुष-पुरुष में करना जरूरी नही, ऐसा भी नही कहा जा सकता। स्त्रियां स्त्रियो के साथ और पुरुष पुरुषो के साथ जान-बूझ कर आवश्यकता से अधिक स्पर्शादि करें तो वह दोष ही माना जायगा। यानी स्त्री-पुरुष के बीच जो मर्यादाएँ बताई गई हैं, वे दो विभिन्न जातियो के कारण ही नही बताई गई हैं। बात इतनी ही है कि दो विभिन्न जातियो के लिए उनका ज्यादा स्पष्टीकरण किया गया है—उन पर ज्यादा जोर दिया गया है।

"गांधीजी कहते हैं—"जो ब्रह्मचर्य स्त्री को देखते ही डर जाय, उसके स्पर्श से सौ कोस दूर रहे, वह ब्रह्मचर्य नही। साधना मे उसकी आवश्यकता होती है। लेकिन अगर वह स्वय साध्य बन जाय तो वह ब्रह्मचर्य नही।.... ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का, पुरुष का, पत्थर का, मिट्टी का स्पर्श एक-सा होना चाहिए।"

"इस भाषा को आवश्यक अध्याहारो के साथ समझें, तो यह मुझे ठीक मालूम होती है। अध्याहार ये हैं "जो ब्रह्मचर्य धर्म पैदा हो जाने पर भी स्त्री को देखते ही डर जाय ..." तथा "विवेक दृष्टि रखकर ब्रह्मचारी के लिए स्त्री का ...।" जिस तरह हम गीताजी के समदृष्टिवाले श्लोको मे इन शब्दो को अध्याहार के रूप मे समझते हैं, उसी तरह यहाँ भी समझना चाहिए। वहाँ जैसे समदृष्टि का अर्थ यह नही होता है कि गाय की तरह ब्राह्मण को भी बिनौले और घास खिलाया जाय, या ब्राह्मण की तरह गाय के लिए भी आसन बिछाया जाय बल्कि यह होता है कि हर प्राणी के प्रति समान वृत्ति रखते हुए भी हरएक की विवेकयुक्त सेवा करनी चाहिए, वैसे ही यहाँ भी हरएक का समान वृत्ति से परन्तु केवल विवेकयुक्त स्पर्श किया जाय। दो वर्ष की बाला और २५ वर्ष की युवती के स्पर्श के प्रति ब्रह्मचारी की समान वृत्ति होनी चाहिए। फिर भी दो वर्ष की बाला को वह गोद में बैठाये, उसके साथ बालोचित खेल खेले और आदत होने के कारण कभी-कभी उसे चूम भी ले, तो वह निर्दोष माना जायगा। लेकिन २५ वर्ष की युवती के साथ वह यह सब नही करेगा—नही कर सकता। अर्थात् सकट का कारण पैदा किए बिना नही करेगा, और उसे चूम लेने की तो सकट में भी कल्पना नही की जा सकती। यह भेद किस लिए? इसका कारण यह है कि दोनो के बारे मे एक-सा निर्विकारी होने पर भी किसके साथ क्या बर्ताव उचित है, यह उसकी आँखें जानती हैं, मन जानता है और बुद्धि जानती है। यही उसका विवेक है।

"कोई मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी हो, अपनी निर्विकारी अवस्था के बारे मे उसके मन में जरा भी शका न हो, वह छाती ठोक कर यह भी कह सँके कि कैसी भी परिस्थिति में उसके मन में विकार पैदा नही होगा, फिर भी यदि वह मनुष्य-समाज में साधारण जनता के लिए सदाचार के जो नियम आवश्यक मालूम हो उनकी मर्यादा में रहे, तो क्या इसे उसके ब्रह्मचर्य का दोष माना जायगा? और यदि ऐसे नियम पालने से वह अधूरा ब्रह्मचारी माना जाय तो इससे क्या? क्योकि वह कितना निर्विकार है, इसकी अपने सतोष के लिए परीक्षा करने या जगत के सामने यह सिद्ध कर दिखाने की उसकी जिम्मेदारी—पैदा हुआ धर्म—नही है। उसकी जिम्मेदारी या धर्म तो हर बात मे अपना आचरण ऐसा रखने की है, जिसका यदि अविवेकी पुरुष अनुकरण करे तो भी उससे समाज में दोषयुक्त आचरण का निर्माण न हो, उसका अनुकरण करने से समाज में रसिक स्त्री-पुरुषो की मनोदशा को पोषण न मिले। बल्कि सयमी स्त्री-पुरुषो की मनोदशा का निर्माण हो और उसे पोषण मिले।

"किन्ही मनुष्यो में बडी-बडी सख्याओ का मुह से गुणाकार कर देने की शक्ति होती है। यह उसकी विशेष सिद्धि मानी जायगी। फिर भी यदि वह शिक्षक बन जाय, तो उसे बालको को संख्यायें लिखकर और एक-एक अक लेकर गुणा की रीति इस तरह सिखानी होगी, मानो उसके पास ऐसी कोई सिद्धि है ही नही। यदि ऐसी सिद्धि प्राप्त करने की कोई विशेष रीति हो तो, वह बालको को बतानी चाहिए। यदि वह केवल जन्मसिद्ध शक्ति हो, तो किसी समय भले ही वह उसका उपयोग करे। लेकिन इससे गुणाकार करने की गणित की पद्धति का निषेध नहीं किया जा सकता, और बालको को सिखाने के लिए तो वह उसी पद्धति का उपयोग कर सकता है। उसी तरह जो दृढ ब्रह्मचारी हो, उसे ऐसे नियमो का शोधन व पालन करना चाहिए, जो समाज के प्रयत्नशील साधको और योगियों के लिए ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलने मे सहायक सिद्ध हो। मैं इसी दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार किया करता हूं।

"गांधीजी का एक दूसरा वाक्य यह है—"स्त्री के स्पर्श के मौके ढूंढे बिना अनायास ही स्त्री का स्पर्श करने का मौका आ पडे, तो ब्रह्मचारी उस स्पर्श से भागेगा नही।" इस वाक्य में भी 'कर्तव्य की दृष्टि से' 'धर्म समझ कर' जैसे शब्द जोड देने चाहिए, क्योकि यह निश्चय करना कठिन है कि क्या अनायास आ पडा है और क्या अनायास आ पडा मान लिया गया है। किसी क्रिया को करने की आदत डालने में वह

सहज या स्वाभाविक हो जाती है और फिर वह अनायास आ पडी मालूम होती है। उदाहरण के लिए, मुझे लेख लिखने की आदत है, इसलिए कई सपादक मुझसे लेखो की मांग किया करते। अब एक तरह से देखें तो यह कहा जा सकता है कि 'लेख लिखने का काम मुझ पर सहज ही आ पडता है। 'लेकिन हर समय वह धर्म के रूप मे आ पडता है', ऐसा कहना कठिन है। लेख लिखने का धर्म आ पडा है, ऐसा तो कुछ अश में भी तभी कहा जायगा, जब उस लेख के प्रकाशन की जिम्मेदारी मुझ पर हो अथवा कोई विचार मुझे इतना महत्त्वपूर्ण लगे कि उसे जनता को समझाना विवेक-बुद्धि से मुझे जरूरी मालूम होता हो। हम जानते हैं कि विवेक-बुद्धि का उपयोग करने मे भी कभी-कभी आत्म-वचना होती है। फिर भी यह तो माना ही जायगा कि यथासभव हमने विवेक-बुद्धि का उपयोग किया है। सारांश यह है कि अनायास आ पडनेवाला प्रत्येक कर्म, धर्म नही ठहरता, और इसलिए यह बचाव नही किया जा सकता कि कोई कर्म अनायास आ पडा, इसलिए किया गया। गीता मे यह अवश्य कहा गया है कि 'सहज कर्म कौन्तेय, सदोषमपि न त्यजेत्।' लेकिन जो धर्म न हो, उसे गीता ने कर्म ही नही माना है। वह विकर्म है, और इसलिए अपकर्म है। उसके लिए अनायास आ पडने का बहाना नही किया जा सकता। फिर गीता में 'सहज' का अर्थ 'अनायास आ पडनेवाला नही', बल्कि सह-ज—साथ उत्पन्न हुआ—स्वाभाविक, प्रकृति-धर्म के अनुसार है। कोई कर्म सहज हो और कर्त्तव्यरूप मे आ पडा हो, तो भी वह दोषयुक्त होने पर भी नही छोडा जा सकता।

"आप यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मचर्य की साधना बडी कठिन है। इसका अर्थ यही है कि हमारे जमाने मे करोडो मनुष्यो के लिए ब्रह्मचर्य असभव-सा है। एकाध के लिए वह स्वाभाविक हो सकता है, और अति-पुरुषार्थी के लिए प्रयत्न साध्य है। अत करोडो के लिए तो ऐसा ही धर्म बताना होगा, जिससे वे भोग में मर्यादा का पालन कर सकें, अति भोग की तरफ न बह जाय और मर्यादा-पालन करनेवालो की दिनोदिन सयम की ओर प्रगति हो। मुझे लगता है कि ब्रह्मचर्य की साधना के मार्ग का और मर्यादा के नियमो का इस तरह विचार होना चाहिए।

"इस बारे मे हम सिर्फ कल्पना के घोडे दौडाना चाहे, तब तो कही के कही पहुँच सकते हैं। यदि ऐसा कहे कि जो स्त्री के सहज या साधारण स्पर्श से भागे, वह ब्रह्मचारी नही, तो जो एकान्त-वास से या बलात्कारपूर्वक सभोग करना चाहनेवाले से डरकर भागे, उसे भी ब्रह्मचारी कैसे कहा जाय? और शकर की कथा मे बताया गया है वैसे क्रोध से कामदेव को जला देनेवाला भी ब्रह्मचारी कैसा? ब्रह्मचारी तो भागवत में नारायण की कथा मे बताये गये मनुष्य को कहा जा सकता है। यानी जो अप्सराओ से कह सके कि "तुम भले ही नाचो परन्तु मेरे तप के प्रभाव से मैं या तुम—दोनो मे से किसी मे भी विकार पैदा नही होगा[1]।" विकारी वातावरण मे स्वय तो निर्विकार रहे ही, पर जो विकारी के विकार को भी शान्त कर दे, वही सच्चा ब्रह्मचर्य है। ऐसे ब्रह्मचर्य को साध्य मानें, तो उसकी साधना क्या है? इसमें मुझे कोई शका नही कि वह साधना अनावश्यक सामान्य स्पर्श करते रहना या स्त्री पुरुष के साथ एकान्त-वास के प्रयोग करते रहना तो हो ही नही सकती। मुझे तो लगता है कि जिस स्पर्श की कोई जरूरत ही नही, ऐसा हर तरह का स्पर्श त्याज्य ही माना जाना चाहिए। न केवल स्त्री या पुरुष का, न केवल प्राणियो का, बल्कि जड पदार्थों का भी ऐसा स्पर्श त्याज्य है। स्पर्शेन्द्रिय सारी त्वचा पर फैली हुई है। वह चाहे जिस जगह से और चाहे जिसके स्पर्श से विकार पैदा कर सकती है। भोग मे उसकी सीमा अवश्य है। जहां जड या चेतन—किसी का भी लिपटकर स्पर्श करने की इच्छा होती है, वहां सूक्ष्म कामोपभोग है। इस तरह की स्पर्शेच्छा न हो और यदि हो तो उसके प्रति मन निर्विकार रहे—ऐसी शक्ति और दृष्टि प्राप्त करना ही ब्रह्मचर्य की साधना है। यह सच है कि इसमें अन्त मे भागने की आवश्यकता नही रहेगी, लेकिन आरम्भ मे या अन्त मे भी लिपटने की, स्पर्श को खोजने की या उसकी आदत डालने की जरूरत नही होनी चाहिये। सूक्ष्म स्पर्श अनायास नित्य के जीवन में होते ही रहते हैं। आदत के लिए, परीक्षा के लिए उतना लाभ काफी है। जिस प्रकार त्वचा को जीतने के लिए सर्दी या धूप मे बैठना, पचाग्नि मे तपना, कांटो पर सोना आदि साधना जड और तामसी है, उसी प्रकार इन स्पर्शों के सेवन की साधना रहे तो वह राजस और तामसी साधना है। इस रास्ते में गिरे तो बहुत हैं, परन्तु पार कौन लगे हैं, यह तो प्रभु ही जाने।

"इस बारे मे गाधीजी का अनुकरण करने का मोह छोड देना चाहिये। गान्धीजी की तो हर बात मे पराकाष्ठा होती है। उनके त्याग, दीर्घश्रम और व्रत-पालन का अनुकरण करके उन्हे कोई अपना जीवन-धर्म नही बनाता, लेकिन उनकी नजदीकी, स्त्रियो के साथ निःसंकोच व्यवहार और कुछ सूक्ष्म सुघडता की आदतो का अनुकरण करने का मोह होता है। परन्तु गान्धीजी को जिस बात मे जिस क्षण अपनी भूल मालूम हो जाती है, उनमे से उसी क्षण पीछे हटने और सारे जगत के सामने रखना [illegible]

होता। दूसरो को तो प्रतिष्ठा के और ऐसे दूसरे कितने ही विचार आते हैं।

"मुझे लगता है कि गीता के श्लोक को[1] आपने बहुत गलत तरीके से लागू किया है। आपके अर्थ के अनुसार तो सयम के सारे प्रयत्न मिथ्याचार मे शामिल हो जायेंगे। विवाह की इच्छा रखनेवाले एक वृद्ध पुरुष को मैंने इस श्लोक का ऐसा ही अर्थ करते सुना है। वे कहते थे कि जब मेरे मन में तीव्र विषय-वासना है, तब मेरे स्थूल सयम-पालने से क्या होगा? यह तो केवल मिथ्याचार ही होगा। इसलिए मुझे शादी कर लेनी चाहिए। 'अ' शराब के लिए तडपता रहता हो, 'ब' पराई स्त्री को कुदृष्टि से देखता हो, 'ग' का किसी की घडी चुरा लेने का मन करता हो, परन्तु वे अपनी इन्द्रियो को वश में रखते हो, तो क्या इसे मिथ्याचार माना जायगा? क्या उन्हें शराब का नशा, व्यभिचार, चोरी आदि करना चाहिये? विषयो का स्मरण हो सकता है, इच्छा भी हो सकती है, परन्तु इस कारण कर्मेन्द्रियो का सयम गलत है—ऐसा इस श्लोक का अर्थ करना मुझे ठीक नही लगता। जैसा कि मैंने ऊपर कहा—'गीता के अनुसार जो कर्म धर्म नही, वह कर्म ही नही है, वह विकर्म या अप-कर्म है।' विकर्म की तरफ चाहे जितना हमारा मन दौडे, हमे वह पागल भी बना दे, तो भी उससे कर्मेन्द्रियो को हमेशा हठपूर्वक रोकना ही चाहिये। परन्तु जो कर्म धर्म्य हो, उनमें इन्द्रियो का संयम करना चाहिये या नही, यह प्रश्न पैदा हो तो गीता कहती है कि 'मन मे उनकी आसक्ति रखना और स्थूल त्याग करना ठीक नही है। सबसे उत्तम होगा तो यह होगा कि आसक्ति न रखकर वे कर्म किये जाय। .'

" ' कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिन्हें करने की धर्म—सदाचार—इजाजत देता है, लेकिन वे अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप मे नही होते। ऐसे कर्मों के बारे में भी यह श्लोक लागू हो सकता है। उनमें आसक्ति हो तो धार्मिक ढग से उन्हे करते क्यो नही? लेकिन आसक्ति न हो तो कोई उन्हें करने को नही कहता। परन्तु आसक्ति है, इसलिए अधार्मिक ढग से उन्हे करना तो ठीक नही।

"लेकिन आसक्ति होने पर भी ये कर्म करने ही चाहिए, ऐसा कोई नही कहता। साधक आसक्ति के समय मे ही सयम का प्रयत्न करता है। वह इन्द्रियो को रोकता है, मन को मोडना चाहता है, पर सफल नही होता। उसका यह सयम कैसा माना जायगा? सफलता नही मिलती, इसलिए उतने समय के लिए हम भले ही उसे मिथ्याचार कहें। परन्तु यह उसी तरह मिथ्या है, जिस तरह गणित के किसी अटपटे सही सवाल को रीति से किये जाने पर भी कही नजर से भूल हो जाने के कारण गलत उत्तर आवे और हम उसे मिथ्या कहे। इसमे उत्तर गलत आया है, लेकिन रीति सही है। उसी तरह सयम का प्रयत्न भले निष्फल गया, लेकिन उसकी रीति तो सही है। वह मिथ्याचार है, इसका यह अर्थ नही कि वह सत्य-विरोधी आचार है, उसका अर्थ केवल इतना ही है कि वह उस क्षण के लिए गलत—मिथ्याचार है। उसे मिथ्याचार कहें तो, ऐसे सैकडो मिथ्याचार उचित माने जायगे[2]।" (२५-४-'३५)

३—"' '' धर्म की रक्षा के लिए व्यवहार की मर्यादा बांधना और पालना जरूरी तो है, लेकिन उस मर्यादा की भी कोई मर्यादा होनी चाहिए, वरना वह मर्यादा भी अधर्म बन जायेगी। उदाहरण के लिए खाने-पीने की चीजो, बर्तनो, कपडे-लत्ते वगैरह के बारे मे स्वच्छता का नियम बेशक होना चाहिये। परन्तु जब हम इस स्वच्छता को एक ऐसा धर्म बना डालें कि वह धर्म का अङ्ग बनने के बजाय धर्म की आत्मा का महत्व ग्रहण कर ले, तब स्वच्छता का वह नियम दोषरूप ही माना जायेगा। झाड की रक्षा के लिए बाड लगानी चाहिए। लेकिन यदि यह बाड ही झाड को निगल जाय, तो वह रक्षक के बदले भक्षक बन जायगी।

"घूघट या पर्दा की प्रथावाले समाज में भी मां, बहन या लडकी अपने पुत्र, भाई या पिता का पर्दा नहीं करती। अगर ऐसा हो तो वह अतिशयता ही कही जायेगी। फिर भी मा, बहन या लडकी के साथ भी एकान्त मे न रहा जाय और मर्यादा मे रहकर ही हिला-मिला जाय, इस सूचना में धर्म की मर्यादा बांध दी गई है। जो नियम मां, बहन या लडकी के साथ के बरताव में पाला जाय, वही दूसरी स्त्रियो के साथ के बरताव मे विशेष आग्रह से पाला जाय, यही धर्म है।

१—कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥३-६

—कर्मेन्द्रियो का सयम करके जो मूढ पुरुष मन मे विषयो का स्मरण किया करता है वह मिथ्याचारी कहा जाता है।

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (सयम की मर्यादा) पृ० ६६-[illegible]

"किसी स्त्री-पुरुष को एक-दूसरे के सम्बन्ध मे आना ही नही चाहिए, ऐसा धर्म नही बनाया जा सकता। यदि दोनो एक-दूसरे का मुख नही देखें, ऐसा धर्म बना कर स्त्री-पुरुष दोनो के लिए एक-सा लागू किया जाय, तो उससे भी सामाजिक जीवन अशक्य बन जायेगा। कोई सूरदास यदि यह देखकर अपनी आँखें फोड ले कि वह पापी बने बिना नही रहती, तो वह उसकी अपनी पसन्दगी मानी जायगी। लेकिन ऐसा नही कहा जा सकता कि शील और पवित्रता की रक्षा के लिये आँखें फोड लेना धर्म है। यदि कोई भक्त-सम्प्रदाय आँखें फोडने को धर्म बना ले, तो उसे रोकने का भी कर्त्तव्य पैदा हो सकता है। उसी तरह कोई निवृत्ति-मार्गी भक्त या साधक ब्रह्मचर्य पालने के लिए स्त्री-सहवास का आठो प्रकार से त्याग करें, तो वह उनकी स्वतत्र पसन्दगी मानी जायगी, और वह कभी जरूरी भी नही हो सकती है। लेकिन इसे यदि समाज का धर्म बना दिया जाय, तो उसमें नतिशयता का धर्म माना जायगा। उसी तरह यदि कोई सुन्दर स्त्री को यह अनुभव होता हो कि अपनी या पुरुषो की रक्षा के लिए, उसका मुह छिपाकर रखना ही सुरक्षित मार्ग है। और जिस कारण से वह स्वेच्छा से बुर्का पहने या घूघट करे, तो उसके खिलाफ शिकायत करने की शायद हमे जरूरत न रहे। लेकिन यह नही कहा जा सकता कि ऐसा करना उसका धर्म है।

" अगर यह अनुभव हो कि स्त्रियो के पर्दा करने से पुरुषो के विकार कुछ शान्त रहते हैं, तो भी उसे धर्म का नियम नही बनाया जा सकता।

"मैं जब यह कहता हूँ कि सिर्फ मन की पवित्रता पर आधार न रखकर स्थूल नियम भी पालने चाहिये, तो उसका यह मतलब नही है कि मैं स्थूल नियमो के पालन को मन की पवित्रता का स्थान देता हू[1]।" (७-१०-'३४)

४—" यह जरूर है कि मैं स्त्री-पुरुषो के परस्पर मिलने में मर्यादा-पालन की आवश्यकता मानता हूं। और जो मर्यादाएँ मैंने सुझाई हैं, वे मेरे खयाल से स्त्री-पुरुष के साथ मिलकर काम करने मे बाधा नही डालती। मैं यह सोच भी नही सकता कि साथ मिलकर काम करने के लिए एक-दूसरे के साथ एकांत में रहने, एकांत मे गुप्त बातें करने या जान-बूझ कर एक-दूसरे के अङ्गो को छूने की जरूरत क्यो पैदा होनी चाहिए। एक खास उम्र में केवल पुरुष-पुरुष का और स्त्री स्त्री का ऐसा सहवास भी अनिष्ट होता है, तब यदि स्त्री-पुरुष का सहवास ज्यादा अनिष्ट सिद्ध हो, तो कोई अचरज की बात नही।

"कुछ नवयुवक इस बात का विश्वास दिलाते हैं कि ३० वर्ष की भरी जवानी में होते हुए और जवान लडकियो के साथ आजादी से मिलते हुए भी उन्होने पवित्र जीवन बिताया है और मेरी बताई हुई मर्यादाओ के पालन की जरूरत महसूस नही की। उनका जीवन पवित्र रहा है, यह उनकी बात मैं सच मान लेता हू और उन्हे बधाई देता हू। मैं चाहता हू कि उनकी यही स्थिति जीवन के अन्त तक बनी रहे। लेकिन मैं उन्हे सावधान कर देता हू कि जीवन के इतने ही अनुभव से वे फूल कर कुप्पा न हो जाय। यह तो वैसी ही बात हुई, जैसे कोई कहे कि हम २० वर्ष तक आग से जले नही, इसलिए आग से जलने का डर झूठा है।

"बहुत से नवयुवको को शायद यह पता नही होगा कि पुरुष के जीवन मे—और खासकरके महत्त्वाकांक्षी पुरुष के जीवन मे—नीचे गिरने का समय ३५-४० की उम्र के बाद आरम्भ होता है। डॉक्टरो, मनोवैज्ञानिको और वृद्धो का अनुभव है कि पिछले २५ वर्षो के आंकडे यह बताते हैं कि व्यभिचारी जीवन बितानेवाले पुरुषो का बडा हिस्सा ३५-४० की उम्र पार कर चुकनेवालो का रहा है। इसके पीछे कारण भी रहता है। इस उम्र तक उत्साही नवयुवको के हृदय मे विषय-भोग की अपेक्षा छोटी-मोटी अभिलाषायें पूरी करने के मनोरथ ज्यादा बलवान होते हैं। भोग-विलास का इस उम्र में प्रमुख स्थान नही होता। इसलिए वे इस इच्छा को दबा भी देते हैं। इस उम्र मे भी जो युवा भोगो के पीछे पडा हो, वह रोगी कहा जा सकता है। इस उम्र के बाद उसके जीवन मे थोडी स्थिरता आती है, वह दौड-धूप और चिन्ताओ से मुक्त हो जाता है, शायद कुछ फुरसतवाला, स्वतत्र और पहले की अपेक्षा खाने-पीने के ज्यादा [illegible] सामर्थ्यवाला हो जाता है। उसकी महत्त्वाकांक्षायें ठंडी पड जाती हैं, और अगर उसका जीवन प्रपच मे बीता हो तो वह थोडा बहुत धूर्त भी बन जाता है। इसके साथ यदि उसकी सदाचार और नैतिकता की भावना शिथिल हो, तो उसके गिरने की संभावना बढ जाती है। इसलिए यह कहा जाता है कि व्यभिचारी पुरुषो का बडा हिस्सा इस उम्र को पार कर चुकनेवाला होता है।

"इस पर से यह कहा जा सकता है कि ३० वर्ष तक [illegible] पालने की बात [illegible]। लेकिन [illegible]

१—[illegible]

किया गया विषय-भोग निर्दोष है। यह तो वैसा ही होगा जैसे यह कहना कि आमतौर पर 'केन्सर' ३५-४० की उम्र के बाद होता है, इसलिए इस उम्र तक यह रोग उत्पन्न करनेवाली चीजें छूट से खाई जा सकती हैं[१]।" (२१-१०-'३४)

५—"हिंसा न करनी जतकी, परत्रिया सगको त्याग, मांस न खावत, मद्य को पीवत नहीं वड़भाग।
विधवा को स्पर्शत नहीं, करत न आत्मघात, चोरी न करनी काहुकी, कलक न कोउको लगात।
निन्दत नही कोउ देवको, बिन खपतो नहीं खात, विमुख जीव के वदन से कथा सुनी नहीं जात।
यह विधि धर्म सह नियम में, वर्ते सब हरिदास, भजे श्री सहजानन्द प्रभु, छोडी और सब आस।
रही एकादश नियम मे करो श्रीहरिपद प्रीत, प्रेमानन्द के धाम में, जाओ नि शक जग जीत।"

"—यह स्वामिनारायण-सम्प्रदाय की साय-प्रार्थना के नित्य पाठ का एक हिस्सा है। मेरे पिताजी जीवन मे इसे अक्षरश पालने और और दूसरो से पलवाने का आग्रह रखते थे। बम्बई शहर में रहकर भी वे स्वय इन नियमो का इतनी सख्ती से पालन करते थे कि मुलेश्वर तीसरे भोइवाडे के सकडे और भीड-भडक्केवाले रास्तो पर भी किसी विधवा का स्पर्श न हो जाय, इसका ध्यान रखते थे। और कभी स्पर्श हो जाता, तो एक बार का उपवास कर लेते थे।

"एकान्त से बचने के बारे में उन्होने हमे जो शिक्षा दी थी, उसका एक किस्सा यहाँ कह दूँ। एक बार मेरी छोटी बहन (१२-१३ साल की) एक कमरे में कघी कर रही थी। उस बीच कोई परिचित गृहस्थ उस कमरे में दाखिल हुए। कमरा खुला था। उसकी बनावट ऐसी थी कि आते-जाते किसी की भी नजर अन्दर पड जाती थी। मेरी बहन उनके आने पर कमरे से उठकर चली नही गई और कघी करती रही। मेरे पिताजी ने दूसरे कमरे में से यह सब देखा। उन्होने बहन को पास बुलाकर 'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा' '' सहजानन्द स्वामी की आज्ञा समझाई। फिर कहा कि इस आज्ञा का भङ्ग हुआ है, इसलिए प्रायश्चित्त के रूप में तुम्हे एक दिन का उपवास करना चाहिए।

"स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध' नाम के मेरे लेख पर कुछ नवयुवक और प्रौढ युवक भी चिढ गये थे.... जो मर्यादा-धर्म मे विश्वास रखते हैं, उन मे से भी कुछ को ऐसा लगेगा कि मेरे पिता का यह बरताव मर्यादा की भी मर्यादा को लांघ गया था। कुछ यह भी कहेंगे कि इस तरह पाला गया सदाचार वास्तव में सदाचार ही नही है, इस तरह पाला गया ब्रह्मचर्य वास्तव में ब्रह्मचर्य ही नही है। लेकिन यह राय भी कोई नई नहीं है। स्थूल नियम-पालन का यह विरोध स्मृतियो जितना ही पुराना है।

".... .. 'एक बार एक वैरागी साधु ने सहजानन्द स्वामी के साथ चर्चा करते हुए कहा "स्वामिनारायण, आपने सब कुछ तो अच्छा किया, लेकिन एक बात बहुत बुरी की। आपने स्त्री-पुरुष के अलग-अलग वाडे बनाकर ब्रह्म में भेद डाल दिया।" सहजानन्द स्वामी ने उत्तर दिया "बाबाजी, यह भेद कोई रहनेवाला थोडे ही है। मैं एक विशेष घिनवाला आगया हू, इसलिए मैंने यह भेद कर डाला है। मेरी थोडी-बहुत घिन इन लोगो (शिष्यो) को लगी है। वह जब तक टिकेगी, तब तक यह भेद रहेगा। फिर तो आपका ब्रह्म पुन एक ही हो जाने वाला है।"

".. .. .... ये कडे नियम ससारी समाज के लिए न तो बनाये गये और न सोचे गये थे। परन्तु यदि नियमो को 'घिन' का नाम दिया जाय, तो कहा जा सकता है कि ससारी समाज में भी कुछ मर्यादारूपी घिन की छूत उन्होंने जरूर लगाई थी। यह छूत मेरे पिताजी को विरासत में मिली थी। उन्होंने विचारपूर्वक उसका पोषण किया था और हमें भी वह छूत लगाने की कोशिश की थी। मेरी शक्ति के अनुसार मुझमें यह 'घिन' टिकी रही है, और मैं मानता हू कि उसके टिके रहने में मेरा अपना और समाज का हित ही हुआ है।

"घिन' शब्द का उपयोग तो सहजानन्द स्वामी ने व्याजोक्ति से किया था। सच पूछा जाय तो उनके मन में स्त्री-जाति के लिए कभी अनादर नहीं रहा, इतना ही नहीं, वे व्यक्तिगत रूप में स्त्रियो के साथ कभी घृणा का बरताव नहीं करते थे। और स्त्रियों की उन्नति के लिए उन्होंने ऐसी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ चलाई और सस्थाएँ कायम की थी, जिन्हें उस जमाने की दृष्टि से नवीन कहा जा सकता था[२]।" (जनवरी, १९३७)

१—स्त्री-पुरुष मर्यादा (अभी इतना ही) पृ० ४६-४८

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (प्रस्तावना) पृ० ४-६

६—" स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध मे एकान्त, शरीर-स्पर्श (सजातीय या विजातीय नौजवानो या किशोरो का एक-दूसरे से लिपटना, एक दूसरेपर गिरना या दूसरी तरह से लाडभरे नखरे करना), काम को भडकानेवाले दृश्यो, नाटको, पुस्तको, सगीत आदि मे साथ-साथ भाग लेना, भाई-वहन-मां-वाप जैसे कौटुम्बिक सबध न होने पर भी वैसे सम्बन्ध कायम करने की वात मन को समझा कर, सगे भाई-वहन और मां-वाप के साथ भी न किये हो, ऐसे लाड या घनिष्ठता (intimacy) की छूट लेना—आदि मलिनता या खतरे के स्थान माने जा सकते हैं। यदि ऐसा आग्रह न रहे कि सगे भाई-वहिन-मां-वाप द्वारा भी उनके साथ के व्यवहार में भी अमुक स्वतत्रता तो कभी ली ही नही जा सकती, हमारा शरीर एक पवित्र तीर्थ (गगाजल या मत्रपूत जल) या पवित्र भूमि है और आपद्धर्म के सिवा जैसे पवित्र तीर्थ या क्षेत्र को थूक, मल-मूत्र या पांव के स्पर्श से अपवित्र नही किया जा सकता या पवित्र वनकर ही स्पर्श किया जा सकता है, वैसे ही अपने शरीर को भी—जिसके साथ विवाह सम्बन्ध वांधा हो ऐसे पति या पत्नी के सिवा—पवित्र रखने का आग्रह न हो, और विषय-भोग की तीव्र इच्छा होते हुए भी किसी कारण से विवाह करने का साहस न होता हो, तो कभी न कभी, युवावस्था बीत जाने पर भी, मन के मलिन होने का डर बना रहता है[1]।" (१४-१-'४५)

७—"आपस मे कोई नाता-रिश्ता न रखनेवाले स्त्री-पुरुषो के वीच कभी-कभी एक दूसरे के "धर्म के भाई-वहन" का सम्बन्ध वांधने का रिवाज पुराने समय से चला आया है। ऐसे नाते पवित्र वुद्धि से जोडे जाते हैं और कुलीनता के खयाल से अन्त तक निभाये जाते हैं। इनमें स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमो को शिथिल करने का जरा भी इरादा नही होता। हो भी नही सकता, क्योकि मर्यादा के जो नियम वताये गये हैं, वे वही हैं, जिन्हे सगे भाई-वहन, मां-वेटे या वाप-वेटी के वीच भी पालना जरूरी होता है।

"परन्तु कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि मर्यादा के पालन मे पैदा हुई शिथिलता का वचाव करने के लिए भी ऐसा सम्बन्ध वताया जाता है। दो एकसी आयुवाले स्त्री-पुरुष के वीच मैत्री होती है। और उसमे से वे खूव छूट से एक-दूसरे के साथ हिलने-मिलने लगते हैं। यह छूट समाज को खटकती है, या खटकने का उन्हें डर लगता है। यह छूट उचित नही होती, फिर भी दोनो उसे छोडना नही चाहते। ऐसे मौके पर धर्म के भाई-वहन होने की दलील दी जाती है।

"सच पूछा जाय तो ऐसी स्थिति मे यह दलील केवल वहाना ही होती है। क्योकि वे अपने सगे भाई-वहन के साथ या सगे लडके-लडकी के साथ जैसा छूट का व्यवहार नही रखते, वैसा व्यवहार इन माने हुऐ भाई-वहन, मा-वेटे या वाप-वेटी के साथ रखते हैं।

"धर्म का नाता जोडनेवाले को यह सोचना चाहिये कि यह नाता धर्म के नाम पर जोडना है। अर्थात् उसमें परमार्थ की, पवित्रता की, कुलीनता की, गभीरता की वुद्धि होनी चाहिए। यह सवध एकांत मे गप्पे मारने की, साथ में घूमने-फिरने की, पीठ या सिर पर हाथ रखते रहने की, एक-दूसरे के साथ सटकर वैठने की या कारण-अकारण किसी न किसी वहाने से एक दूसरे को स्पर्श करने की छूट लेने के लिए नही होना चाहिये। यह एक दूसरे की आवरू रखने और वढाने के लिए होना चाहिये, और समाज मे उसका ऐसा परिणाम आना ही चाहिये। उसमे निन्दा के लिये कोई गुजाइश ही नही आनी चाहिये[2]।" (मई १९४५)

८—" एक-दूसरे की सहायता करने में शरीर का स्पर्श, एकात वास आदि की सभावना रहती ही है। ' उनका धीरे-धीरे वढनेवाला परिचय स्त्री-पुरुष-मर्यादा के नियमो का पालन ढीला करा देता है। दोनो एक दूसरे को भाई-वहन या 'धर्म के भाई-वहन' कहते हैं, परन्तु सगे भाई-वहिन के वीच भी न पाई जानेवाली निकटता और नि सकोचता अनुभव करते हैं। उनके उठने-वैठने, वातचीत करने वगैरह मे शिष्टाचार जैसी कोई चीज नही रह जाती। यह व्यवहार आसपास के लोगो की निगाह मे आता है। उन्हे इसमें सच्ची या झूठी विकार की शका होती है। मनुष्य-स्वभाव के अनुसार वे अपनी शका मुंह पर जाहिर नही करते या उस व्यवहार के वारे में रुचि अरुचि मुंह से ही प्रकट नही करते। लेकिन अन्दर ही अन्दर उनकी निन्दा करते हैं और लोगो मे वातें फैलाते हैं। अन्त में वे दोनो विकृतरूप में अपनी निन्दा होती अनुभव करते हैं। विवाहित या अविवाहित दोनो को यह वात ध्यान में रखनी चाहिये कि शुद्ध व्यवहार का विश्वास उचित मर्यादाओ के पालन से ही कराया जा सकता है, मनमाने व्यवहार से नही। जो लोग मर्यादा-पालन में विश्वास नही रखते, वे खुद ही लोक-निन्दा को प्रोत्साहन देते हैं। उन्हे लोक-निन्दा से चिढने और गुस्सा करने का कोई अधिकार नही है[3]।' (मई, १९४५)

१—स्त्री-पुरुष-मर्यादा (संस्थाओं का अनुशासन) पृ० १५५-१५६

२—वही (धर्म के भाई-बहन) पृ० १६७-१६८

३—वही (बुढ़ापे में विवाह) पृ० १७०-१७३

६—"···जो स्त्री यह चाहती है कि उसकी पवित्रता कभी खतरे में न पडे, उसे ज्यादा सचेत रहने की जरूरत है।

"उसे पहले यह खयाल या घमण्ड तो छोड ही देना चाहिए कि सती-धर्म या पतिव्रत-धर्म के उसके सस्कार जितने वलवान हैं कि उनके कारण वह किसी पुरुष की ओर आकर्षित होगी ही नही। यह संस्कार वडे महत्त्व के हैं। उनका वल भी वहुत होता है। फिर भी इस वल को इतना महत्त्व नही दिया जाना चाहिये, जिससे कोई स्त्री यह सोचने लगे कि पुरुपो के सहवास या ससर्ग में किसी तरह की मर्यादा का पालन न करने पर भी वह सुरक्षित है। इसलिए यह मानते हुए भी कि इन सस्कारो का वल वहुत वडा है, स्थूल मर्यादा के पालन में कभी लापरवाही नहीं करनी चाहिए[1]।" (३०-९-'३४)

२४-ब्रह्मचर्य और उपवास

महात्मा गांधी ने ब्रह्मचर्य के साधनो मे उपवास को भी गिनाया है (देखिए पृ० ९३ पेरा ४)। उनके अनुसार इन्द्रिय-दमन के उद्देश्य से इच्छापूर्वक किये हुए उपवास से इन्द्रिय को कावू मे लाने मे वहुत मदद मिलती है। गीता में कहा है—'निराहार रहनेवाले के विकार दव जाते हैं, पर आत्म-दर्शन के बिना आसक्ति नही जाती।' महात्मा गांधी इस पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं· "गीता के श्लोक का अर्थ यह नही है कि काम को जीतने में निराहार व्रत से कोई सहायता नही मिलती। उसका मतलव तो यह है कि निराहार रहते हुए भी कभी थको नही और ऐसी दृढता तथा लग्न से ही आत्म-दर्शन हो सकता है। वह हो जाने पर आसक्ति भी चली जायगी[2]।"

प्रश्न हो सकता है कि जिस उपवास को महात्मा गांधी ने अपने अनुभव से ब्रह्मचर्य-पालन का अनिवार्य अङ्ग कहा है, उसको भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए बताये गये नियमो मे स्थान क्यो नही दिया ? इसका क्या कारण है ? यह पहले वताया जा चुका है कि वाडो का अर्थ है—ब्रह्मचारी के शील—आचार—व्यवहार की तालिका। उपवास ब्रह्मचारी का प्रति रोज का शील—आचार—व्यवहार नही। ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए उपवास की कम आवश्यकता नही, पर वह रोज का शील—धर्म नही। इसलिए उसका उल्लेख वाडो के प्रकरण में नही आया।

ब्रह्मचर्य की साधना करते हुए जब कभी भी आवश्यक हो, उपवास करना चाहिए। स्थानाङ्ग मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए आहार छोडने की वात का उल्लेख आया है[3]।

निशीथ चूर्णि में लिखा है "यदि निवृत्त आहार, निर्वल आहार, ऊनोदरी आदि से विकार की शान्ति न हो तो उपवास यावत् पट् मासिक तप करे। पारण में निर्वल आहार ले। उस से भी उपशम न हो तो कायोत्सर्ग करे"—··· तह वि ण णाति चउत्थादि-जाव-छम्मासियं तव करेति, पारणाए णिव्वलमाहारमाहारेति। जइ उवसमति तो सुदर। अह णोवसमति "ताहे" उद्धट्ठाण महत करेति कायोत्सर्ग-मित्यर्थः[4]।

इस तरह पाठक देखेंगे कि एक दो दिन के उपवास को ही नही, पर पट् मासिक जैसे दीर्घ उपवास को भी ब्रह्मचर्य की उपासना मे स्थान है।

ऐसा उल्लेख भी प्राप्त है कि यदि सारे उपाय कर चुकने के वाद भी ब्रह्मचारी अपने विकारो को शान्त करने मे समर्थ न हो, तो वह जीवन भर के लिए आहार छोड दे, पर स्त्री मे मन न करे

उव्वाहिज्जमाणे गामधम्मेहि अवि निव्वलासए अवि ओमोयरियं कुज्जा अवि उड्ढ ठाण ठाइज्जा अवि गामाणुगाम दुइज्जिज्जा अवि आहार वुच्छिदिज्जा अवि चए इत्थीसु मण।

जैन धर्म के अनुसार अनशन वारह तपो मे से एक तप है। अवशेष तप इस प्रकार हैं ऊनोदरिका, भिक्षाचर्या, रस-परित्याग, काय-

---

१—स्त्री-पुरुप-मर्यादा (शील की रक्षा) पृ० ४१

२—अनीति की राह पर पृ० १३८

३—ठाणाङ्ग सू० ५०० छहि ठाणेहि समणे णिग्गथे आहार वोच्छिदमाणे णाइक्कमइ त० आतके उवसग्गे तितिक्खणे वभचेरगुत्तीए पाणिदया तव हेउ सरीरवुच्छोयणट्ठाए

४—निशीथसूत्रम् सू० १ भाष्यगाथा ५७४ की चूर्णि

क्लेश, प्रतिसलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। जैन धर्म में इन सब तपो को ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक माना है[1]।

२५-रामनाम और ब्रह्मचर्य

महात्मा गांधी ने रामनाम, प्रार्थना, उपासना, ईश्वर मे विश्वास—इनको ब्रह्मचर्य-रक्षा की साधना मे अनन्य स्थान दिया है। वे लिखते हैं "ब्रह्मचर्य की रक्षा के जो नियम माने जाते हैं, वे तो खेल ही हैं। सच्ची और अमर रक्षा तो रामनाम है[2]।" "विषय-वासना को जीतने का रामवाण उपाय तो रामनाम या ऐसा कोई मत्र है। ' जिसकी जैसी भावना हो, वैसे ही मत्र का वह जप करे।' ' हम जो मत्र अपने लिए चुनें, उसमें हमे तल्लीन हो जाना चाहिए[3]।" "जब तुम्हारे विकार तुम पर हावी होना चाहे, तब तुम घुटनो के बल झुक कर भगवान से मदद की प्रार्थना करो[4]।" "विकाररूपी मल की शुद्धि के लिए हार्दिक उपासना एक जीवन-जडी है[5]।" "जो • ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते हैं, वे अपने प्रयत्न के साथ-साथ ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले होगे तो उनके निराश होने का कोई कारण नही[6]।" गाधीजी के अनुसार राम कहिए अथवा ईश्वर "शुद्ध चैतन्य है[7]।" "वह पहले था, आज भी मौजूद है, आगे भी रहेगा। न कभी पैदा हुआ न किसी ने उसे बनाया[8]"।

जैन दर्शन में रामनाम के स्थान में नवकार मत्र है। नवकार मन्त्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह चौदह पूर्व अर्थात् सारे जैन-वाङ्मय का सार है। इस मन्त्र के सम्बन्ध में प्राचीन ऋषियो ने कहा है—"यह सर्व पाप का प्रणाश करनेवाला है। सर्व मङ्गलो में प्रधान मङ्गल है।"

एसो पच-नमोक्कारो, सव्व-पाव-प्पणासणो।
मगलाणच सव्वेसि, पढम हवइ मगल॥

यह नवकार मन्त्र इस प्रकार है "नमो अरिहताण, नमो सिद्धाण, नमो आयरियाण, नमो उवज्झायाण, नमो लोए सव्व-साहूण।"

इस मन्त्र में पहले पद मे अरिहतो को नमस्कार किया जाता है। जिन्होने आत्मा के राग-द्वेष आदि समस्त शत्रुओ का हनन कर इस देह मे ही आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लिया है, उन्हें अरिहत कहते हैं। अरिहतो के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे स्वय सबुद्ध, पुरुषोत्तम, लोकप्रदीप, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, सयमी जीवन के दाता, बोधिदाता, धर्मसारथी, अप्रतिहत श्रेष्ठ ज्ञानदर्शन के धारक, जिन, देह होते हुए भी मुक्त एव सर्वज्ञ होते हैं। वे सारे भय स्थानो को जीत चुके होते हैं।

दूसरे पद मे सिद्धो को नमस्कार किया जाता है। जो देह से मुक्त हो, जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिए छुटकारा पा चुके हैं और मोक्ष को पहुच चुके हैं, उन्हे सिद्ध कहते हैं। सिद्ध अशरीर—"शरीर-रहित होते हैं। वे चैतन्यघन और केवलज्ञान-केवलदर्शन से सयुक्त होते हैं। साकार

१—तत्त्वार्थसूत्र ९ १९ भाष्य

(क) अस्मात्षड्विधादपि बाह्यात्तपस सङ्गत्यागशरीरलाघवेन्द्रियविजयसयमरक्षणकर्मनिर्जरा भवन्ति।

(ख) निशीथ भाष्य गाथा ५७४

णिवितिगणिब्बले ओमे, तह उद्धट्ठाणमेव उब्भामे।
वेयावच्चा हिंडण, मडलि कप्पट्ठियाहरण॥

२—देखिए पीछे पृ० ९७

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२

४—रामनाम पृ० ६

५—गांधी वाणी पृ० ७४

६—देखिए पीछे पृ० ९३

७—रामनाम पृ० २३

८—वही पृ० २२

और अनाकार उपयोग उनका लक्षण होता है। सिद्ध केवलज्ञान से सयुक्त होने से सर्वभाव, गुणपर्याय को जानते हैं और अपनी अनन्त केवल दृष्टि से सर्वभाव देखते हैं। न मनुष्य के ऐसा सुख होता है और न सब देवो के, जैसा कि अव्याबाध गुण को प्राप्त सिद्धो के होता है। सिद्धों का सुख अनुपम होता है। उनकी तुलना नही हो सकती। निर्वाण-प्राप्त सिद्ध सदा काल तृप्त होते हैं। वे शाश्वत सुख को प्राप्त कर अव्याबाधित सुखी रखते हैं। सर्व कार्य सिद्ध होने से वे सिद्ध हैं, सर्व तत्त्व के पारगामी होने से बुद्ध हैं, ससार-समुद्र को पार कर चुके होने से पारगत हैं, हमेशा सिद्ध रहेंगे इससे परपरागत हैं। वे सब दुखो को छेद चुके होते हैं। वे जन्म, जरा और मरण के बन्धन से विमुक्त होते हैं। वे अव्याबाध सुख का अनुभव करते हैं और शाश्वत सिद्ध होते हैं। अनन्त सुख को प्राप्त हुये वे अनन्त सुखी वर्तमान अनागत सभी काल में वैसे ही सुखी रहते हैं[1]।"

तीसरे पद में आचार्य की वन्दना की जाती है। जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण दें, उन्हें आचार्य कहते हैं।

चौथे पद में उपाध्यायो को नमस्कार किया जाता है। जो अज्ञान-अन्धकार में भटकते हुए प्राणियो को विवेक—विज्ञान देते हैं—शास्त्र-ज्ञान देते, उन्हें उपाध्याय कहते हैं।

जो पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियो की सम्यक् आराधना करते हैं, उन्हें साधु कहते हैं। पाँचवें पद में ऐसे साधुओ को नमस्कार किया जाता है।

इसके उपरान्त चतुर्विंशतिस्तव मे सिद्धो की स्तुति, वन्दना और नमस्कार किया जाता है

> एव मए अभिथुआ, विहुय-रयमला पहीण-जरमरणा।
> चउवीस पि जिणवरा, तित्थयरा मे पसीयतु॥
> कित्तिय-वंदिय-महिया, जे ए लोगस्स उत्तमा सिद्धा।
> आरुग्ग-बोहिलाभ, समाहि-वरमुत्तम दितु॥
> चदेसु निम्मलयरा, आइच्चेसु अहिय पयासरा।
> सागरवरगभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसतु॥

—जिनकी मैंने स्तुति की है, जो कर्मरूप धूल के मल से रहित हैं, जो जरा-मरण दोनो से सर्वथा मुक्त हैं, वे अन्त शत्रुओ पर विजय-पानेवाले धर्मप्रवर्तक चौबीसो तीर्थंकर मुझ पर प्रसन्न हो।

—जिनकी इन्द्रादि देवो तथा मनुष्यो ने स्तुति की है, वन्दना की है, पूजा—अर्चा की है, और जो अखिल ससार में सबसे उत्तम हैं, वे सिद्ध—तीर्थंकर भगवान मुझे आरोग्य—सिद्धत्व अर्थात् आत्म-शान्ति, बोधि—सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय का पूर्ण लाभ, तथा उत्तम समाधि प्रदान करें।

—जो अनेक कोटाकोटि चन्द्रमाओ से भी विशेष निर्मल हैं, जो सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान हैं, जो स्वयभूरमण जैसे महासमुद्र के समान गम्भीर हैं, वे सिद्ध भगवान मुझे सिद्धि अर्पण करें, अर्थात् उनके आलम्बन से मुझे सिद्धि—मोक्ष प्राप्त हो।

इस तरह जैन धर्म में भी साधक के लिए आवश्यक है कि वह रोज मन्त्र-स्मरण, प्रार्थना, उपासना करे।

२६-ब्रह्मचर्य और ध्येयवाद

सत विनोबा ने दुष्कर ब्रह्मचर्य सुकर कैसे हो जाता है—इस पर एक विचार, बार-बार दिया है, वह इस प्रकार है

"अपने अनुभव से मेरा यह मत स्थिर हुआ कि यदि आजीवन ब्रह्मचर्य रखना है, तो ब्रह्मचर्य की कल्पना अभावात्मक (Negative) नहीं होनी चाहिए। विषय-सेवन मत करो, कहना अभावात्मक आज्ञा है, इससे काम नहीं बनता। सब इन्द्रियो की शक्ति को आत्मा में खर्च करो, ऐसी भावात्मक (Positive) आज्ञा की आवश्यकता है। ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे, यह मत करो, इतना कहकर काम नहीं बनता। यह करो, कहना चाहिए। 'ब्रह्म' अर्थात् कोई भी बृहत् कल्पना। कोई मनुष्य अपने बच्चे की सेवा उसे परमात्मस्वरूप समझ कर करता है और वह इच्छा रखता है कि उसका लडका सत्पुरुष निकले, तो वह पुत्र ही उसका ब्रह्म हो जाता है। उस बच्चे के निमित्त से उसका ब्रह्मचर्य

१—ओपपातिक सू० १७८-१७६

आसान होगा। .. इसी प्रकार ब्रह्मचारी मनुष्य का जीवन तप से—सयम से—ओतप्रोत रहता है। पर उसके सामने रहनेवाली विशाल कल्पना के हिसाव से सारा सयम उसे अल्प ही जान पडता है। इन्द्रिय-निग्रह मैं करता हूँ, ऐसा कर्तरि प्रयोग न रहकर इन्द्रिय-निग्रह किया जाता है, यह कर्मणि प्रयोग वच जाता है। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-पालन करनेवाले की आंखो के सामने कोई विशाल कल्पना होनी चाहिए, तभी ब्रह्मचर्य आसान होता है। ब्रह्मचर्य को मैं विशाल ध्येयवाद और तदर्थ सयमाचरण कहता हू[1]।"

श्री मशरूवाला इसी विचार को और भी स्पष्ट रूप से रख पाये हैं

" जॉन डाल्टन के बुढापे मे किसी ने उनसे पूछा—'आप किस उद्देश्य से अविवाहित रहे?' वे इस प्रश्न से विचार में पड गये। थोडी देर वाद वोले—'भाई, आज ही आपने यह प्रश्न सुझाया है। मेरा जीवन विज्ञान के अध्ययन मे कैसे वीत गया, इसका मुझे पता ही नही चला। मेरे मन मे यह विचार ही कभी पैदा नही हुआ कि विवाह किया जाय या न किया जाय, अथवा मैं विवाहित हू या अविवाहित।'

"हमारे पुराणो मे अत्रि ऋषि और सती अनसूया की कथा भी ऐसी ही आदर्शवाली है। वे विवाहित दम्पति थे, लेकिन ऋषि का यौवनकाल अपने अभ्यास में और सती की युवावस्था ऋषि के लिए सुविधाएं जुटाने और काम-काज मे ऐसी वीत गई कि बुढापा कब आ गया, इसका उन्हें पता नही चला। पुराणकार कहते हैं कि एक वार अत्रि ऋषि अपने अध्ययन मे लगे हुये थे, इतने मे दिये मे तेल खतम हो गया। उन्होने तेल मांगने की इच्छा से ऊपर देखा, तो थकावट के कारण अनसूया की आंख लगी मालूम हुई। अत्रि ने जब अनसूया की तरफ ध्यान से देखा तो वे बूढी जान पडी। इसलिए उन्होने अपनी दाढी की तरफ देखा, तो वह भी सफेद दिखाई दी। तारुण्य-अवस्था कब चली गई, इसका अत्रि को पता ही नही चला। इस कथा में काव्य की अतिशयोक्ति जरूर होगी, लेकिन ब्रह्मचारी के लिए अभ्यासपूर्ण जीवन विताने का एक उत्तम आदर्श वताया गया है, और डाल्टन की अनुभव वाणी का यह कथा समर्थन करती है[2]।"

श्री विनोवाजी और मशरूवाला ने जो विचार दिया है, वह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र मे बहुत पुराना है। निशीथ सूत्र की चूर्णि में निम्न कथा मिलती है, जो इस विषय को स्वय स्पष्ट कर देती है

"एक गृहस्थ लडकी निठल्ली और सुखपूर्वक रहती थी। वह तैल-मर्दन, उवटन, स्नान, विलेपन आदि शारीरिक शृगार में परायण थी। वनाव-शृगार के कारण उसके मन मे मोह जागृत हुआ। वह अपनी धाय मां से वोली—"मेरे लिये कोई पुरुष ले आवो।" उस धाय मां ने उसकी मां को जाकर कहा। मां ने उसके पिता को कहा। पिता ने अपनी पुत्री को वुला कर कहा—"पुत्री! ये दासियां अपना सव धन अपहरण करके ले जाती हैं, अत तुम स्वय कोठे की देखरेख करो। उसने कहा—ठीक, और कोठे के देख-रेख का काम करने लगी। वह किसी को भोजन देती, किसी को उसकी तनख्वाह वृत्ति और किसी को चावल देती। कितना कोठार मे आया है, कितना व्यय हुआ है, इस प्रकार दिनभर काम मे व्यतीत हो जाता। वह दिनभर के काम से खूब थक जाती और अपनी शय्या पर आकर सो जाती। एक दिन धाय मां ने कहा— "बेटी पुरुष लाऊं?" वह वोली—"मुझे पुरुष से क्या काम? अव मुझे सोने दो"।

"इस प्रकार गीतार्थी के भी दिनभर सूत्रार्थ में लगे रहने से, स्वाध्याय मे तन्मय रहने से काम-सकल्प उत्पन्न नहीं होते[3]।"

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि किसी ध्येय मे रात-दिन लगे रहने से ब्रह्मचर्य का पालन एक आसान चीज बन जाती है। विनोवाजी ने सव से विशाल ध्येय परमेश्वर का साक्षात्कार करना कहा है। वे लिखते हैं—

१—विनोवा के विचार (द्वि० भा०, च० आ०) पृ० १६०-६१

२—स्त्री-पुरुष-मर्यादा पृ० २४-२६

३—नि० गा० ५७४ चूर्णि

एगस्स कुडुंबिगस्स धूया णिरवस्सवावारा सुहासणत्था अच्छति। तस्स य अब्भंगुव्वट्टण-ण्हाण-विलेवणादिपरायणाए मोहुब्भवो। अम्मधाति भणति। आणेहि मे पुरिसं। तीए अम्मधातीए माउए से कहियं। तीए वि पिउणो। पिउणा सा भणिया। पुत्तिए! एताओ दासीओ सव्वधणादि अवहरंति, तुमं कोट्ठायारं पडियरसु, तह त्ति पडिवन्न, सा-जाव अण्णस्स भत्तयं देति, अण्णस्स वित्ति, अण्णस्स तंदुला अण्णस्स आय देयव्वं, अण्णस्स वय, एवमादिकिरियासु वावडाए दिवसो गतो। सा अतीव किलंता रयणीए णिवण्णा अम्मधातीते भणित—आणमि ते पुरिसं? सा भणति—ण मे पुरिसेण कज्ज, णिद्दं लहामि। एवं गीयत्थस्स वि सुत्तपोरिसि दतस्स अतीव एगग्गचित्तस्स कामसंकप्पो ण जायइ। भणियं च "काम! जानामि ते मूलं" सिलोगो॥

"किसी भी विशाल ध्येय के वास्ते भी ब्रह्मचर्य की साधना की जाती है। जैसे, भीष्म ने अपने पिता के लिए ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा की थी।......उनका जो आरभ हुआ, वह ब्रह्म की प्राप्ति के लिए नही हुआ। फिर भी उनका जो ध्येय था, वह वडा ही था। अपने पिता के लिए उन्होने त्याग किया और फिर उसका अर्थ उन्होने गहरा सोच लिया। उसी तरह गांधीजी ने भी समाज की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य का आरभ किया। ' ''' लेकिन बाद मे उनका विचार उस चीज की गहराई में पहुँचा। गांधीजी ने भी जो आरम्भ किया, वह अन्तिम उद्देश्य से—ब्रह्म की प्राप्ति के उद्देश्य से नही किया, वल्कि समाज-सेवा के लिए किया। वह भी एक विशाल ध्येय है। फिर उनका विचार विकसित होता गया।

"इसी तरह ब्रह्मचर्य दूसरी वातो के लिए भी होता है।'''' 'तन्मयता मे एक वडी शक्ति है। किसी एक ध्येय मे तन्मय हो जाओ, रात दिन वही बात सूझे, तो ब्रह्मचर्य सध सकता है। माना कि वह पूरा ब्रह्मचर्य नही है। कारण, जब तक ब्रह्मनिष्ठा उत्पन्न नही होती है, तब तक पूरा ब्रह्मचर्य नही कहा जा सकेगा[1]।"

जैन धर्म मे सबसे विशाल ध्येय है आत्म-शोधन। जो रात-दिन आत्म-शोधन में लगा रहता है, उसका ब्रह्मचर्य अपने आप सधता है।

२७-ब्रह्मचय और आत्मघात

ऐसे अवसर आ सकते हैं, जब किसी वहिन पर बलात्कार होने की परिस्थिति पैदा हो गई हो। ऐसी स्थिति में अपने शील की रक्षा के लिए वहिन क्या करे?

ऐसे ही प्रश्न का उत्तर देते हुए, एक बार महात्मा गांधी ने कहा था "' बहुत स्त्रियाँ यह मानती हैं कि अगर उनकी रक्षा करनेवाला कोई तीसरा आदमी न हो या वे खुद कटारी या बन्दूक वगैरह का इस्तेमाल करना न सीखी हो, तो उनके लिए जालिम के वश मे होजाने के सिवा और कोई उपाय ही नही। ऐसी स्त्री से मैं जरूर कहूँगा कि उसे पराये के हथियार पर भरोसा रखने की कोई जरूरत नही। उसका शील ही उसकी रक्षा कर लेगा। मगर वैसा न हो सके, तो कटारी वगैरह काम में लेने के बजाय, वह आत्म-हत्या कर सकती है। अपने को कमजोर या अवला मान लेने की कोई आवश्यकता नही[2]।" (३-७-'३२)

उन्होने दूसरी बार कहा—"जिसका मन पवित्र है, उसे विश्वास रखना चाहिए कि पवित्रता की रक्षा ईश्वर जरूर करेगा। हथियारो का आधार झूठा है। हथियार छीन लिए जायँ तो? अहिंसा-धर्म का पालन करनेवाला हथियारो का भरोसा न रखे, उसका हथियार उसकी अहिंसा, उसका प्रेम है।" "...... जो अहिंसा-धर्म का पालन करता है, वह मरकर ही अपनी रक्षा करेगा, मारकर नही। स्त्रियो को द्रौपदी की तरह विश्वास रखना चाहिए कि उनकी पवित्रता (यानी ईश्वर) उनकी रक्षा करेगी [3]।" (३१-७-'३२)

इसी समस्या पर विचार करते हुए उन्होने बाद में लिखा "यदि लडकियो को मालूम होने लगे कि उनकी लाज और धर्म पर हमला होने का खतरा है, तो उनमें उस पशु मनुष्य के आगे आत्म-समर्पण करने के वजाय मर जाने तक का साहस होना चाहिए। कहा जाता है कि कभी-कभी लडकी को इस तरह बांधकर या मुह में कपडा ठूसकर विवश कर दिया जाता है कि वह आसानी से मर भी नही सकती, जैसे कि मैंने सलाह दी है; लेकिन मैं फिर भी जोरो के साथ कहता हूँ कि जिस लडकी में मुकाबिले का दृढ सकल्प है, वह उसे असहाय बनाने के लिए बांधे गये सब वन्धनो को तोड सकती है। दृढ सकल्प उसे मरने की शक्ति दे सकता है[4]।" (३१-१२-'३८)

महात्मा गांधी ने एक बार यह भी कहा—"आत्म-हत्या करने का धर्म अपने आप सूझना चाहिए। कोई स्त्री बलात्कार न होने देने के लिए आत्म-हत्या करना पसन्द न करे, तो मुझे या तुम्हें यह कहने का हक नहीं है कि उसने अधर्म किया[1]।" (३-७-'३२)

महात्मा गांधी ने शील-रक्षा के लिए आत्म-हत्या की राय दी, उसके पीछे निम्न भावना थी

"कोई औरत आत्म-समर्पण करने के वजाय निश्चय ही आत्म-हत्या करना ज्यादा पसद करेगी। दूसरे शब्दो में जिंदगी की मेरी योजना में आत्म-समर्पण को कोई जगह नहीं। लेकिन मुझसे यह पूछा गया था कि आत्म-हत्या या खुदकुशी कैसे की जाय? मैंने तुरन्त जवाब दिया

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० २६४

२—वही पृ० ३३०

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ११५

४—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० २६८

कि आत्म-हत्या के साधन सुझाना मेरा काम नही। और ऐसी हालतो मे आत्म-हत्या की स्वीकृति देने के पीछे यह विश्वास था, और है कि जो आत्म-हत्या करने के लिए भी तैयार है, उनमें ऐसे मानसिक विरोध और आत्मा की ऐसी पवित्रता के लिए वह जरूरी ताकत मौजूद है, जिसके सामने हमला करनेवाला अपने हथियार डाल देता है[1]।" (२७-१-'४७)

विकारी व्यक्ति के लिए आत्म-हत्या किस तरह धर्म रूप मे उत्पन्न होती है, इसपर प्रकाश डालते हुए महात्मा गाधी ने लिखा है :

"साधारण तौर से जैन धर्म में भी आत्मघात को पाप माना जाता है। परन्तु जब मनुष्य को आत्मघात और अधोगति के बीच चुनाव करने का प्रसग आवे, तब यही कहा जा सकता है कि उस हालत में उसके लिए आत्म-घात ही कर्त्तव्यरूप है। एक उदाहरण लीजिए किसी पुरुष मे विकार इतना बढ जाय कि वह किसी स्त्री की आबरू लेने पर उतारू हो जाय और अपने आप को रोकने मे असमर्थ हो, लेकिन यदि उस वक्त उसमे थोडी भी बुद्धि जाग्रत हो और वह अपनी स्थूल देह का अन्त करदे, तो वह अपने आप को इस नरक से बचा सकता है[2]।" (१२-१२-'४८)

इस सम्बन्ध मे भगवान महावीर के विचार निम्न रूप मे प्राप्त हैं :

"जिस भिक्षु को ऐसा हो कि मैं निश्चय ही उपसर्ग से घिर गया हूँ और शीत-स्पर्श को सहन करने मे समर्थ नही हूँ, वह सयमी अपने समस्त ज्ञान-बल से उस अकार्य को न करता हुआ, अपने को सयम में अवस्थित करे। (अगर उपसर्ग से बचने का कोई उपाय नजर नही आये तो) तपस्वी के लिए श्रेय है कि वह कोई वेहासनादि अकाल-मरण स्वीकार करे। निश्चय ही यह मरण भी उस साधक के लिए काल-पर्याय—समय-प्राप्त मरण है। इस मरण मे भी वह साधक कर्म का अन्त करनेवाला होता है। यह मरण भी मोह-रहित व्यक्तियो का आयतन—स्थल रहा है। यह हितकारी है, सुखकारी है, क्षेमकर है, नि श्रेयस है और अनुगामी—पर-जन्म मे शुभ फल देनेवाला है[3]।"

टीकाकार ने मूल के 'सीयफास' (शीत-स्पर्श) शब्द का अर्थ किया है—स्त्री आदि का उपसर्ग (स्त्र्याद्युपसर्गेर्वा)। 'विहमाइए' का अर्थ किया है—विहायोगमनादि मरण। वे लिखते हैं—"मन्दसहनन के कारण यदि भिक्षु के मन मे ऐसा अध्यवसाय हो कि मैं स्त्री-उपसर्ग से स्पृष्ट हो गया हूँ अत मेरे लिए शरीर छोडना ही श्रेय है, मैं स्पर्श को सहन करने मे असमर्थ हूँ तो उसे भक्तपरिज्ञा, इङ्गित, पादोपगमन मरण करना चाहिए। यदि उसे ऐसा लगे कि कालक्षेप का अवसर नही तो वह वेहानस, गार्द्धपृष्ठ जैसे अपवादिक मरण को प्राप्त हो। यदि साधु को अर्द्ध-कटाक्ष, निरीक्षण आदि के उपसर्ग हो तो वह स्वय ये कार्य न करे। अपनी आत्मा को व्यवस्थित रखे। यदि उसे स्त्री द्वारा उपसर्ग प्राप्त हो और विष-भक्षण आदि उपायो के करने में तत्पर होते हुए भी वह स्त्री उसे नही छोडे तो ऐसे उपसर्ग के समय ऐसा मरण ही श्रेय है। जैसे किसी को अपने आदमियो द्वारा सपत्नीक कोठे मे प्रविष्ट कर दिया जावे तथा प्रणय आदि भावो से वह प्रेयसी भोग की प्रार्थना करने लगे और वहां से निकलने का उपाय नही हो तो आत्मोद्बन्धन के लिए वह भिक्षु विहाय मरण को प्राप्त हो, विष-पान करले, गिर पडे अथवा सुदर्शन की तरह प्राणो को छोडे।

"यहां प्रश्न हो सकता है—वेहासनादि बालमरण कहे गये हैं। वे अनर्थ के हेतु हैं। आगम मे कहा है "इच्चेएण बालमरणेणं मरमाणे जीवे अणतेहि नेरइयभवग्गहणेहि अप्पाण सजोएइ जाव अणाइय च ण अणवयग्ग चाउरत ससारकतार भुज्जो भुज्जो परियट्टइ' त्ति"। फिर इस मरण की सगति कैसे? इसका उत्तर यह है कि अर्हतो ने एकातत न किसी बात का प्रतिषेध किया है और न किसी का प्रतिपादन। एक मैथुन ही ऐसा है, जिसका सदा प्रतिषेध है। द्रव्यक्षेत्रकाल भाव के अनुसार जिसका प्रतिषेध होता है, वह प्रतिपाद्य हो जाता है। उत्सर्ग मार्ग भी गुण के लिए है और अपवाद मार्ग भी गुण के लिए। जो कालज्ञ हैं उनके लिए मैथुन से बचने के अभिप्राय से वेहानसादि मरण भी कालप्राप्त मरण की तरह ही है[4]।"

१—ब्रह्मचर्य (दू० भा०) पृ० ५१

२—वही पृ० ७६

३—आचाराङ्ग १।७ ४ जस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ पुट्ठो खलु अहमसि नालमहमसि सीयफास अहियासित्तए, से वसुम सव्वसमन्नागय-पन्नाणेण अप्पाणेण केइ अकरणाए आउट्टे तवस्सिणो हु त सेय जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए, सेऽवि तत्थ विअन्ति-कारए, इच्चेय विमोहायतण हिय सुह खम निस्सेस आणुगामिय ति बेमि।

४—आचाराङ्ग १।७ ४ की टीका

स्थनाङ्ग सूत्र में बारह प्रकार के मरण का उल्लेख है—

(१) वलन्मरण—परीषह आदि की बाधा के कारण सयम से भ्रष्ट होकर मरना।

(२) वशार्त्त मरण—स्निग्ध दीपक-कलिका के अवलोकन में आसक्त पतग आदि के मरण की तरह, इन्द्रियो के वश में होकर मरना।

(३) निदान मरण—समृद्धि और भोग आदि की कामना करते हुए मरना।

(४) तद्भव मरण—जिस भव में हो, उसी भव की आयु का बन्ध करके मरना।

(५) गिरिपतन मरण—पर्वत से गिरकर मरना।

(६) तरुपतन मरण—वृक्ष से गिर कर मरना।

(७) जलप्रवेश मरण—जल मे प्रविष्ट होकर मरना।

(८) अग्निप्रवेश मरण—अग्नि मे प्रवेश कर मरना।

(९) विषभक्षण मरण—विष खाकर मरना।

(१०) शस्त्रावपाटन मरण—छुरिकादि शस्त्र से अपने शरीर को विदीर्ण कर मरना।

(११) वैहायस मरण—वृक्ष की शाखा से बन्धकर—लटक कर मरना।

(१२) गृध्रस्पृष्ट मरण—गृद्धो द्वारा स्पृष्ट होकर मरना।

इन ऊपर के मरणो के सम्बन्ध में कहा गया है कि भगवान महावीर ने कभी इनकी प्रशसा नही की, कीर्ति नही की, और अनुमति नही दी। कारण होने पर केवल अन्तिम दो को निवारित नही किया[1]। कारण का खुलासा करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि 'शीलरक्षणादौ' अर्थात् शील-रक्षण आदि प्रयोजन के लिए अन्तिम दो मरण निवारित नही हैं। एक प्राचीन गाथा मे इन दोनो मरणो को अनुज्ञात कहा है[2]।

उपर्युक्त विवेचन से फलित है कि जैन धर्म के अनुसार सयम से भ्रष्ट होकर मरना, इद्रियो के वश होकर मरना, गर्ह्य है और उन्हे बालमरण कहा है। वैसे ही सयम की रक्षा के लिए वैहायस, गृद्धस्पृष्ट मरण की अनुज्ञा भी दी है।

यह यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जैन साध्वियाँ अपने पास विहार के समय रस्सियाँ रखती हैं और शील विषयक उपसर्ग के उत्पन्न होने पर उनके द्वारा फाँसी खाकर शील-रक्षा कर सकती हैं।

२८-ब्रह्मचर्य और भावनाएँ

जैन धर्म में ऐसी भावनाएँ—अनुपेक्षाएँ—दृष्टियो का भी वर्णन मिलता है, जिनका बार-बार चिन्तन करने से ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य में दृढ रह सकता है। उदाहरणस्वरूप

(१) त्यागे हुए भोगो को पुन भोगने की इच्छा करना वमन की हुई वस्तु को पीना है। इससे तो मरना भला[3]।

१—ठाणाङ्ग सू० १०२

दो मरणाइं समणेणं भगवया महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णो णिच्चं वण्णियाइं णो णिच्चं कित्तियाइं णो णिच्चं बुइयाइं णो णिच्चं पसत्थाइं णो णिच्चं अब्भणुन्नायाइं भवंति, कारणेण पुण अप्पडिकुट्ठाइं तं जहा—वेहाणसे चेव गिद्धपिट्ठे चेव।

२—ठाणाङ्ग सू० १०२ की टीका मे उद्धृत

गद्धादिभक्खणं गद्धपट्टमुब्बंधणादि वेहासं।

एते दोन्निऽवि मरणा कारणजाए अणुन्नाया॥

३—उत्तराध्ययन २२ ४२-४३

धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीवियकारणा।

वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे॥

(२) यदि समभावपूर्वक विचरते हुए भी यह मन कदाचित् बाहर निकल जाय तो साधक सोचे—"वह न मेरी है और न मैं उसका हूँ[१] ।"

(३) नरक मे गये हुए दु ख से पीडित और निरन्तर क्लेशवृत्तिवाले जीव की जब नरक सम्बन्धी पल्योपम और सागरोपम की आयु भी समाप्त हो जाती है, तो फिर मेरा यह मनोदु ख तो कितने काल का है[२]?

(४) यह मेरा दु ख चिरकाल तक नही रहेगा। जीवो की भोग-पिपासा अशाश्वती है। यदि विषय-तृष्णा इस शरीर से न जायगी, तो मेरे जीवन के अन्त में तो अवश्य जायगी[३]।

(५) जब कभी इन मनोरम कामभोगो को छोडकर चल बसना है। इस ससार में धर्म ही त्राण है। धर्म के सिवा अन्य वस्तु नही है जो दुर्गति से रक्षा कर सके[४]।

(६) जैसे घर में आग लगने पर गृहपति सार वस्तुओ को निकालता है और असार को छोड देता है, उसी तरह जरा और मरणरूपी अग्नि से जलते हुए इस ससार मे अपनी आत्मा का उद्धार करूँगा[५]।

(७) जिसमें मैं मूर्च्छित हो रहा हूँ—वह जीवन और रूप विद्युत्सम्पात की तरह चचल है[६]।

(८) स्त्री का शरीर जिसके प्रति मैं मोहित हूँ, अशुचि का भण्डार है[७]।

१—दशवैकालिक २ ४

समाइ पेहाइ परिव्वयतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा महं नो वि अहपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज राग ॥

२—दशवैकालिक चू० १ १५

इमस्स ता नेरइयस्स जतुणो दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो।
पलिओवम झिज्झइ सागरोवम, किमग पुण मज्झ इम मणोदुह ॥

३—वही १ १६ ·

न मे चिर दुक्खमिण भविस्सइ, असासया भोगपिवास जतुणो।
न मे सरीरेण इमेणऽविस्सइ, अविस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥

४—उत्तराध्ययन १४ ४० :

मरिहिसि राय जया तया वा, मणोरमे कामगुणे पहाय।
एक्को हु धम्मो नरदेव ! ताण, न विज्जई अन्नमिहेह किंचि ॥

५—वही १९ २३-२४ ·

जहा गेहे पलित्तम्मि, तस्स गेहस्स जो पहू।
सारभण्डाणि नीणेइ, असार अवउज्झइ ॥
एव लोए पलित्तम्मि, जराए मरणेण य।
अप्पाण तारइस्सामि, तुब्भेहि अणुमन्निओ ॥

६—वही १८ १३ :

जीविय चेव रूव च विज्जुसपायचचल।
जत्थ त मुज्झसि राय, पेच्चत्थ नाव बुज्झसि ॥

७—आचाराग १, २-५

अंतो-अंतो पूइदेहंतराणि पासइ पुढोवि सवंताइं पंडिए पडिलेहाए

(९) जीव जो शुभ अथवा अशुभ कर्म करता है, उन कर्मों से संयुक्त हो परलोक को जाता है। उसके दुःख में दूसरा कोई भाग नही बटा सकता। मनुष्य को स्वय अकेले को ही दुःख भोगना पडता है। कर्म, करनेवाले का ही पीछा करता है, उसे ही कर्म-फल भोगना पडता है[1]।

(१०) ये काम-भोग त्राणरूप नही, शरणरूप नही। कभी तो मनुष्य ही काम-भोगो को छोडकर चल देता है। और कभी काम-भोग ही मनुष्य को छोड कर चल देते हैं। ये काम-भोग अन्य हैं और मैं अन्य हूँ। फिर मैं इन काम-भोगो में मूर्च्छित क्यों होता हूँ?[2]

(११) यह शरीर अनित्य है, अशुचिपूर्ण है और अशुचि से उत्पन्न है। यह आत्मारूपी पक्षी का अस्थिर वास है और दुःख तथा क्लेश का भाजन है। अतः मुझे मानुषिक काम-भोग में आसक्त, रक्त, गृद्ध, मूर्च्छित नही होना चाहिए और न अप्राप्त भोगो को प्राप्त करने की लालसा करनी चाहिए[3]।

(१२) विषय और स्त्रियो में आसक्त जीव स्थावर और जगम योनियो में बार-बार भ्रमण करता है[4]।

(१३) जो सर्व साधुओ को मान्य सयम है, वह पाप का नाश करनेवाला है। इस सयम की आराधना कर बहुत जीव संसार-सागर से पार हुये हैं और बहुतो ने देव-भव प्राप्त किया है[5]।

(१४) जैसे लेपवाली भित्ति लेप गिराकर क्षीण कर दी जाती है, उसी तरह अनशनादि तप द्वारा अपनी देह को कृश करना चाहिए[6]।

१—(क) उत्तराध्ययन १८ १७ .

तेणावि ज कयं कम्म, सुह वा जइ वा दुह।
कम्मुणा तेण सजुत्तो, गच्छइ उ पर भव॥

(ख) वही १३ २३ .

न तस्स दुक्ख विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बंधवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्ख, कत्तारमेव अणुजाइ कम्म॥

२—सूत्रकृताङ्ग २, १ १३ :

इह खलु कामभोगा णो ताणाए वा णो सरणाए वा। पुरिसे वा एगया पुव्विं कामभोगे विप्पजहइ, कामभोगा वा एगया पुव्वि पुरिस विप्पजहन्ति। अन्ने खलु कामभोगा अन्नो अहमसि। से किमंग पुण वय अन्नमन्नेहिं कामभोगेहिं मुच्छामो?

३—(क) उत्तराध्ययन १९ १३

इमं सरीरं अणिच्च, असुइ असुइसंभव।
असासयावासमिण, दुक्खकेसाण भायण॥

(ख) ज्ञाताधर्म कथाङ्ग ८

त मा ण तुब्भे देवाणुप्पिया, माणुस्सएसु कामभोगेसु।
सज्जह रज्जह गिज्झह, मुज्झह अज्झोववज्जह॥

४—सूत्रकृताङ्ग १, १२ १४ .

जमाहु ओह सलिल अपारग, जाणाहि ण भवगहण दुमोक्ख।
जसी विसन्ना विसयगणाहि, दुहओऽवि लोय अणुसचरन्ति॥

५—वही १, १५ २४

ज मय सव्व साहूण, त मय सल्लगत्तण।
साहइत्ताण त तिण्णा, देवा वा अभविसु ते॥

६—वही १, २।१ १४

धुणिया कुलिय व लेववं।
किसए देहमणसणा इह॥

(१५) मुझे आत्मा को कसना चाहिए। उसको जीर्ण—पतली करना चाहिए। तप से शरीर को क्षीण करना चाहिए[1] ।

(१६) जिन्हें तप, संयम और ब्रह्मचर्य प्रिय हैं, वे शीघ्र ही अमर-भवन को प्राप्त करते हैं[2] ।

(१७) मनुष्यों के सब सदाचार सफल होते हैं। जीवन अशाश्वत है। जो इसमें पुण्य, सत्कृत्य और धर्म नहीं करता, वह मृत्यु के मुख में पड़ने के समय पश्चात्ताप करता है[3] ।

(१८) भोग से ही कर्मों का लेप—बन्धन—होता है। भोगी को जन्म-मरण रूपी संसार में भ्रमण करना पड़ता है, जब कि अभोगी संसार से छूट जाता है[4] ।

(१९) काम-भोग शल्य रूप हैं। काम-भोग विषरूप हैं। काम-भोग जहरी नाग के सदृश हैं। भोगों की प्रार्थना करते-करते जीव बिचारे उनको प्राप्त किए बिना ही दुर्गति में चले जाते हैं[5] ।

(२०) आत्मा ही सुख और दुःख को उत्पन्न करने और न करनेवाली है। आत्मा ही सदाचार से मित्र और दुराचार से अमित्र—शत्रु है[6] ।

(२१) अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध कर। बाहरी युद्ध करने से क्या मतलब? दुष्ट आत्मा के समान युद्ध योग्य दूसरी वस्तु दुर्लभ है[7] ।

१—आचाराङ्ग १, ४।३ : ४-५ :

कसेहि अप्पाणं ।
जरेहि अप्पाणं ॥
इह आणाकंखी पंडिए ।
अणिहे एगमप्पाणं ।
संपेहाए धुणे सरीरगं ।

२—दशवैकालिक ४ : २८ :

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य खन्ती य बंभचेरं च ॥

३—उत्तराध्ययन १३ : १०, २१

सव्वं सुचिण्णं सफलं नराणं, कडाण कम्माण न मोक्खो अत्थि ।
अत्थेहि कामेहि य उत्तमेहिं, आया ममं पुण्णफलोववेए ॥
इह जीविए राय असासयम्मि, धणियं तु पुण्णाइं अकुव्वमाणो ।
से सोयई मच्चुमुहोवणीए धम्मं अकाऊण परंसि लोए ॥

४—वही २५ : ४१

उवलेवो होइ भोगेसु अभोगी नोवलिप्पई ।
भोगी भमइ संसारे, अभोगी विप्पमुच्चई ॥

५—वही ९ : ५३

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा अकामा जन्ति दोग्गइं ।

६—वही २० : ३७

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ।

७—आचाराङ्ग १, ५।३ : १५३ :

इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ
जुद्धारिहं खलु दुल्लहं ।

(२२) तू ही तेरा मित्र है। बाहर क्यो मित्र की खोज करता है? हे पुरुष! अपनी आत्मा को ही वश में कर। ऐसा करने से तू सर्व दुखो से मुक्त होगा[१]।

आगम में कहा है—"जिसकी आत्मा इस प्रकार दृढ होती है, वह देह को त्यज देता है, पर धर्म-शासन को नही छोडता। इन्द्रियाँ (विषय-सुख) ऐसे दृढ धर्मी पुरुष को उसी तरह विचलित नही कर सकती, जिस तरह महावायु सुदर्शन गिरि को[२]।" "जिस तरह नौका अथाह जल को पार कर किनारे लगती है, उसी तरह जिसकी अन्तर आत्मा भावनारूपी योग—चिन्तन से विशुद्ध निर्मल होती है, वह ससार-समुद्र को तिर कर—सर्व दुखो को पार कर, परम सुख को प्राप्त करता है। क्षुर अपने अन्त पर—धार पर चलता है और चक्का भी—पहिया भी अपने अन्त—किनारो पर चलता है। धीर पुरुष भी अन्त का सेवन करते हैं—एकान्त निश्चित सत्यो पर जीवन को स्थिर करते हैं और इसीसे वे ससार का—बार-बार जन्म-मरण का अन्त करते हैं[३]।"

२९-ब्रह्मचर्य और निरन्तर संघर्ष

सत टॉल्स्टॉय ने कहा है "जो पतन से बचा हुआ है, उसे चाहिए कि इसी तरह बचे रहने के लिए वह अपनी तमाम शक्तियो का उपयोग करे। क्योकि गिर जाने पर उठना सैकडो नही, हजारो गुना कठिन हो जायगा। सयम का पालन करना अविवाहित और विवाहित-दोनो के लिए श्रेयस्कर है।

"मनुष्य का कर्त्तव्य है कि सयम की आवश्यकता को समझ ले। वह समझ ले कि विवेकशील मनुष्य के लिए विकारो से झगडना अप्राकृतिक नही, बल्कि उसके जीवन का पहला नियम है। मनुष्य केवल पशु नही, एक विवेकशील प्राणी है।

"प्रकृति ने मनुष्य के अन्दर वैषयिकता और अन्य पाशविक वृत्तियो के साथ-साथ ब्रह्मचर्य और पवित्रता की पोषक आध्यात्मिक वृत्ति भी दी है। प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उसकी रक्षा और सवर्धन करे।

"सत्य और सत् के लिए सत् का प्रयत्न करते रहना। अपनी पवित्रता की रक्षा मे सारी शक्ति लगा देना। प्रलोभनो के साथ खूब झगडना, किसी हालत में हिम्मत न हारना। लगाम को कभी ढीली न करना।

"मेरा तो उपदेश यही है और इस पर, मैं खूब जोर दूँगा कि अपने जीवन के ध्येय को समझो। याद रक्खो कि शारीरिक विषय-सुख नही बल्कि ईश्वर के आदेशो का पालन मनुष्य के जीवन का लक्ष्य और उद्देश्य है। विलासयुक्त नही, आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करो।

"ब्रह्मचर्य वह आदर्श है, जिसके लिए प्रत्येक मनुष्य को हर हालत में और हर समय प्रयत्न करना चाहिए। जितना ही तुम उसके नजदीक जाओगे उतना ही अधिक परमात्मा की दृष्टि में प्यारे होगे और अपना अधिक कल्याण करोगे। विलासी बन कर नही, बल्कि पवित्रता-युक्त जीवन व्यतीत करके ही मनुष्य परमात्मा की अधिक सेवा कर सकता है[४]।

१—आचाराङ्ग ३।३ ११७-८

पुरिसा! तुममेव तुम मित्त, किं बहिया मित्तमिच्छसी?
पुरिसा! अत्ताणमेव अभिनिगिज्झ एव दुक्खा पमोक्खसि॥

२—दशवैकालिक चू० १ १७ :

जस्सेवमप्पा उ हविज्ज निच्छिओ, चइज्जदेह न हु धम्मसासण।
त तारिस नो पइलति इदिया, उविंतवाया व सुदसण गिरि॥

३—सूत्रकृताङ्ग १, १५ ६, १४-१५

भावणा जोगसुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥
से हु चक्खु मणुस्साण, जे कखाए य अन्तए।
अन्तेण खुरो वहई, चक्क अन्तेण लोट्टई॥
अन्ताणी धीरा सेवन्ति, तेण अन्तकरा इह॥

४—स्त्री और पुरुष पृ० १५०-१५३

"अर्थशास्त्र के क्षेत्र मे जिस प्रकार अकाल पीडित को एक वार या अनेक वार भोजन करा देने से उसके पेट का सवाल हल नही होता, उसी प्रकार शारीरिक विषयोपभोग से मनुष्य को कभी सन्तोष नही होता। फिर सन्तोष कैसे होगा? ब्रह्मचर्य के आदर्श की सम्पूर्ण भव्यता को भली-भाँति समझ लेने से, अपनी कमजोरी पूर्णतया स्पष्टरूप से देख लेने से, और उसे दूर कर उस उच्च आदर्श की ओर वढने का निश्चय करने से।

"सघर्ष जीवनमय और जीवन सघर्षमय है। विश्रान्ति का नाम भी न लीजिए। आदर्श हमेशा सामने खडा है। मुझे तव तक शान्ति नसीव नही हो सकती, जब तक मैं उस आदर्श को प्राप्त नही कर सकता[1]।

"ससार की जितनी लडाइयाँ हैं, उनमे कामाभिलाषा (मदन) के साथ होनेवाली लडाई सबसे ज्यादा कठिन है, और सिवाय प्रारम्भिक बाल्यावस्था तथा अत्यन्त वृद्धावस्था के कोई भी ऐसी अवस्था अथवा समय नही है, जिसमें मनुष्य इससे मुक्त हो। इसलिए किसी मनुष्य को इस लडाई से न तो कभी हताश होना चाहिए और न कभी अवस्था की प्राप्ति की आशा करनी चाहिए जिसमे इसका अभाव हो। एक क्षण के लिए भी किसी को निर्वलता न दिखानी चाहिए, किन्तु उन समस्त साधनो को एकत्र कर उनका उपयोग करना चाहिए, जो उस शत्रु को नि शस्त्र बना देते हैं। उन बातो का परित्याग कर देना चाहिए जो शरीर और मन को उत्तेजित (दूपित) करनेवाली हो और हमेशा काम करने मे व्यस्त रहना चाहिए[2]।"

"पर प्रधान और सर्वोत्तम उपाय तो अविरत सघर्ष ही है! मनुष्य के दिल में हमेशा यह भाव जाग्रत रहना चाहिए कि यह सघर्ष कोई नैमित्तिक या अस्थायी अवस्था नही, वल्कि जीवन की स्थायी और अपरिवर्तनीय अवस्था है[3]।"

जैन धर्म मे भी सतत् जागृति को सयमी का परम धर्म कहा है। वह सोये हुओ में जाग्रत रहे—"सुत्तेसु या वि पडिबुद्धजीवी" भारडपक्षी की तरह अप्रमत्त रहे—"भारडपक्खी व चरेऽपमत्ते", मुहूर्तमात्र भर भी प्रमाद न करे—"मुहुतमवि णो पमाए"। वीर पुरुष सयम में अरति को सहन नही करता और न असयम मे रति को सहन करता है। चूकि वीर पुरुष सयम मे अन्यमनस्क नही होता, अत असयम में अनुरक्त नही होता—"नारइ सहई वीरे, वीरे न सहई रतिं। जम्हा अविमणे वीरे तम्हा वीरे न रज्जई।' वह असयम जीवन मे आनन्द भाव को घृणा की दृष्टि से देखे—"निव्विद नदि इह जीवियस्स।" ज्ञानी, जिसे आत्मा-साधना के सिवा अन्य कुछ परम नही, कभी प्रमाद नही करता—"अणन्नपरम नाणी, नो पमाए कयाइवि।" ये सारी आज्ञाएँ अविश्रान्त रूप से जाग्रत रहने की ही प्रेरणाएँ देती हैं। वास्तव में ही सयमी के लिए अन्तिम क्षण तक विश्राम जैसी कोई चीज नही होती। "जावज्जीवमविस्सामो"—जीवन-पर्यत विश्राम नही, यही उसके जीवन का सूत्र होता है।

सयमी को किस तरह उत्तरोत्तर सघर्ष करते रहना चाहिए—इसका आदर्श सुदर्शन के जीवन-वृत्त द्वारा दिया गया है।

सुदर्शन सेठ की कथा सक्षेप में पहले दी जा चुकी है। सुदर्शन का जीवन ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में निरन्तर सघर्ष का रहा। स्वामीजी ने लिखा है "सुदर्शन ने शुद्ध मन से निरतिचार शील व्रत का पालन किया। घोर परीषह उत्पन्न होने पर भी वह डिगा नही। जो निर्मलता पूर्वक शील का पालन करते हैं, वे सव ब्रह्मचारी पुरुष महान् हैं, परन्तु सुदर्शन का चरित्र तो व्याख्यान करने योग्य ही है, क्योकि उसने घोर परीषहो के सम्मुख अविचल रह ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसका चरित्र ऐसा है कि जिसका पतन हो गया हो, वह भी सुने तो ब्रह्मचर्य के प्रति उसके प्रेम की वृद्धि हो और पुन उसके पालन मे तत्पर हो। कायर उसके चरित्र को सुनकर वीर होते हैं और जो शूर हैं, वे और भी अडिग होते हैं[4]।"

कपिल पुरोहित की स्त्री कपिला ने जब प्रपच रच दासी के द्वारा सुदर्शन को अपने महल मे बुला लिया और उससे भोग की प्रार्थना करने लगी तब सुदर्शन की क्या अवस्था हुई, उसका वर्णन स्वामीजी ने इस प्रकार किया है "कपिला की बात सुनकर और उसके अनूप रूप को देखकर सुदर्शन मन मे उदास हो गया। उसका गात्र पसीने से भर गया। शरीर काँपने लगा। वह सोचने लगा—मैं प्रपच मे न समझ, इस प्रकार फस गया। पर कपिला चाहे कितने ही उपाय करे, मैं अपने शील को खण्डित नही करूँगा। यदि मेरी आत्मा वश में है, तो मुझे

१—स्त्री और पुरुष पृ० ४८

२—वही पृ० ४४

३—वही पृ० ५५

४—भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १) : सुदर्शन चरित पृ० [illegible]

कोई भी चलित नही कर सकता। स्त्री चतुर पुरुष को भी भ्रम में डाल, उसे मूर्ख बना देती है, पर यदि मैं दृढ रहूँगा तो यह मेरा तिलमात्र भी विगाड नही कर सकती।"

पिण शील न खडू मांहरो, आ करे अनेक उपाय।
जो वश छे म्हारी आत्मा, तो न सके कोइ चलाय॥
चतुर ने भोल मूर्ख करे, इसी नारी नीं जात।
जो हूं इण आगे सेंठो रहूं, तो म्हारो विगडे नहीं तिलमात॥

इस समय की सुदर्शन की दृढता पर टिप्पण करते हुए स्वामीजी लिखते हैं "सम्यक् दृष्टि कष्ट के समय भी सम्यक् ही सोचता है। वह कांटो को फूल की तरह ग्रहण करता है। जैसे-जैसे परीषह अधिक बढते हैं, वह अधिकाधिक वैराग्य के साथ व्रत को अभङ्ग रख उसका पालन करता है। शूर वही है, जो कष्ट पडने पर भाग न छूटे। जो कायर क्लीव होते हैं, वे ही कष्ट के समय भाग छूटते हैं। जो वैरी के सम्मुख भाग छूटता है, उसका कभी भला नही होता। जो पैर थाम कर मुकाविला करता है, उसे कोई परास्त नही कर सकता।"

समदृष्टि वेवे समों, पाले व्रत अभग।
ज्यू ज्यू परीषह ऊपजे, तिम तिम चढते रंग॥
कष्ट पड्या कायम रहे, ते साचेला सूर।
कोइ कायर क्लीव हुवे, ते भांग हुवे चकचूर॥
वेरी तो पाछे पड्या, जव भागां भलो न होय।
पग रोपी साह्मो मडे, त्यांसू गंज न सके कोय॥

कपिला सुदर्शन के शरीर से लिपट गई। सुदर्शन की वृत्तियाँ और भी अन्तर्मुख हो गई। उसने नियम लिया—यदि मैं इस उपसर्ग से वच गया तो मुझे यावज्जीवन के लिए अब्रह्मचर्य का प्रत्याख्यान है

जो इण उपसर्ग थी ऊवरूं, व्रत रहे कुशले खेम।
तो शील छे म्हारे सर्वथा, जावजीव लगे नेम॥

सुदर्शन ने स्त्री-परीषह के समय इस तरह अपना मन दृढ कर लिया। सुदर्शन की उस समय की दृढता को स्वामीजी ने इस प्रकार प्रकट किया है

मन दृढ कर लियो आपणो, शील कियो अगीकार।
कपिला नारी तो ज्यांही रही, तजी मनोरमां नार॥
अरिहंत सिद्ध नी साखे करी, पहरयो शील सन्नाह।
मन वच काया वस किया, तिणरे स्यांनी परवाह॥
आतो कपिला छे वापटी, मल मूत्र नी भंडार।
जो आय उभी रहे अवच्छरा, तोही शील न खडू लिगार॥

सुदर्शन ने अरिहत, सिद्ध, साधु और धर्म की शरण ली और कपिला की तो वात दूर, यावज्जीवन के लिए ब्रह्मचर्य धारण कर, अपनी पत्नी मनोरमा तक के साथ विषय-सेवन का त्याग कर दिया। सुदर्शन ने उस अनुकूल परीषह के समय भी भोग को विष के समान समझा।

आखिर मे कपिला ने निराश हो सुदर्शन को अपने पाश से मुक्त किया और सुदर्शन अपने घर वापिस आया। उसने नियम लिया—"आज के वाद मैं पर-घर मे प्रवेश नहीं करूँगा"

कदा वले मिले जी एहवी, तो छूटीजे केम।
तिणस्ूं पर घर जावा तणो, आज पछे छे नेम॥

जव धात्रीवाहन राजा की पटरानी अभया ने पंडिता धाय द्वारा सुदर्शन को ध्यानावस्था में महल में मगाया, तव सुदर्शन के लिए फिर एक भयानक परीषह उत्पन्न हुआ। अभया सुदर्शन से भोग की प्रार्थना करने लगी। सुदर्शन ने ध्यान पूरा कर आँखें खोली तो सारा दृश्य देखकर

कांपने लगा। सुदर्शन ने अपने मन को मेरु की तरह दृढ कर लिया

> ओ उपसर्ग मोटो ऊपनों, मन गमतो परीसो जाण।
> जब सेठ मन गाढो कियो, जाणेक मेरु समान॥

स्वामीजी कहते हैं -

> गमतो परीसो अस्त्री तणो, सहिवो घणो दुलभ।
> दृढ परिणामी पुरुष ने, सहिवो घणो सुलभ॥
> गमता अण गमता बेहुं, उपसर्ग उपजे आय।
> जब शूर पुरुष साह्मा मडे, कायर भागी जाय॥

सुदर्शन इस घोर अनुकूल परीषह के समय शील के गुणो का चिन्तन करने लगा

> सेठ इसो मन चितवे, शील व्रत हो व्रतां में प्रधान।
> तिण शील थकी सुद्ध गति मिले, अनुक्रमे हो पामे मुगत निधान॥
> ग्रह नक्षत्र तारां ना वृंद मे, घणो सोभे हो मोटो जिम चंद।
> रत्नां में वैडूर्य मोटको, फूलां में हो मोटो फूल अरविंद।
> ज्यू व्रतां में शील व्रत वडो॥
> रत्नां रा आगर में समुद्र वडो, आभूषण में हो माथा रो मुकुट।
> वस्त्र मांहे क्षोम वस्त्र मोटको, नदियां मांहें हो सीता नो पट।
> इत्यादि शील व्रत नें ओपमा, सूत्र में हो जिन भाषी बतीस।
> ए व्रत चोखे चित्त पालसी, तिण री करणी हो जाणो विस्वावीस॥
> शील थकी सकट टले, शील थकी शीतल हुवे आग।
> शील थी सर्प न आभडे, शील थकी हो वाधे जस सोभाग॥
> शील थी विष अमृत हुवे, शील सेती हो देवे समुद्र थाग।
> वाघ सिंघ डले शील थी, शील पाले हो तेहनो मोटो भाग॥
> शील थकी अनेक जीव उद्धरया, कहिता कहितां हो त्यांरा नावें पार।
> इण शील थकी चूका तिका, जाय पडिया हो नरक निगोद मझार॥

इस तरह शील की महिमा का चिन्तन करते हुए सुदर्शन ने प्रतिज्ञा की "अभया जैसी कितनी ही स्त्रियां क्यों न आ जाय, मैं शील से अणु मात्र भी दूर नही होऊँगा। इन्द्र की अप्सरा भी क्यो न आवे, मैं धर्म की टेक नही छोड सकता। यदि मेरा इस उपसर्ग से उद्धार हुआ तो मैं घर छोड कर श्रामण्य ग्रहण करूँगा—"इण उपसर्ग थी हू बचू, तो लेसू संजम भार।"

अभया और कामातुर हो गयी। सुदर्शन मौन ध्यान मे लीन रहा। अभया ने सुदर्शन को गात्र-स्पर्श से उत्कट लिया, पर सुदर्शन जरा भी डिगा नहीं। उसकी मन स्थिति ठीक वैसी ही रही, जैसे मानो दो वर्ष के बच्चे को माता ने स्पर्श किया हो

> सेठ ने अंग सू भींटियो, पिण डिग्यो नहीं तिलमात।
> दोय मास तणा बालक भणी, जाणेक परस्यो मात॥

सेठ सुदर्शन सोचने लगा

> हिवे सेठ करे रे विचार ए नहीं होय [illegible] [illegible] री।
> ए [illegible] [illegible] [illegible], ए नहीं [illegible] [illegible] [illegible] री।
> ए [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] री।
> [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

ए प्रत्यक्ष काम नें भोग, मोनें लागे छे वमिया आहार सारखा जी ।
ते हूं किम करु भोग सजोग, मोन मुगत सुखां री आइ पारिखा जी ॥
जो हूं करु राणी सू प्रीत, तो हूं कर्म बांधे जाऊ कुगत में जी ।
चिहुं गत में होऊ फजीत, घणो भ्रमण करूं इण जगत में जी ॥
मोन मरणो छे एक बार, आगल पाछल मो भणी जी ।
सुख दु ख होसी कर्म लार, तो सेंठो रहूं न चूकू अणी जी ॥
आ मल मूत्र तणो भडार, कूड कपट तणी कोथली जी ।
इण में सार नहीं छे लिगार, तो हूं किण विध पामू इणसू रली जी ॥
अनेक मिले अपछरा आण, रूप करे रलियामणो जी ।
त्यांनें पिण जाणू जहर समान, म्हारे मुगत नगर में जावणो जी ॥

इस तरह विचार, सदर्शन ने मन को स्थिर कर लिया । उसके मन में काम जरा भी व्याप्त नही हुआ ।

रानी ने सुर्दशन को चलित करने के लिए अनेक मोहक वातें कही पर वे सव उसी तरह अनसुनी हुई जैसे कोई पापाण की मूर्त्ति के सामने वोल रहा हो—"जाने पाषाण की मूरत आगे, कहिवा लागी वाणी जी ।"

इस तरह सारी रात वीत गयी । प्रभात होने पर रानी वाहर आयी और उसने जोर-जोर से चिल्लाकर सबको इकट्ठा कर लिया और सुदर्शन पर दुश्चरिता का कलक लगा दिया । राजा ने सुदर्शन को गिरफ्तार करा लिया और शूली पर चढाने की आज्ञा दे दी। शूली पर चढाने के लिए सेठ सुदर्शन को शूली के नीचे खडाकर दिया गया । वह विचार ने लगा .

सेठ सुदर्शन करे छे विचारणा रे, ऊभो सूली रे हेठ ।
कर्म तणी गति वांकडी रे, ते भोगवणी मुझ नेठ ॥
किहा अभिया राणी राजा तणी रे, किहां हूं सुदर्शन सेठ ।
किहां हूं मसाण भूमिका मांहीं रह्यो रे, किहां हूं आय ऊभो सूली हेठ ॥
इण चपा नगरी में हूं मोटको रे, ते हूं सुदर्शन सेठ ।
म्हारा वांधा पाप कर्म उदे हुवा रे, तिणसू आय ऊभो सूली हेठ ॥
कर्म सू वलियो जग में को नहीं रे, विन भुगत्यां मुगत न जाय
जे जे कर्म बाध्या इण जीवडे रे, ते अवश्य उदे हुवे आय ॥
ज्यू में पिण कर्म बांध्या भव पाछले रे, ते उदे हुवा छे आय ।
पिण याद न आवे कर्म किया तिके रे, एहवो ग्यान नही मो मांय ॥
के में चाटा खाधी चौंतरे रे, दिया अणहुता आल ।
ते आल अणहुंतो आयो शिर माहरे रे, निज अवगुण रह्यो छे निहाल ॥
के मे दोपद चोपद छेदिया रे, के छेदी वनराय ।
के भात पाणी किणरा मे रूंधिया रे, के मे दीधी त्याने अनराय ॥
के मे साधु सती सतापिया रे, के मे दिया कुपात्र दान ।
के मे शील भाग्या निजपारका रे, के मे साधा रो कियो अपमान ॥
तीर्थङ्कर चक्रवर्त्ति छे महा वली रे, वासुदेव ने बलदेव ।
त्यारे पिण अशुभ कर्म उदे हुवा रे, जब भुगत लिया स्वयमेव ॥
मोटी मोटी सतिया थी तेहमे रे, तिणा पत्या ते आय ।
वले वडा वडा ऋषिश्वर त्यां भणी रे, दुःख पड्यो त्यां मांय ॥

त्यां समें परिणामें परीसा सही रे, पोंहता मुगत मझार ।
एहवा साधु सती हुवा त्या भणी रे, सेठ याद किया तिण वार ''।
जेहनें जेहवा कर्मज सचिया रे, तेहवा उदै हुवे आय ।
जिण बोयो छे पेड बबूल को रे, ते अब कियां थी खाय ॥
तो हूं कर्म भुगतू छू मांहरा रे, ते में बांध्या छे स्वयमेव ।
तो हूं आमण दुमण होऊ किण कारणे रे, हिवे किसो करणो अहमेव ॥

सुदर्शन ने सोचा—''कर्म की गति बडी टेढी होती है। कर्मो से बलवान जग मे और कोई नही है। उन्हें भोगे बिना उनसे छुटकारा नही होता। मेरे पिछले कर्मो का उदय हुआ है। मैंने किसी पिछले भव में किसी की चुगली की होगी, किसी पर कलङ्क लगाया होगा, द्विपद-चतुष्पदो का छेदन किया होगा अथवा वनस्पतिकाय का भेदन अथवा किसी के भात-पानी का विच्छेद किया होगा। मैंने साधु-सन्तो को सन्ताप दिया होगा या कुपात्र-दान दिया होगा। मैंने अपना या दूसरे का शील भग किया होगा अथवा साधुओ का अपमान किया होगा। इसीलिए मैं आज शूली पर चढाया जा रहा हूँ। बडे बडे ऋषि-महर्षियो को भी किये का फल भोगना पडता है। उन्होने समभाव से कष्टो को सहन किया। मैं भी उदय में आये हुए कर्मो को समभाव से झेलू। मैंने बबूल बोया तो आम कैसे फलेगा? अपने बांधे हुए कर्म स्वय को ही भोगने पडते हैं। फिर मैं दु ख क्यो करूँ?''

देवताओ ने शूली को सिंहासन के रूप मे परिणत कर दिया। सुदर्शन के शील की महिमा चारो ओर फैल गयी। राजा ने सुदर्शन से अपने अपराध की क्षमा चाही और बोले ''यह सारा राज्य आपको अर्पित है। आप राज्य करें।'' सुदर्शन बोला ''मैंने अभिग्रह लिया था कि यदि मैं उपसर्ग से बच गया तो सयम ग्रहण करूगा। मेरा उपसर्ग दूर हुआ, अत अब मैं सयम-ग्रहण करूगा। अभया रानी और पडिता धाय से मैं क्षमत-क्षामना करता हूँ। मुझ से कोई अपराध हुआ हो तो वे क्षमा करें।'' राजा बोले '' इन दुष्टाओ ने बडा अकार्य किया। मैं शीघ्र ही इनके प्राण-हरण करूँगा।'' सुदर्शन बोला ''अभया रानी और पडिता धाय ने तो मेरा उपकार ही किया है। इन्ही के कारण मेरी कीर्त्ति हो रही है। अत आप इनकी घात न करें।'' राजा बोला ''बुराई के बदले भलाई करनेवाले जगत मे विरले ही होते हैं—एहवा औगुण ऊपर गुण करे, ते तो विरला छे ससार हो लाल।'

इसके बाद सुदर्शन सयम लेने की बाट जोहते हुये रहने लगा। उसकी भावनाएँ इस प्रकार रही ''आज मेरा मनोरथ पूरा हुआ है। मन-चिन्तित कार्य सिद्ध हुआ है। शील से मेरी लाज बची। मैंने चारो गतियो में भ्रमण किया। कभी सशय दूर नही हुआ। अब मुझे मनुष्य-जन्म मिला है। जैन धर्म पाया है। इस अमूल्य अवसर को पाकर मुझे धर्म का पालन करना चाहिए। मैं पांचो महाव्रतो को ग्रहण करूँगा। बारह प्रकार के तपो का सेवन करूँगा। साधुओ के यहां आते ही ससार को छोड दीक्षा लूगा।''

मनोरथ पूरो थयो, सुण प्राणी रे। मन चितव्या सरिया काज, आज सुण प्राणी रे ॥
जग में जस वध्यो घणो, सुण प्राणी रे। म्हारी रही शील सू लाज, आज सुण प्राणी रे ॥
सजम पाले तू जीवडा, पाम्यों नहीं भवपार। जामण मरण करतो थको, भमियो ए ससार ॥
कबहुक नरक निगोद में, कबहू तिर्यंच मझार। कबहुक सुर नर देवता, इण रीते भम्यो ससार ॥
कबहुक इष्ट सजोगियो, कबहुक इष्ट वियोग। कबहुक भोगज भोगव्या कबहुक अति घणो रोग ॥
इण रीते भमता थका, मेट्यो नहीं भ्रमजाल। अबे अपूर्व पामियो, श्री जिन धर्म रसाल ॥
धर्म तणा [illegible] अवसर पाय। धर्म बिहूणा मानवी, गया ते जन्म गमाय ॥
अब पाच महाव्रत आदरू [illegible] परिग्रह त्याग। बारे भेदे तप तपू, [illegible] ॥
इम भावना भावता, मन आण्यो अति वैराग। जो इहां साधु पधारसी, तो करसू ससार नो त्याग ॥

पर आ पहुँचे। वेश्या ने श्राविका का रूप बनाया और मुनि सुदर्शन से गोचरी की अर्ज करने लगी। मुनि गोचरी के लिए घर के अन्दर गये। वेश्या बोली—"आप कुछ विश्राम करें। खेद को दूर कर एकांत में बैठ भोजन करें।" यह कह षट्रस भोजन थाल में परोस मुनिवर के सम्मुख धर दिया। उस थाल को देखकर साधु सुदर्शन समझ गये—यह श्राविका नहीं, यह तो कोई कुपात्र नारी है। यह विचार कर वे वापिस लौटे परन्तु वेश्या ने सारे द्वार बंद कर दिये थे, जिससे बाहर न जा सके और वापिस चौक में आ गये। अब देवदत्ता ने श्राविका का वेष छोड़ दिया और सोलह शृङ्गार कर उपस्थित हुई और मुनि को भोग भोगने के लिए प्रार्थना करने लगी। मुनि अग्र मात्र भी विचलित नहीं हुए। अब वेश्या ने मुनि को दोनों हाथों से पकड़, अपने महल में ले जा, अपनी शय्या पर बिठा दिया। इस तरह तीन दिन बीत गये, पर मुनि अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। मुनि की इस समय की चित्त-स्थिति को स्वामीजी ने इस प्रकार चित्रित किया है

> **जेहवो गोलो मेणको, ताप लागां गल जाय।**
> **ज्यूं कायर पुरुष नारी कने, तुरत डिगजावे ताय॥**
> **जेसो गोलो गार को, ज्यूं धमे ज्यूं लाल।**
> **ज्यूं सूर पुरुष स्त्री कनें, अडिग रहे व्रत भाल॥**
> **गार गोला री दीधी ओपमा, साधु सुदर्शन नें जिनराय।**
> **जिम जिम उपसर्ग ऊपजे, तिम तिम गाढो थाय॥**
> **उपसर्ग उपनो वेश्या तणो, समरचो श्री नवकार।**
> **सागारी अणसण लियो, सरण पडिवजिया चार॥**
> **तीन रात दिन लगे, खम्यो घोर परिषह जाण।**
> **शील मांहें सेंठो रह्यो, तिणरा जिनवर किया बखाण॥**

जिस प्रकार मोम का गोला ताप लगने से गल जाता है, उसी प्रकार कायर पुरुष नारी के समीप तुरत डिग जाता है। जिस प्रकार गार का गोला ज्यों-ज्यों तपाया जाता है वैसे-वैसे लाल होता जाता है, वैसे ही शूर पुरुष स्त्री के समीप अडिग रहता है। भगवान ने सुदर्शन को गार के गोले की उपमा दी है। जैसे-जैसे उपसर्ग होते गये शील के प्रति उसकी भावना गाढ होती गयी। जब यह वेश्या का उपसर्ग उत्पन्न हुआ तो उसने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया[1], चारों शरण ग्रहण किये और सागारी अनशन कर दिया। सुदर्शन ने इस तरह तीन दिन तक परिषह सहन किया।

सुदर्शन को अडिग देख कर वेश्या ने उन्हें तीन दिन के बाद डंडे मार कर घर के बाहर निकाल दिया।

अब मुनि ने विचार किया—मैं बहुत बड़े उपसर्ग से बचा हूँ। उचित है कि अब मैं संथारा करूँ। जिस तरह वीर पुरुष संग्राम के मंच पर जाने के लिए आगे-आगे बढ़ता जाता है, उसी तरह मुनि ने श्मशान में जाकर संथारा ठा दिया।

इधर अभया रानी मर कर व्यंतरी हुई। उसने मुनि सुदर्शन को देखकर उन्हें डिगाने का विचार किया। वह सोलह शृङ्गार कर उनके सम्मुख उपस्थित हुई, बत्तीस प्रकार के नाटक दिखाए। और भोग-सेवन की प्रार्थना करने लगी। मुनि शुभ ध्यान ध्याते रहे—"निश्चल मन नें थिर कर्यो, जाणेक मेरु समान।" जब मुनि विचलित नहीं हुए तब उसने विकराल रूप बना उष्ण परिषह दिया। मुनि ने तब भी समताभाव रखा। अब उसने पक्षिणी का रूप बनाया और चोंच में ठण्डा जल भर-भर कर मुनि पर छिड़कने लगी। इस शीत परिषह में भी मुनि ने सम परिणाम रखे। अब देवता प्रगट हुए। व्यंतरी को भगा कर उपसर्ग दूर किया।

सुदर्शन अनगार चढ़ते हुए वैराग्य से शुक्ल ध्यान में आसीन थे। न वे व्यंतरी पर कुपित हुए और न देवताओं पर प्रसन्न। वे रागद्वेष से दूर रह समभाव में अवस्थित रहे। मुनि को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और उसी रात्रि में मोक्ष पहुँचे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि सुदर्शन का जीवन किस तरह उत्तरोत्तर घोर संघर्ष का जीवन रहा। उनका नाम आज भी प्रमुख ब्रह्मचारियों में लिया जाता है। ब्रह्मचर्य के मार्ग में साधक को किस तरह तीव्र से तीव्र तर भावना रखनी चाहिए, उसका आदर्श इस अनुपम चरित्र से प्राप्त होता है।

१—जैन-धर्म में नमस्कार-मंत्र को किस तरह रक्षा-कवच माना गया है, यह इससे प्रकट है।

२०-बाल ब्रह्मचारिणी ब्राह्मी और सुन्दरी

हम पहले यह बता चुके हैं कि जैन धर्म मे पुरुष और स्त्री दोनो को समानरूप से ब्रह्मचर्य-पालन का उपदेश दिया गया है। इस उपदेश का स्थायी प्रभाव यह हुआ कि जैन इतिहास के हर युग मे ऐसी आदर्श स्त्रियाँ देखी जाती हैं, जिन्होने अतुलित आत्मबल के साथ आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया और आध्यात्मिक क्षेत्र मे पुरुषो के समान ही दीप्त हुई। जैन इतिहास के अनुसार ऋषभदेवजी जैनो के आदि तीर्थंकर हैं। उनके ब्राह्मी और सुन्दरी दो पुत्रियाँ थी और दोनो ही ने आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन किया।

महात्मा गांधी ने एक पत्र में लिखा था—"... हमारी स्त्रियो को पत्नी बनना आता है, बहन बनना नही आता। बहन बनने में बडी त्यागवृत्ति की जरूरत है। जो पत्नी बनती है, वह पूरी तरह बहन बन ही नही सकती। यह मेरे खयाल से तो स्वयसिद्ध है। सच्ची बहन सारी दुनिया की बहन हो सकती है। पत्नी अपने को एक पुरुष के हवाले कर देती है। जगत् की बहन बनने का गुण मुश्किल से आता है। जगत् की बहन तो वही बन सकती है, जिसमे ब्रह्मचर्य स्वाभाविक बन गया हो और सेवाभाव बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच गया हो[1]।"

ब्राह्मी और सुन्दरी का जीवन महात्मा गांधी के विचारो के अनुसार ही स्वाभाविक ब्रह्मचर्य का जीवन था और दोनो जगत्-भर की सेवा-परायण बहिनें थी।

ऋषभदेवजी के दो रानियाँ थी, एक सुमगला और दूसरी सुनदा। सुमगला के ब्राह्मी और भरत यमजरूप से उत्पन्न हुए और इसी तरह सुनदा के सुदरी और बाहुबल। सुमगला के ९८ पुत्र और हुए। इस तरह ब्राह्मी के ९९ सगे भाई थे और सुदरी के केवल एक बाहुबल।

दोनो बहिनो ने ६४ कलाएँ सीखी। दोनो ही उत्तम स्त्री के बतीस लक्षणो से सुशोभित थी। ब्राह्मी ने अठारह लिपी सीखी। दोनो ही बहिनें बडी शीलवती थी। उनके मन में कभी विषय-वासना आती ही नही थी। दोनो बहिनो ने अपने पिता ऋषभदेवजी से विनती की "हमें शील प्रिय है। हमारी सगाई न करें। हम किसी की स्त्री कहलाना पसन्द नही करती। हमें सांसारिक प्रियतम की चाह नही।" ऋषभदेवजी बोले "तुम दोनो की करनी मे कोई कमी नही। अच्छा है कि तुम लोगो ने इस मोह-जाल को छिन्न-भिन्न कर दिया।" पुत्रियो की इच्छा से उन्होने दोनो बहिनो का विवाह नही किया। बाद मे ऋषभदेवजी ने प्रव्रज्या ले ली और प्रथम तीर्थंकर के रूप में प्रसिद्ध हुए।

ब्राह्मी अत्यन्त रूपवती थी। भरतजी अपनी बहिन के प्रति मोहित हो गए। उन्होने विचार किया "ब्राह्मी को मैं उत्तम स्त्री-रत्न के रूप में स्थापित करूँ और अन्त पुर मे उसे प्रमुख महारानी रूप मे रखूँ।"

ब्राह्मी की इच्छा दीक्षा लेने की थी। उधर भरत उससे प्रेम करते थे, अत दीक्षा की अनुमति नही देते थे।

जब ब्राह्मी को भरत के मोह की बात मालूम हुई तो उसने अपने रूप की हानि करने के लिए दो-दो दिन के उपवास की तपस्या आरभ कर दी। पारण में जल के साथ एक लूखा अन्न लेती।

भरत का मोह नही छूटा। ब्राह्मी भी सुदीर्घकाल तक इसी तरह तपस्या करती रही।

इस तपस्या से उसका फूल-सा शरीर मुरझा गया। ब्राह्मी के शरीर को इस प्रकार क्षीण देख भरत का मोह दूर हुआ। उसने ममत्व छोड ब्राह्मी को दीक्षा की अनुमति दी। ब्राह्मी और सुदरी दोनो बहिनें दीक्षित हुई और अपनी साधना से दोनो ने मुक्ति प्राप्त की। स्वामीजी ने दोनो बहिनो के चरित्र को इस प्रकार उपस्थित किया है[2]

रिषभ राजा रे राणी दोय हुई, सुमगला सुनदा जूई ए जूई।
दोनूं दोय बेटी जाई, ब्राह्मी ने सुदरी बेहूं थाई॥
ज्या पूरब भव कीनी करणी, बेहूं री काया कोमल कचन वरणी।
वले रूप में कमी नहीं कांई॥
तें स्वारथ सिद्ध थ चव आई, भरत बाहुबल रे जोडे जाई।
बेहूं काया रे हुवा सो भाई॥
भरत बाहुबल दोय मोटा, वले भाई अठाणूं हुवा छोटा।
चित्त में घणी ज्यार चतुराई॥
ब्राह्मी रे हुवा जिनाण वीरा, जालम जाया अमोलक हीरा।
भरत चक्रवति नीं पदवी पाई॥

१—महादेवभाई की डायरी (पहला भाग) पृ० ३८३

२—भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २) भरत चरित—ढाल ११ पृ० ४५०-५१

सुन्दरी रे एक जामण जणियो, बाहूबल कला बहोत्तर भणियो :
पछे सुनदा री कूख न खुली काई ॥
चतुर बायां सीखी चोसठ कला, गुण ज्यांमें पडिया सगला ।
त्यांरी अकल में कुमी नहीं कांई ॥
वेहूं बायां हुई बतीस लखणी, अठारे लिपि एक ब्राह्मी भणी ।
श्री आदि जिनेश्वर सीखाई ॥
एक सील रो स्वाद वस रह्यो मन में, कदे विषेरी बात न तेवडी तन में ।
छोड दीधी ममता सुमता आई ॥
वेहूं वेटी वीनवे बापजी आगे, म्हाने सील रो स्वाद वल्लभ लागे ।
म्हारी मत करजो कोई सगाई ॥
म्हें तो नारी किणरी नहीं बाजां, म्हें तो सासरां रो नाम लेती लाजा ।
म्हारे पीतम री परवाह नहीं कांइ ॥
बापजी बोल्या सुणो वेटी, थें ता मोह जाल ममता मेटी ।
थांरी करणी मे कसर नहीं कांई ॥
भरत नहीं लेवण देवे दीक्षा, ब्राह्मी सील तणी मांडी रक्षा ।
रूप देखी भरत रे वछा आई ॥
सती वेले वेले पारणो कीनों, एक लूखो अन पाणी मे लीनों ।
फूल ज्यू काया पडी कुमलाई ॥
भरत री विषे रू जाणी मनसा, तिणसू ब्राह्मी झाली तपसा ।
साठ हजार वरस री गिणती आई ॥
भरत छोड दीनी मन री ममता, सती रो सरीर देखीनें आइ समता ।
पछे दीपती दीक्षा दराई ॥
वेहूं बायां रे वेराग घणो, वेहू कुमारी किन्या लीधो साधुपणो ।
वेहूं जिनमारग नें दीपाई ॥
वेहूं रिषभदेव नीं हुई चेली, प्रभु बाहूबल पासे मेली ।
सती समझायनें पाछी आई[1] ॥

१—ब्राह्मी और सुन्दरी के जीवन की एक अनोखी घटना का प्रसग यहाँ उल्लिखित है । भरत को छोड कर सुमगला के ९८ पुत्र तीर्थंकर ऋषभदेव के पास दीक्षित हो गये । बाहुबल भी दीक्षित हो गये । बाहुबल वय मे बडे थे पर, दीक्षा मे छोटे थे । दीक्षा के बाद वे घोर तप में प्रवृत्त हुए । गणधरो ने ऋषभदेव से पूछा—"बाहुबल कहाँ है ?" उन्होंने उत्तर दिया— 'वह घोर तपस्या मे रत है। परन्तु वह अपने से दीक्षा में बडे पर आयु में छोटे ९८ भाइयो को अभिमानवश वदना नहीं करता, अत उसे केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता ।" यह सुनकर ब्राह्मी तथा सुन्दरी दोनों बहिने ऋषभदेव के पास आई और बोलीं—"यदि आप आज्ञा दें तो हम बाहुबल को समझा कर मार्ग में लावें ।" ऋषभदेव बोले : "तुम्हें सुख हो वैसा करो । पर तुम लोगों को वह खोजने पर नहीं मिलेगा । [illegible] उसे सुनाना ।" अब दोनों बहिने बाहुबल को समझाने चलीं । जङ्गल मे जाकर वे गाने लगीं

थे राज रमण रिध परहरी, वले पुत्र त्रिया अनेको रे ।
पिण गज नहि छूटो ताहरो, तू मन माहे आण विवेको रे ॥
वीरा म्हारा गज थकी ऊतरो, गज चढियां केवल न होयो रे ।
आपो खोजो आपरो, तो त केवल जोयो रे ॥

यह सुन कर बाहुबल सोचने लगे "मै कौन से हाथी पर चढा हुआ हूँ कि ये मुझे उससे उतरने के लिए कह रही है ? [illegible] का त्याग कर चुका । मेरे पास हाथी कहाँ है ?" फिर उन्होंने सोचा—"ठीक, मै पार्थिव हाथी, घोडे, रथो का तो [illegible] पर अभिमान रूपी हाथी पर अभी भी आरूढ हूँ, जो अपने से दीक्षा मे बडे-छोटे भाइयो की वदना नहीं करता । ऐसा सोच वे विनम्र बन गये और भाई-मुनियो को वदना करने के लिए पैर उठाया । जैसे ही उन्होंने कदम आगे रखा, उन्हें केवलज्ञान हो गया । ब्राह्मी और सुन्दरी वापिस लौटीं । इसी घटना का संकेत इस गाथा मे है ।

सगली साधवियां में हुई रे सिरे, त्यांरा वचन अमोलक रत्न झरे।
त्यांरी वाली सगलां ने सुखदाई॥
घणां वरसां लगे चारित्र पाली, त्यां दोषण दूर दिया टाली।
त्यां घणां जीवां नें दिया समझाई॥
वेहूं वायां री जुगती जोडी, वेहूं मुगत गई आठू कर्म तोडी।
चोरासी लाख पूरव आउ पाई॥

जैन धर्म में स्त्रियां भी किस प्रकार आजीवन ब्रह्मचारिणी रह सकती थी, उसका यह नमूना है। भरत के मोह को दूर करने के लिए ब्राह्मी की तपस्या एक अभिनव प्रयोग है। बाद के तीर्थकरो के युग में भी ऐसे चरित्र-प्राप्त हैं। आज भी जैन सघ मे ब्रह्मचारिणी साध्वियां देखी जाती हैं।

२१-भावदेव और नागला

जैन धर्म मे ऐसी स्त्रियो के अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन्होने अपने उपदेश से गिरते हुए मनुष्यो को उबारा। राजीमती ने मोहारूढ रथनेमि को जो अमूल्य उपदेश दिया, वह परिशिष्ट-क, कथा २० (पृ०१०२-३) में दिया गया है। साध्वी राजीमती वर्षा मे भीगे कपडो को उतार कर उन्हें एक गुफा मे सुखा रही थी। ऐसे ही समय रथनेमि ने भी गुफा में प्रवेश किया। राजीमती को वहां देख उनका मन मोहाच्छन्न हो गया। वे राजिमती से भोग की प्रार्थना करने लगे। राजिमती ने उन्हें फटकारते हुये कहा—"भले ही तू रूप मे वैश्रवण सदृश हो, और भोगलीला मे नलकूबर या साक्षात् इन्द्र, तो भी मैं तेरी इच्छा नही करती। अगन्धन कुल में उत्पन्न सर्प जाज्वल्यमान अग्नि मे जलकर मरना पसन्द करते हैं, परन्तु वमन किये हुए विष को वापिस पीने की इच्छा नही करते। हे कामी! तू वमन की हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा[1]।" "अपनी इन्द्रियो को वश में कर। अपनी आत्माको जीत"—इंदियाइं वसे काउ, अप्पाण उवसहरे (उत्त० २२ ४७)।" रथनेमि पर इसका जो असर पडा उसको आगम मे इस प्रकार बताया गया है "राजिमती के सयम की ओर मोडनेवाले सुभाषित को सुनकर रथनेमि उस तरह धर्म-मार्ग पर आ गये, जिस तरह अकुश से हाथी आता है। वे मनगुप्त, वचनगुप्त, कायगुप्त हुए। श्रामण्य का निश्चलता-पूर्वक पालन करने लगे। दृढव्रती हुए और अन्त मे सर्व कर्मो का क्षय कर अनुत्तर सिद्ध-गति को प्राप्त हुए[2]।"

इसी तरह का दूसरा प्रसग भावदेव और नागला का है। वह नीचे दिया जाता है। भावदेव नागला के पति थे। वे साधु हो गये थे, पर बाद मे विषय-विमूढ हो पुन नागला का सग करना चाहते थे। नागला की भी फटकार रही—"चाहे कोई ध्यानी हो, मौनी हो, मुड हो, वल्कल चीरी हो, तपस्वी हो यदि वह अब्रह्मचर्य की प्रार्थना करता है तो ब्रह्मा होने पर भी वह मुझे नहीं रुचता[3]।" नागला ने अपने पूर्व पति को पतन से किस प्रकार बचाया, उसकी बोधपद कथा इस प्रकार है

१—उत्तराध्ययन २२ ४१-४३

जइऽसि रूवेण वेसमणो, ललिएण नलकूबरो।
तहावि ते न इच्छामि, जइऽसि सक्ख पुरदरो॥
पक्खदे जलिय जोइ, धूमकेउ दुरासय।
नेच्छति वतय भोत्तु कुले जाया अगधणे॥
धिरत्थु तेऽजसोकामी जो त जीवियकारणा।
वत इच्छसि आवेउ सेय ते मरण भवे॥

२—उत्तराध्ययन २२ ४८-५०

३—उपदेशमाला पृ० १३५

जइ ठाणी जइ मोणी जइ मुडी वक्कली तवस्सी वा।
पत्थितो अ अबभ, बभावि न रोयए मज्झ॥

भवदेव और भावदेव दोनो एक सम्पन्न परिवार की सन्तान थे। वह परिवार सम्पन्न तो था ही, साथ ही साथ धर्मप्रिय भी था। माता-पिता सभी धर्मप्रिय थे। दादी तो उन सबसे दो कदम आगे थी। भवदेव धर्माभिरुचि की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उसने दीक्षा ले ली। सन्यासी जीवन विताने लगा। एक दिन वह अपने गुरु से बोला—"मैं अपने गांव जाना चाहता हूँ।" गुरु ने पूछा "क्यो ?" प्रत्युत्तर मिला "मैं अपना कल्याण तो करता ही हूँ। चाहता हूँ, मेरा भाई भी स्वकल्याण करे।" गुरु ने आज्ञा देते हुए कहा—"अपने सयम का खयाल रखना।" भवदेव गांव आये। इच्छा लेकर आये—"मैं जैसा आत्मिक सुख पा रहा हूँ, वैसा ही मेरा भाई भी पाये।" गांव आने पर मालूम हुआ कि भाई आज ही शादी करके आया है।

भावदेव बडी खुशी से भ्रातृ-मुनि के दर्शन करने आया। मुनि ने पूछा—"शादी कर ली।" भावदेव बोला—"हां।" मुनि ने कहा—"फस गया जाल में। बध गया बधन में। अब भी छूट, सांसारिक सुखो में कुछ नही है। अपना कल्याण कर, आत्म-रमण कर।" भवदेव ने ससार की अनित्यता वतलाई। कुछ वैराग्य ने और कुछ बडे भाई के सकोच ने 'हां' भरा दी। माता ने सहर्ष अनुमति दे दी। नव विवाहिता वहू से माता ने अनुमति के लिए कहा। उसने भी हां भरते हुये कहा—"यदि वे दीक्षा लें तो मेरी सहर्ष आज्ञा है। मेरा विचार दीक्षा का नही है। मैं श्राविका-धर्म का पालन करूगी। आप उन्हें देख लेना। वाद में साधुपन न पला तो घर में जगह नही है। मुझसे उनका कोई सरोकार नही रहेगा।" माता वोली—"वहू, ऐसे क्यो वोलती हो ? एक भाई साधु है ही, वह अच्छी तरह साधुपन पालता है। यह भी पाल लेगा।" वहू ने कहा—"पाल लेंगे तो ठीक ही है।"

भावदेव दीक्षित हो गया। दोनो भ्रातृ-मुनि गुरु के पास आये। भावदेव साधु-जीवन विताने लगे। किसी तरह की गलती नही करते। भाई का सकोच था। पर साधुपन का रग उनकी रग-रग में जमा नही, रमा नही। वे सोचते—"मैं कहां आ गया, कब गाव जाऊंगा।" विकार उत्पन्न हुआ, पर भाई का सकोच था। प्रतिज्ञा की—भाई के जीते-जी घर नही जाऊंगा, साधु ही रहूँगा।

एक दिन एक ज्योतिषी आया। भावदेव पूछ बैठा—"मुझे भाई का कितना सुख है ?" ज्योतिषी ने वताया—"बहुत वर्ष बाकी हैं।" भावदेव के मन में आया—यहाँ तो एक-एक क्षण वर्ष की तरह बीत रहे हैं और उधर ज्योतिषी कहता है—बहुत वर्ष वाकी हैं। क्या किया जाय ? कब भाई मरे, कब गांव जाऊँ ? उनके रहते भला कैसे जाऊँ ?

पूरे बारह वर्ष बीत गये। भाई को बीमारी ने आ घेरा, मुनि भवदेव स्वर्गगामी हो गये। अब भावदेव को रोकनेवाला कौन था ? शर्म किस की थी ? बहुत दिनो की आशा पूर्ण हुई और उसने सुख की सांस ली।

सुबह होने को था। लोग मृत शरीर का जलूस निकालने के कार्यक्रम मे व्यस्त थे। भावदेव अपनी योजना बना रहा था। उसने नवीन वस्त्रो की गठरी बांधी। फटे पुराने धर्मोपकरणो को छोडा, पर साधु-वेष नही छोडा। सूर्योदय से पूर्व ही उसने यात्रा का श्री गणेश कर ग्राम का रास्ता लिया।

भावदेव विचारो में लीन, चलता जाता था। चलते-चलते ग्राम आया। "सीधा घर कैसे जाऊँ ?" यह प्रश्न उसके मन मे बार-बार उठता। आखिर गांव के बाहर एक रमणीक बाग में उसने डेरा डाल दिया।

सयोग ऐसा मिला, कि नागला (इनकी पत्नी) अपनी सहेलियो के साथ कही जा रही थी। उसने मुनि को देखा और उसे बडा हर्ष हुआ। "धन्य भाग्य जो आज सन्त-दर्शन हुए।" उसने दर्शन करने के लिये सहेलियो से चलने को कहा, पर उन्होने टाल दिया। नागला अकेली ही दर्शन को चली। दर्शन कर उसने पूरी तीन दफे प्रदक्षिणा दी तथा सुखसाता पूछी।

उसके मन में आया—"मुनि अकेले कैसे ? अकेला रहना साधु को नही कल्पता। गुरु की आज्ञा होगी। साधु अकेली स्त्री से वात करते ही नही। दूर से ही कह देते हैं—'हमे कल्पना नहीं है।' इन्होंने तो कुछ कहा नहीं।"

इधर मुनि ने सोचा—"यह औरत आकर जाती है, क्यो न इसी से सब वात पूछी जाय ? " मुनि ने आवाज दी। जवाब मिला—"महाराज ! मैं अकेली हूँ।" मुनि ने कहा—"ऐसी क्या वात है, तुम दरवाजे के बाहर खडी हो, मैं भीतर हूँ।"

मुनि ने कहा—"तुम्हारे इस सुग्राम में बडे-बडे श्रावक थे। एक प्रसिद्ध श्राविका भी थी, जिसका नाम था रेवती, भावदेव की माता। यह सब जीवित है या नहीं ? "

नागला ने सोचा—"यह सब नाम तो मेरे परिवार के ही हैं। जवाब मुझे सोच-विचार कर देना चाहिए।" असमंजस में पडी हुई

थी। फिर बोली—"महाराज ! मैं याद कर रही हूँ, कौन रेवती है। नगरी वडी है, यहाँ रेवती कई हैं।"

इस तरह नागला वडे सोच-विचार के वाद जवाव देती है। अपना कुछ भी भेद न देती हुई मुनि का भेद लेती है। विचार के वाद उसने वताया—"मैं रेवती को जानती हूँ। वडी नामी श्राविका थी। उसके वरावर श्रावक व्रतो मे कोई मजवूत नही है। ब्रह्मचर्य-व्रत धारिणी, रात्रि को चौविहार का त्याग और भी नाना प्रकार के त्याग प्रत्याख्यान किये उसने।"

मुनि ने कहा—"यह तो जानता हूँ, वडी पक्की श्राविका थी। अव वह जीवित है या नही?" नागला ने वताया—"वह अव जीवित नही है। उसे देवलोक प्राप्त हुए कई वर्ष हो गए।"

मुनि ने सुख की श्वास ली। न अव भाई रहा है, न माता। वह दोनो तरफ से आजाद है। मुनि ने कहा—"एक वात फिर पूछनी है। रेवती के लडके की वहू थी, वह अव जीवित है या नही?"

नागला ने मन ही मन कहा—"आई वात समझ में। ये मेरे लिए आतुर हैं। ये तो वे हैं" उसने थोडा क्रोध दिखाते हुए कहा—"महाराज ! आप कैसी वाते करते हैं? कभी रेवती जीवित है या नही, कभी नागला जीवित है या नही। क्या मतलव है आपको स्त्रियो से? साधु पूछ सकता है—आहार-पानी की जोगवाई कहाँ होगी? लोगो में धर्म-ध्यान की रुचि कैसी है? सो तो नही, अमुक जीवित है या अमुक मर गई। मुझे शक होता है, आपकी नियत पर। आपको ऐसी वातो से क्या प्रयोजन?"

मुनि ने सोचा कि वात आगे न वढ जाय और वोले—"वह मेरी पत्नी है, इसीलिए मैंने पूछा है।"

नागला वोली—"महाराज ! कैसी अविचार पूर्ण वातें करते हैं? न कभी सुना न देखा, कि जैन साधु के भी पत्नी होती है।"

मुनि वोले—"मेरा नाम भावदेव है। आज से वारह वर्ष पूर्व की वात है। मैं शादी करके आया ही था। मैंने अभी 'ककण-डोरडं का वन्ध भी नही तोडा था। इसी समय मेरे वडे भाई ने जो मुनि थे, मुझे सांसारिक वन्धनो से वचने का उपदेश दिया। मैं उसे टाल न सका, साधु वन गया।"

नागला वीच मे ही पूछ वैठी, "तो क्या आपको जवरदस्ती साधु वना लिया गया?" मुनि ने कहा—"नही, मेरी रजामन्दी थी। मैं भाई की वात न टाल सका।"

"अच्छा जव वारह वर्ष वित गये तो अव फिर क्या वात है?"

"अव मैं नागला की खोज में हूँ।"

"नागला तन-मन से आपकी वाञ्छा नही करेगी, वह मेरी सहेली है। उसने रेवती की ठोकर खाई है। वहाँ तक न जाकर यहीं से लौट जाइये।"

भावदेव को भान नही रहा। वे वोल उठे "तू जानती है दूसरो के मन की वात? मैं जिस नागला को क्षण भर भी नहीं भूलता, अवश्य वह भी हरवक्त मेरे लिए कौवे उडाती होगी। भला, स्त्री के लिए पति के सिवाय और है ही क्या?" आप साधु नहीं हैं, मैं पक्की श्राविका ठहरी,"

"अच्छा चलती हूँ"—नागला वोली।

नागला चिन्तातुर घर को चली। क्या किया जाय? नाडी विल्कुल धीमी पड चुकी है। आप जानेवाले हैं। नाम मात्र का साधु वेष है। मैं क्या करूँगी, घर आ ही गये तो? वह इसी उधेडवुन में घर पहुची। कुछ हल निकाला जाय। अपनी विश्वासपात्र पडोसिन के पास गई। सारी वात कह सुनाई। सलाह-मशविरा कर, सारी योजना वनाकर दोनो चली उस वाग मे, जहाँ मुनि ठहरे थे।

मुनि अपने घर की ओर रवाना होना ही चाहते थे कि इतने में नागला अपनी सहेली के साथ आ पहुची। वोली—"हम सामायिक कर रही हैं।"

भावदेव ने सोचा—"इनके देखते कैसे जाऊँगा। उन्हे सामायिक न करने को कहा। नागला वोली—"हम दो हैं। [illegible] सकता है।" और दोनो ने सामायिक पचख ली।

"अव क्या किया जाय? इतनी देर और रुकना पडेगा। भावदेव विचार में पड गया। [illegible] [illegible] आया। और [illegible]" और [illegible] लगा।

'[illegible] देख! मेरे सामायिक है'—नागला ने कहा।

"मां ! ऐ मां !! एक बात कहूँ" और वह गोद में आ ही गया। माता पहले गोद में आने के लिए मना करती थी। अब पुचकारने लगी, दुलारने लगी।

"कहो वत्स ! क्या बात है ?"

मुनि मन ही मन सोचने लगे—"कैसी मूर्ख स्त्री है। अभी-अभी मना कर रही थी। अब दुलार रही है !"

बच्चा बोला—"मां ! आज तूने खीर बडी अच्छी बनाई। रसास्वाद अच्छा, केशर की गंध और बादाम, नोजा, पिस्ता, चिटकी के मिश्रण से बडी स्वादिष्ट बनी। मैं खाने बैठा और खाता ही गया। सारी खीर खाकर ही रहा। पर मां ! कै हो आई। सारी खीर खाई, वैसे ही बाहर निकल आई। मेरे हाथ-पैर सभी अंग सन्न हो गये। नीचे न गिरने दी।"

"फिर क्या किया ?" माता ने लाड से पूछा।

"मां ! करता क्या ? खीर बडी सुस्वादु थी। गवाई जा नही सकती थी। कै में निकली खीर को मैं फिर चाट गया। मां ! वह बडी स्वादिष्ट लगी। चाटते-चाटते हाथ पैरो को भी साफ कर दिया।"

माता ने वात्सल्य-भाव दिखाते हुए कहा—"बहुत अच्छा किया बेटा ! खीर गवाई नही। भला छोडी भी कैसे जाती ?"

मुनि से न रहा गया। एक तरफ ये घिनौनी बातें, ऊपर से माता का लाड ! बच्चे ने कुत्ते का काम किया और फिर दुलार—समर्थन ? कैसी उलटी गंगा बह रही है ? वे बोल पडे—"तुम कितनी मूर्ख हो ? यदि बच्चे के द्वारा कोई अच्छा काम होता तो सराहना भी करती।"

बस और क्या चाहिए था, नागला बोल पडी "बच्चा है, कर भी लिया तो क्या ? कहने चलो हो किस मुह से। बारह वर्ष का साधुत्व गवाने जा रहे हो। कै की तरह छोडे काम-भोगो को चाटने जा रहे हो। वह तो बच्चा है, चाट भी लिया ! तुम इतने बडे होकर चाटने की इच्छा रखते हो ? कहते शर्म नही आती। कहना सरल है, करना कठिन ! पर खबरदार यदि घर की तरफ पैर बढाया तो पैर काट लूगी। मैंने रेवती की ठोकर खाई है। तन, मन, वचन से पुरुष मात्र की वाञ्छा नही करती। आपसे मेरा कोई सरोकार नही है। न मैं आपकी हूँ न आप मेरे हैं। आप लार चूसनेवाले न हो।"

मुनि की आँखें खुल गई। यही है नागला। मैं बडा नीच हूँ। कहाँ मैं मुनि था, कहाँ भ्रष्ट होने जा रहा हूँ। उसने कहा—"मैं इन कामभोगो को यावज्जीवन के लिए ठुकराता हूँ। आज तुमने मुझे सत्पथ पर ला दिया, इसके लिए आभारी हूँ। पर गुरु के पास कैसे जाऊँ ? मैं बिना आज्ञा आ गया था।"

नागला ने कहा "चलिए। किसी बात का डर नही है।" वह उन्हें गुरु के पास ले गई। सारी बात बताई। भावदेव पुन साधु-जीवन बीताने लगे। वे सयम में रत हो गये। और अन्त मे स्वर्ग-सुखो को प्राप्त किया। वे ही अगले जन्म मे जम्बूकुमार हुए। जिन्होने अति उच्च वैराग्य-वृत्ति से साधुपन लिया और भगवान महावीर के तीसरे पट्टधर हो मुक्ति प्राप्त की[1]।

३२-नंदिषेण

जैन इतिहास मे ब्रह्मचर्य की साधना से पतन के अनेक रोमाञ्चकारी प्रसग मिलते हैं। पतन के बाद जो उत्थान के चित्र हैं वे और भी हृदयस्पर्शी है। नदिषेण का प्रसग एक ऐसा ही प्रसग है।

नदिषेण मगधाधिपति श्रेणिक के पुत्र थे। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे। नदिषेण ने प्रव्रज्या ग्रहण की।

एक बार मुनि नदिषेण ने तीन दिन का उपवास किया। पारण के दिन वे भिक्षा के लिए निकले। भिक्षा के लिये भ्रमण करते-करते वे एक वेश्या के घर के द्वार पर आ पहुँचे। वेश्या मुनि को देख विनोद करने लगी "मुझे धर्म-लाभ नहीं चाहिये, अर्थ-लाभ चाहिए।"

मुनि को इस विनोद से क्रोध आ गया। साथ ही उनमें अपनी शक्ति का गर्व भी जागा। उन्होंने अपने तपोबल से वेश्या के घर में रत्नों का ढेर कर दिया।

वेश्या साधु की करामात को देखकर आश्चर्य-चकित हो गई। नदिषेण अत्यन्त रूपवान थे। वेश्या उनके प्रति मोहित हो गयी। उसी

१—(क) भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड २) जम्बूकुमार चरित—ढाल ३-५ पृ० ५५९-५६३

(ख) जैन भारती (१९५३) वर्ष १ अङ्क ८ पृ० ९९-१०२ में संक्षिप्त। वहाँ आचार्य तुलसी द्वारा कथित कथा विस्तार से दी हुई है।

नदिषेण का हाथ पकड़, उन्हें घर के अन्दर खींच लिया और प्रेमपूर्वक बोली "आपने धर्मलाभ और अर्थलाभ तो दिया, पर एक लाभ और दें। मैं आप से भोगलाभ की याचना करती हूँ। आप तपस्वी हैं, इनसे से आपका तप नष्ट नहीं होगा।"

मुनि नदिषेण का मन विचलित हो गया। उनके पूर्व संस्कार जागृत हो गये। वेश्या की इच्छापूर्ति करने के लिए वे उसी के यहाँ रहने लगे। उन्होंने मन को संतोष देने के लिए नियम लिया—"मैं यहाँ रह कर भी रोज धर्मोपदेश से दस व्यक्तियों को समझा कर प्रव्रज्या के लिये भगवान महावीर के पास भेजा करूंगा और फिर भोजन करूंगा।"

यह क्रम चलता रहा। परन्तु एक दिन नदिषेण दस व्यक्तियों को प्रतिबोधित नहीं कर सके। उधर भोजन तैयार हो चुका था। भोजन करने के लिए बार-बार आदमी बुलाने के लिए आ रहा था, पर नदिषेण अपनी प्रतिज्ञा को पूरी किये बिना भोजन नहीं कर सकते थे।

आखिर वेश्या स्वयं उन्हें बुलाने के लिए आई। नदिषेण बोले "अभी तक नौ ही व्यक्ति प्रतिबोधित हुए हैं। एक व्यक्ति और प्रतिबोधित हुए बिना मैं भोजन नहीं कर सकता।"

गणिका हंसी में बोली "फिर दसवें आप ही क्यों नहीं हो जाते?"

गणिका की बात नदिषेण के हृदय को भेद गई। उसने सोचा—"मैं केवल दूसरों को प्रतिबोध देता हूँ और स्वयं फंदे में फंसा हूँ। दसवां व्यक्ति मैं ही बनूंगा।'

नदिषेण उसी समय भगवान महावीर के पास जाने के लिए तैयार हो गये। गणिका रोने लगी। नाना तरह से विलाप करने लगी। अपने विनोद के लिए माफी मांगने लगी, पर नदिषेण का पुरुषत्व जागृत हो चुका था। वे रुके नहीं। सीधे भगवान महावीर के पास पहुँचे। दुष्कृत्य की निन्दा की। प्रायश्चित्त लिया। और पुनः दीक्षित हुए।

दीक्षा के बाद वे तपस्वी जीवन बिताने लगे और अन्त तक दृढ़ता के साथ संयम का पालन किया।

२३-मुनि आर्द्रक

घोर पतन के बाद उत्थान का दूसरा चित्र मुनि आर्द्रक के जीवन में मिलता है।

आर्द्रक अनार्य देश के निवासी थे। उन्होंने अपने आप दीक्षा ले ली। एक बार विहार करते-करते वे वसंतपुर पहुँचे और नगर के बाहर एक स्थान में ठहरे और ध्यानावस्थित हो गये।

वसंतपुर में देवदत्त नामक सेठ रहता था। उसकी पुत्री का नाम श्रीमती था। वह बड़ी सुन्दर थी। वह अन्य बालाओं के साथ क्रीड़ा करती-करती उसी स्थान में पहुँच गयी, जहाँ मुनि आर्द्रक ठहरे हुए थे। सब बालाएँ खेलने लगीं। खेल शुरू करने से पूर्व बालाओं ने आपस में तय किया—'सब अपना-अपना मनचाहा वर चुन लें।' बालाओं ने एक दूसरे को वर के रूप में चुन लिया। श्रीमती बोली "मैं तो इस ध्यानस्थ मुनि को ही वर के रूप में चुनती हूँ।"

बालाएँ परस्पर पति-रमण की क्रीड़ा कर अपने-अपने घर चली गयीं। आर्द्रक मुनि भी वहाँ से चले गये।

देवदत्त श्रीमती की सगाई की चेष्टा करने लगा। उसने वर की तलाश करनी शुरू की। श्रीमती बोली "मैंने खेल में एक मुनि को पतिरूप में चुना था। मेरे पति वे ही हो सकते हैं। मैं और किसी से विवाह न करूँगी।'

मुनि वसन्तपुर से विहार कर चुके थे और कहाँ थे, इसका पता नहीं चलता था। देवदत्त इससे चिन्तित हुआ। [illegible] मुनि पुनः वसन्तपुर आये। व्यवस्था के अनुसार देवदत्त ने मुनि को अपने घर भोजन पधारने की प्रार्थना की। मुनि [illegible] पधारे। श्रीमती ने उन्हें पहचान लिया और बोली [illegible] यही वे मुनि हैं, जिन्हें मैंने खेल में [illegible] से चुना था।'

सेठ ने श्रीमती के प्रण की बात कही और अपनी पुत्री से विवाह करने का अनुरोध किया। मुनि आर्द्रक विचलित हो गये। [illegible] तोड़ दिया। उन्होंने विवाह करना स्वीकार किया। [illegible] श्रीमती ने शर्त स्वीकार की।

आर्द्रक और श्रीमती का विवाह हो गया और दोनों [illegible] करते हुए समय बिताने लगे।

[illegible] श्रीमती को पुत्र उत्पन्न हुआ। आर्द्रक जाने के लिए तैयार हुए। श्रीमती बोली—[illegible]

तक आप न जाय। अभी तो वह न होने के बराबर है। मेरा मन कैसे लगेगा?" आर्द्रक रुक गये। वालक वडा हुआ और चलने-फिरने लगा। वह अपनी मां से बात करने लायक भी हो गया। अब आर्द्रक जाने को तैयार हुए। श्रीमती चिंतित हो गई, आखिर में उसे एक उपाय सूझा। एक चर्खा लेकर वह कातने बैठी। पुत्र ने पूछा—"मां! यह क्या करती हो?" श्रीमती बोली "पुत्र! तुम्हारे पिता हम दोनो को छोडकर जाना चाहते हैं। तू अभी छोटा है। कमाने लायक अभी नही हुआ। अत मैं यह उद्यम सीख रही हूँ, जिससे भविष्य में तुम्हारा पोषण कर सकू।"

यह सुनकर वालक ने माता के काते हुए सूत की गुडी हाथ मे ले ली और पिता के पास पहुँच उस कच्चे सूत से उनके आंटे देने लगा। यह देखकर आर्द्रक हसने लगे और बोले—"तू यह क्या कर रहा है?" वालक बोला "आप हम लोगो को छोड कर जाना चाहते हैं। मैंने आप को बांध लिया है। देखें अब आप कैसे जायगे?"

आर्द्रक गभीर हो गये। उन्होने लपेटे हुए सूत के धागे गिने और वालक से बोले "तुमने जितने आंटे दिए हैं, उतने वर्ष और तुम्हारे साथ रहूँगा।"

देखदे-देखते उतने वर्ष बीत गए। आखिर आर्द्रक ने श्रीमती और वालक से बिदा ली तथा श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचे। उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की और सयम का दृढतापूर्वक पालन करते हुए रहने लगे।

आर्द्रक कुल २४ वर्ष तक श्रीमती के साथ रहे। उसके बाद वे पुन मुनि हुए।

३४-ब्रह्मचर्य और उसका फल

ब्रह्मचर्य का फल बताते हुए पतञ्जलि ने कहा है—"ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ[१]"—ब्रह्मचर्य से वीर्य की प्राप्ति होती है। इसकी टीका मे इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसको उसके प्रकर्ष से निरतिशय वीर्य का—सामर्थ्य का लाभ होता है। वीय-निरोध ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से शरीर, इन्द्रिय और मन मे प्रकर्ष वीर्य-शक्ति उत्पन्न होती है—"य किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशय वीर्य सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम्, तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमन सु वीर्यं प्रकर्षमागच्छति।"

पतञ्जलि ने जो बात कही, वही महात्मा गांधी ने अन्य शब्दो में इस प्रकार कही है—"सब इन्द्रियो का सयम करनेवाले के लिए वीर्य-सग्रह सहज और स्वाभाविक क्रिया हो जाती है[२]।" उनके अनुभव के अनुसार वीर्य अनमोल शक्ति है। तन, मन और आत्मा का बल—तेज बनाये रखने के लिए वह परमावश्यक है। वे लिखते हैं—"वीर्य को पचा लेने का सामर्थ्य लबे अभ्यास से प्राप्त होता है। यह अनिवार्य भी है, क्योकि इससे हमें तन-मन का जो बल मिलता है, वह और किसी साधना से नही मिल सकता[३]।" "सारी शक्ति उस वीर्य-शक्ति की रक्षा और ऊर्ध्वगति से प्राप्त होती है, जिससे कि जीवन का निर्माण होता है। अगर इस वीर्य-शक्ति को नष्ट होने देने के बजाय सचय किया जाय, तो यह सर्वोत्तम सृजन-शक्ति के रूप में परिणत हो सकती है[४]।" वीर्य की इस अमोघ शक्ति को ध्यान मे रख कर ही ऋषि ने कहा "मरणं विन्दुपातेन जीवन विन्दुधारणात्।" महात्मा गाधी ने कहा है—"जिस वीर्य में दूसरे मनुष्य को पैदा करने की शक्ति है, उस वीर्य का निकम्मा स्खलन होने देना महान अज्ञान की निशानी है[५]।" "नित्य उत्पन्न होनेवाले वीर्य का अपनी मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक शक्ति बढाने मे उपयोग कर लेना चाहिए[६]।"

१—पातञ्जल योगसूत्र २ ३८

२—आरोग्य की कुंजी पृ० ३

३—अनीति की राह पर पृ० १०८

४—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२

५—आरोग्य की कुंजी पृ० ३२

६—वही पृ० ३४

तक आप न जाय। अभी तो वह न होने के बराबर है। मेरा मन कैसे लगेगा ?" आर्द्रक रुक गये। बालक बड़ा हुआ और चलने-फिरने लगा। वह अपनी मा से बात करने लायक भी हो गया। अब आर्द्रक जाने को तैयार हुए। श्रीमती चिंतित हो गई, आखिर में उसे एक उपाय सूझा। एक चर्खा लेकर वह कातने बैठी। पुत्र ने पूछा—"मा ! यह क्या करती हो ?" श्रीमती बोली "पुत्र ! तुम्हारे पिता हम दोनों को छोड़कर जाना चाहते हैं। तू अभी छोटा है। कमाने लायक अभी नहीं हुआ। अत मैं यह उद्यम सीख रही हूँ, जिससे भविष्य में तुम्हारा पोषण कर सकूं।"

यह सुनकर बालक ने माता के काते हुए सूत की गुडी हाथ मे ले ली और पिता के पास पहुँच उस कच्चे सूत से उनके आटे देने लगा। यह देखकर आर्द्रक हसने लगे और बोले—"तू यह क्या कर रहा है ?" बालक बोला "आप हम लोगो को छोड़ कर जाना चाहते हैं। मैंने आप को बाध लिया है। देखें अब आप कैसे जायगे ?"

आर्द्रक गभीर हो गये। उन्होंने लपेटे हुए सूत के धागे गिने और बालक से बोले "तुमने जितने आंटे दिए हैं, उतने वर्ष और तुम्हारे साथ रहूँगा।"

देखते-देखते उतने वर्ष बीत गए। आखिर आर्द्रक ने श्रीमती और बालक से विदा ली तथा श्रमण भगवान महावीर के पास पहुँचे। उनसे प्रव्रज्या ग्रहण की और सयम का दृढतापूर्वक पालन करते हुए रहने लगे।

आर्द्रक पुन २४ वर्ष तक श्रीमती के साथ रहे। उसके बाद वे पुन मुनि हुए।

३४-ब्रह्मचर्य और उसका फल

ब्रह्मचर्य का फल बताते हुए पतञ्जलि ने कहा है—'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठाया वीर्यलाभ ।'—ब्रह्मचर्य से वीर्य की प्राप्ति होती है। इसकी टीका में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा गया है—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसको उसके प्रकर्ष से निरतिशय वीर्य का सामर्थ्य का लाभ होता है। वीर्य-निरोध ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के प्रकर्ष से शरीर, इन्द्रिय और मन में प्रकर्ष वीर्य शक्ति उत्पन्न होता है—"य किल ब्रह्मचर्यमभ्यस्यति तस्य तत्प्रकर्षान्निरतिशय वीर्य सामर्थ्यमाविर्भवति। वीर्यनिरोधो हि ब्रह्मचर्यम्, तस्य प्रकर्षाच्छरीरेन्द्रियमनःसु वीर्य प्रकर्षमागच्छति।"

चरक सहिता मे कहा है—"जिस तरह गन्ने मे रस, दही मे घी और तिल में तैल रहता है, उसी तरह वीर्य भी शरीर के प्रत्येक भाग मे व्याप्त है। भीगे हुए कपडे मे से जैसे पानी गिरता है, वैसे ही वीर्य भी स्त्री-पुरुष के सयोग से तथा चेष्टा, सकल्प, पीडनादि से अपने स्थान से नीचे गिरता है[1]।"

महात्मा गाधी लिखते हैं "रत्ती-भर रति-सुख के लिए हम मन भर से अधिक शक्ति पल भर मे गवा बैठते हैं। जब हमारा नशा उतरता है, तो हम रङ्क बन जाते हैं[2]।" "जान-बूझ कर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोडना कितनी बडी मूर्खता है? वीर्य का उपयोग तो दोनो की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढाने के लिए है। विषय-भोग मे उसका उपयोग करना उसका अति दुरुपयोग है और इस कारण वह बहुतेरे रोगो की जड बन जाता है[3]।" अत "प्रकृति ने जो शुद्ध शक्ति हमे दे रखी है, हमे उचित है कि उसको शरीर में ही बनाये रखें और उसका उपयोग केवल तन को नही, मन, बुद्धि और धारणा शक्ति को भी अधिक स्वस्थ—सबल बनाने मे करें[4]।" "जिस तरह चूनेवाले नल में भाप रखने से कोई शक्ति पैदा नहीं होती, उसी प्रकार जो अपनी शक्ति का किसी भी रूप में क्षय होने देता है, उसमे उस शक्ति का होना असभव है[5]।"

श्रीमती अलाइस स्टॉकहम ने अपने 'उत्पादक शक्ति' शीर्षक निबन्ध में लिखा कि जब मनुष्य को अन्य प्राकृतिक क्षुधाओ के साथ-साथ विषय-क्षुधा लगती है, तब वह समझ ले कि यह किसी महान् उत्पादक कार्य के लिए प्रकृति का आदेश है। केवल वह विषय-वासना के हीन रूप में प्रकट हो रहा है। वह एक कूवत है जिसको बलिष्ठ इच्छा-शक्ति और दृढ प्रयत्न के द्वारा बडी आसानी से अन्य शारीरिक अथवा आध्यात्मिक कार्य में परिणत किया जा सकता है।

सत टॉल्स्टॉय ने इस निबन्ध पर टिप्पणी करते हुए अपना अनुभव लिखा है •

"मेरा भी यही खयाल है। वह सचमुच एक शक्ति है, जो परमात्मा की इच्छा को पूर्ण करने मे सहायक हो सकती है। वह पृथ्वी पर स्वर्ग-राज्य की स्थापना करने मे अपना महत्वपूर्ण कार्य कर सकती है। ब्रह्मचर्य द्वारा इस शक्ति को ईश्वरेच्छा पूर्ण करने मे प्रत्यक्ष लगा देना जीवन का सर्वोच्च उपयोग है[6]।"

निशीथ भाष्य मे कहा है—"जब-जब काम-विकार की जागृति हो साधक को दीर्घ तपस्या, वैयावृत्य, स्वाध्याय, दीर्घ विहार मे प्रवृत्त होना चाहिए[7]।" इसका तात्पर्य भी यही है कि काम-विकार के समय साधक महान् साधना मे लग जाय तो वह काम-विकार उपशांत हो उस महान् साधना को पूरा होने का अवसर प्रदान करता है। काम-विकार शांत होने पर चित्त-वृत्ति महा तपस्या आदि में परिवर्तित होकर महान् कर्म-क्षय का कारण बनती है।

इस सम्बन्ध मे श्री मशरूवाला ने लिखा है

" अब्रह्मचर्य की जड तो मनोविकार में है, अर्थात् सब स्थूल नियमो का पालन करते हुए भी अगर मन के सामने विकारी वातावरण हो, तो ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता।

"जैसे किसी तेज झरनो वाले कुएँ को साफ करना हो तो उसके झरनो मे गुदडी या मोटा कपडा ठूस कर उसका पानी उलीचना

१—चरकसहिता, चिकि० अ० २

रस इक्षौ तथा दध्नि सर्पिस्तैल तिले तथा।
सर्वत्रानुगत देहे शुक्र सस्पर्शने यथा॥
तत् स्त्रीपुरुषसयोगे चेष्टासकल्पपीडनात्।
शुक्र प्रच्यवते स्थानाज्जलमार्द्रात पटादिव॥

२—अनीति की राह पर पृ० ९१

३—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० ६

४—अनीति की राह पर पृ० ९०-९१

५—ब्रह्मचर्य (प० भा०) पृ० १०२

६—स्त्री-और पुरुष पृ० ५३-४

७—देखिए पृ० ११५ पा० टि० १ (ख)

हिवें कहुं छू जू जूइ, सील तणी नव वाड। दसमो कोट ते चिहुं दिसा माहे ब्रह्मचर्य वरत सार ॥ (ढाल २ दु० १)

ए नव वाड कही ब्रह्मचर्य री, हिवे दसमों कहूँ छै कोट। ए वाड लोपी वींदे रखो, तिण मे मूल न चाले खोट ॥ (ढा०११ दु०१)

इन दोहो मे तथा इनी कृति में अन्यत्र प्रयुक्त 'नव वाड' शब्द के ग्राधार पर इस कृति का नाम 'शील की नव वाड' पड गया मालूम देता है और यह कृति इसी नाम से प्रसिद्ध है।

इस कृति का मूलाधार उत्तराध्ययन सूत्र का १६ वाँ 'ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानक' अध्ययन है, जैसा कि स्वामीजी ने स्वय ही लिखा है

उतराधेन सोलमा मझारो, तिणरो लेई नें अनुसारो। तिहा कोट सहीत कही नव वाड, ते सखेप कह्यों विसतार ॥ (ढा०११ गा०१२)

उत्तराध्ययन मे समाधि-स्थानको का सक्षेप मे वर्णन है। स्वामीजी ने उनका विस्तार से वर्णन किया है। ऐसा करते हुए स्वामीजी ने अन्य आगमो के उल्लेखो को भी गर्भित कर लिया है। सदर्भित आगम-स्थलो को टिप्पणियो मे सगृहीत कर दिया गया है। उन्हें देखने से पता चलेगा कि इस कृति के पीछे कितना गभीर आगम-अध्ययन रहा हुआ है।

यह कृति वि० स० १८४१ मे रचित है। इसका रचना-स्थल मारवाड का पादु ग्राम है। कृति के अन्त में निम्नलिखित गाथा मिलती है

इगतालीसे ने ससत अठार, फागुण विद दसमीं गुरवार। जोड कीधी पादू मझार, समझावणनें नर नार ॥

३६-श्री जिनहर्षजी रचित शील की नव बाड़

परिशिष्ट—ग मे (पृ० १२८ से १३४) श्री जिनहर्षजी रचित 'शील की नव बाड' दी गई है। इसकी दो प्रतियाँ देखने को मिली—एक सरदारशहर के सग्रह की और दूसरी श्री अभय जैन ग्रथालय, बीकानेर के सग्रह की। दोनो ही प्रतियाँ कई स्थलो पर अशुद्ध हैं। हमने सरदारशहर की प्रति को मूल माना है और थोडे से विशिष्ट पाठान्तर बीकानेर की प्रति से दिये हैं।

सरदारशहर की प्रति से रचना-सवत का पता नही चलता। उसमें रचना-सवत इस प्रकार लिखा मिलता है—"निधि नयण सरस भाद्र पदि बीज आलस छाडि" बीकानेर की प्रति से रचना-काल स० १७२९ निकलता है—"निधि नयण सर ससि भाद्र पद वदि बीज आलस छाडि।"

दोनो ही प्रतियाँ विक्रमपुर मे लिखित हैं। सरदारशहर वाली प्रति स० १८४४ की है। प्रशस्ति मे लिखा है—"प० सुगुण प्रमोद मुनि लिपि कृत॥ महिमा प्रमोद मुनि हुकुम कीयो जिदै लिप दीनो॥" बीकानेर की प्रति मे लेखन संवत् नही है। अन्त में लिखा है—"प० जीतमाणिक्येन लिपीकृता।"

दोनो प्रतियो में अनेक स्थलो पर काफी अन्तर है। सभव है कि विक्रमपुर मे इस कृति की एकाधिक प्रतियाँ रही हो और ये प्रतियाँ भिन्न-भिन्न प्रतियो के आधार से हो। सभवत मूलकृति ही विक्रमपुर में हो और पाठान्तर लिपिकर्त्ताओ के कारण बन गये हो।

स्वामीजी की कृति स० १८४१ की रचना है। और श्री जिनहर्षजी की कृति बीकानेर की प्रति के आधार से स० १७२९ की। इस तरह श्री जिनहर्षजी की कृति पुरानी ठहरती है।

श्री जिनहर्षजी की कृति में कुल २५ दोहे और ७१ गाथाएँ हैं, जब कि स्वामीजी की कृति में कुल ४६ दोहे और १६७ गाथाएँ।

श्री जिनहर्षजी की कृति मे नौ बाडो का ही वर्णन है, जब कि स्वामीजी की कृति मे उत्तराध्ययन-वर्णित दसवें समाधि-स्थानक का भी कोट के रूप में वर्णन है।

स्वामीजी ने श्री जिनहर्षजी की कृति का उपयोग अपनी कृति मे किया है। नीचे हम इस विषय में विस्तार से प्रकाश डाल रहे हैं।

ढाल—१

श्री जिनहर्षजी की कृति मे इस ढाल में ७ गाथाएँ और ७ दोहे हैं और स्वामीजी की कृति में ८ गाथाएँ और ८ दोहे। दोहो मे से १,२,५,६ और ७—ये पाच प्राय एक-से हैं। सामान्य शाब्दिक परिवर्तन है।

तीसरे दोहे का चौथा चरण स्वामीजी की कृति मे 'जिन पावन हुवइ देह' के स्थान मे "पामे भवजल छेह" है। चौथे दोहे के प्रथम चरण मे "सुगुरु जो पोते कहे' के स्थान मे स्वामीजी की कृति मे "कोड केवली गुण करे' है और अन्तिम चरण मे "तौ पिण कह्या न जाइ" के स्थान मे 'पूरा कह्या न जाय' है।

प्रथम गाथा के प्रथम दो चरण प्रायः मिलते हैं। अन्तिम दो चरण भिन्न हैं। 'इम न्याग्रह जोडिने धरीये तिण सु नेह रे" के स्[थान] मे स्वामीजी की कृति मे "सीयल सू सिव सुख पामीये, त्यां सुखा रो कद नावे छेह रे" है। स्वामीजी की दूसरी गाथा नवीन है। जिनह[र्षजी] की तीसरी गाथा स्वामीजी की कृति मे नही है। चौथी गाथा अन्य शब्दो मे है।

छठी गाथा के "जतनकरी व्रत राखिवउ हीयडै अतिरंग आणि रे' के स्थान मे स्वामीजी की गाथा मे "तिण सीयल विरत रा जतन [क]र्‍यां वेगी पामो निरवाण रे' है। इसी तरह सातवी गाथा के "कीधी तिण तर पापती ए नव वाडि सुजाण रे" के स्थान में ८ वीं गाथा "कीधी तिण विरत ने राखवा, नव वाड दसमो कोट जाण रे' है।

इस तरह स्वामीजी की कृति की ८ गाथाओ मे से ४½ प्रायः जिनहर्षजी की कृति से मिलती हैं।

ढाल—२

श्री जिनहर्षजी की दूसरी ढाल मे ७ गाथाएँ और आरम्भ मे २ दोहे हैं। स्वामीजी की कृति मे १० गाथाएँ और ८ दोहे हैं। स्वामी[जी] के आठो दोहे पृथक् हैं। दस गाथाओ मे चार मिलती हैं छः पृथक् हैं।

प्रथम गाथा के 'जिण थी सिव सुख पामीये सुंदर तनु सिणगार हो भवीयण" के स्थान मे स्वामीजी की कृति में ' जिण थी सिव [सुख] पामीये, तू राख मन सुध सिणगार हो। ब्रह्मचारी" है। तीसरी गाथा के ' कुसुल किहा थी तेहनइ पामे दुष अघोर हो" के स्थान मे स्वामीजी की कृ[ति] मे "कुसल किहा थी तेहो नार वाली नरोड हो ' है।

ढाल—३

श्री जिनहर्षजी [illegible] २ [illegible] ८ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति मे २ दोहे और १४ गाथाएँ। स्वामीजी के दोनो द[ोहे] पृथक् हैं। जिनहर्षजी के दोनो [illegible] ढाल २ [illegible] ७ वें दोहे के रूप में मिलते हैं। दूसरे दोहे के "आवे अळतो अ[illegible] सिरि बीजी वाडि [illegible]" [illegible] स्वामीजी के दोहे की शब्द-रचना इस प्रकार है—' आवे अळतो आल सिर, वले हुवे वरत पिण फोक'

स्वामीजी [illegible] १४ गाथाओं में से पहली, दूसरी और तीसरी तीन गाथाएँ मिलती है। तीसरी गाथा कृतियों मे क्रमशः इस प्रकार [है]:

वानी कोइल जेहवी रे वारण कुंभ उरोज। वाणी कोयल जेहवी रे, हाथ पाव रा कूं रे समाण।
हंसगमनि [illegible] रे [illegible] चरण सरोज रे प्राणी ॥३॥ हंस गमणी कटी सींह समी रे, नाभि ते कमल समाण रे ॥३॥

ढाल—४

रूपै रभा सारिषी मीठा बोली नारि।	रूप रभा सारिषी रे, वले मीठाबोली हुवे नार।
तौ किम जोवै एहवी तो भर योवन व्रत धारि छ० ना० ॥६॥	ते निजर भरेनें निरखतां रे, वरत नें होवें विगाड ॥ छ० ना० ॥४॥
अबला इन्द्री जोवतां मन थायै वसि प्रेम।	अबला इन्द्री निरखतां रे, बांधे विष रस पेम।
राजमती देषी करी हो तुरत डिग्यो रहनेमि छ० ना० ॥७॥	राजमती देखी करी रे, तुरत डिग्यों रहनेम ॥ छ० ना० ॥६॥
रूप कूप देषी करी माहि पडे कामध।	रूप में रूडी देखनें रे, मांहें पडे काम अध।
दुष मांगे जांगें नही हो कहै जिनहरष प्रवध छ० ना० ॥८॥	छख मांगें जाणे नहीं रे, ते पाडें दुरगत नो बध ॥ छ० ना० ॥५॥

ढाल—६

श्री जिनहर्षजी की कृति मे २ दोहे और ७ गाथाएँ हैं और स्वामीजी के की कृति में ३ दोहे और ७ गाथाए। स्वामीजी का दूसरा दोहा जिनहर्षजी के प्रथम दोहे से मिलता-जुलता है

सयोगी पासै रहै ब्रह्मचारी निसदीस।	सजोगी पासे रहें, बह्मचारी दिन रात।
कुशल न तेहनां व्रत भगी भाजै विसवावीस ॥१॥	तेह तणा सब्द छणयां, हुवें वरत नी घात ॥२॥

सामान्य शाब्दिक समानता के अतिरिक्त गाथाएँ प्राय भिन्न हैं।

ढाल—७

जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ६ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में २ दोहे और १५ गाथाएँ। प्रथम दोहा मिलता-जुलता है

छठी वाडै इम कह्यो चचल चित्त म डिगाय॥	हिवें छठी वाड़ में इम कह्यों, चचल मन म डिगाय।
षाधौ पीधौ विलसीयौ रे तिण सू चित म लगाय॥१॥	खाधों पीधों विलसीयों, ते मत याद अणाय ॥१॥

गाथाएँ सर्वथा भिन्न हैं। जिनरक्षित का शास्त्रीय उदाहरण मिलता है, पर सर्वथा अन्य शब्दो में है।

ढाल—८

श्री जिनहर्षजी की कृति में २ दोहे और ७ गाथाएँ हैं और स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और १६ गाथाए। मिलते-जुलते दोहे इस प्रकार हैं :

षाटा षारा चरचरा मीठा भोजन जेह।	खाटा खारा चरचरा, वले मीठा भोजन जेह।
मधुरा मोल कसायला रसना सहु रस लेह ॥१॥	वले विविध पणें रस नीपजें, ते रसना सव रस लेह ॥३॥
जेहनी रसना वसि नही चाहै सरस आहार।	जेहनीं रसना वस नहीं, ते चाहें सरस आहार।
ते पामे दुष प्राणीयौ चौगति रूलै ससार ॥२॥	ते वरत भागे भागल हुवे, खोवे ब्रह्म वरत सार ॥४॥

पहली गाथा जिनहर्षजी की दूसरी गाथा से मिलती-जुलती है

कमल झरै उपाडतां घृत विंदु सरस आहारो रे।	कवलांकरें आहार उपारतां, घ्रत विन्दू झरतों आहार भारी रे।
ते आहार निवारीयै तिण थी वधे विकारो रे ब्र० ॥२॥	एहवो आहार सरस चांप २ नें, नित २ न कर ब्रह्मचारी रे ॥
	ए वाड म लोपो सातमीं ॥१॥

अन्य गाथाएँ सर्वथा भिन्न हैं। कई दृष्टान्त सामान्य होने पर भी बिल्कुल पृथक् भाषा में हैं।

ढाल—६

श्री जिनहर्ष रचित ढाल मे २ दोहे और ५ गाथाएँ हैं और जब कि स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और ४० गाथाएँ। मिलते-जुलते दोहे इस प्रकार हैं :

अति आहारे दुष हुवै गलै रूप लगात।	अति आहार थी दु:ख हुव, गळ रूप वल यात।
आल्स नींद प्रमाद घण दोष अनेक कहाव ॥ १ ॥	परमाद निद्रा आल्स हुव, वले अनेक रोग होय जात ॥ २ ॥

घणे आहारे विस चढे घणेज फाटे पेट ।	अति आहार थी विषे वधे, घणोइज फाटे पेट ।
धान अमानो ऊरता हांडी फूटे नेट ॥ २ ॥	धान अमाउ उरता, हांडी फाटे नेट ॥ २ ॥

ये गाथाएँ बिल्कुल भिन्न हैं। कुंडरीक का शास्त्रीय उदाहरण सामान्य है। जिनहर्षजी की द्वितीय गाथा का चौथा चरण 'उणोदरीए गुण घणा' स्वामीजी की ३८ वीं गाथा में अवतरित है।

ढाल—१०

श्री जिनहर्ष रचित ढाल में २ दोहे और ४ गाथाएँ हैं। स्वामीजी की कृति में ४ दोहे और ८ गाथाएँ हैं। दोनों कृतियों का एक दोहा मिलता है

अंग विभूषा जे करै ते सजोगी होइ ।	सरीर विभूषा जे करे, ते सजोगी होय ।
ब्रह्मचारी तन सोभवै तिण कारण नवि कोइ ॥ २ ॥	ब्रह्मचारी तन सोभवे, ते कारण नहीं कोय ॥ ३ ॥

तीन गाथाओं में शब्द-साम्य इस प्रकार है

सोभा न करै देहनी न करै तन सिणगार ।	सोभा न करणी देह नी रे लाल, नहीं करणो तन सिणगार। ब्रह्मचारी रे ॥
ऊगटणा पीठी करै न करै किण ही वारो रे ।	पीठी उगटणों करणो नहीं रे लाल, मरदन नहीं करणो लिगार । ब्र० ॥
ए नवमी वाड सुधी पालो मोटी शीलनी तो ने मीत कहुं हितकारो रे सु० ॥	ए नवमी वाड ब्रह्म व्रत नी रे लाल ॥ १ ॥
ऊन्हा पाणी सिर मुंह न करै अंग अंघोल ।	ठंडा उन्हा पाणी थकी रे लाल, मुल न करणो अंगोल । ब्र० ॥
केसर चंदन कुसुम पांने न करइ चोलो रे सु० ॥ १ ॥	केसर चंदण नहीं चरचणा रे लाल, दांत रंग न करणा चोल । ब्र०ए० ॥२॥
बहु मोला ऊजला न करै वस्त्र बणाव ।	बहु मोला ने उजला रे लाल, ते वस्त्र ने पेहरणा नाहिं । ब्र० ॥
टीका तिलक नहीं करै धारी नहीं भाव रे सु० ॥ २ ॥	टीका तिलक करणा नहीं रे लाल, ते पिण नवमीं वाड़ रे माहिं ॥ब्र०ए० ॥३॥
कांकण कुंडल मुंदडी मोती माणिक हार पहिरै नहीं ।	कांकण कुंडल ने मुदड़ी र लाल, वले माला मोती ने हार ॥ब्र०॥
गहणा नहीं ब्रह्मचारी अलंकारो रे सु० ॥ ३ ॥	ते ब्रह्मचारी पहर नहीं रे लाल, वले गेहणा विविध परकार ॥ब्र०ए०॥४॥

ढाल—११

टिप्पणियो मे उन आगम-स्थलो को दे दिया गया है, जिनका उपयोग स्वामीजी ने कृति में किया है।

परिशिष्ट-क में कृति मे सकेतित कथाएँ विस्तार से दे दी गई हैं।

परिशिष्ट-ख मे ब्रह्मचर्य–विषयक आगमिक आधारो को एक जगह सगृहीत कर दिया गया है।

परिशिष्ट-ग मे श्री जिनहर्षजी रचित 'शील की नव वाड' दी गयी है।

परिशिष्ट-घ मे पुस्तक के सम्पादन मे प्रयुक्त पुस्तको की विवरण-तालिका दी गयी है।

भूमिका मे भिन्न-भिन्न ३६ मुद्दो पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक विचारको में सत टॉल्स्टॉय और महात्मा गाधी का स्थान अग्रगण्य है। उनके विचारो को विस्तार से देते हुए आगमिक विचारो से उनकी यथाशक्य तुलना की गई है। महात्मा गाधी के प्रयोग और नव वाड विषयक उनके विचारो को अतीव विस्तार से इसलिए दिया है कि जैनो का ध्यान उस ओर जा सके और वे उनपर गभीरता-पूर्वक चिंतन कर सकें। भूमिका मे जैन पाठको के समक्ष कुछ ऐसी बातें आयेंगी जिनकी ओर उनका ध्यान गया ही न हो अथवा थोडा गया हो और जो नया चिंतन तथा खोज चाहती हैं।

इस अवसर पर मैं उन सब विद्वानो, लेखको और प्रकाशको के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनकी कृतियो का उपयोग मैंने इस पुस्तक के सम्पादन मे किया है।

श्री अगरचन्दजी नाहटा का मैं विशेष रूप से ऋणी हूँ, जिन्होने मुझ श्री जिनहर्षजी रचित "शील की नव बाड" की हस्तलिखित प्रति मवलोकनार्थ देने की कृपा की।

स्वामीजी की कृति "शील की नव वाड" का यह सस्करण पाठको को कुछ भी लाभप्रद हो सका, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा।

१५, नूरमल लोहिया लेन
कलकत्ता
२८ दिसम्बर, १९६१

श्रीचन्द रामपुरिया

शील की नव बाड़

दुहा

१—श्री नेमीसर चरण जुग,
प्रणमू उठ परभात ।
बावीसमां जिण जगत गुर,
ब्रह्मचारी विख्यात ॥

१—मैं प्रातः उठकर श्री नेमीश्वर भगवान् के चरण-युगल को नमस्कार करता हूँ,[1] जो बाईसवें जगद्गुरु—तीर्थंकर और विश्वविख्यात ब्रह्मचारी थे।

२—सुंदर अपछर सारिखी,
विद्यु सम राजकुमार ।
भर जोबन में जुगति सू,
छोड़ी राजल नार ॥

२—राजकुमार नेमिनाथ ने पूर्ण युवावस्था में युक्तिपूर्वक अप्सरा के समान सुन्दर और विद्युत के समान तेजस्विनी राजुल कुमारी (राजिमती) का परित्याग किया[2]।

३—ब्रह्मचर्य जिण पालीयो,
धरतां दूधर जेह ।
तेह तणां गुण वरणव्यां,
पांमें भव जल छेह ॥

३—जिन्होंने दुर्धर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया, ऐसे महापुरुष के गुण-गान से जीव जन्म-मरण रूपी समुद्र का पार पाता है।

४—क्रोड़ केवली गुण करें,
रसना सहस वणाय ।
तो ही ब्रह्मचर्य नां गुण घणां,
पूरा कह्या न जाय ॥

४—करोडों केवली सहस्र-सहस्र जिह्वाओं से ब्रह्मचर्य के गुणों का गान करें[3] तो भी उसके इतने अधिक गुण हैं कि उनका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता।

५—गलित पलित काया थई,
तो ही न मूकें आस ।
तरुण पणें जे वरत धरें,
हूं वलीहारी तास ॥

५—काया जीर्ण-शीर्ण हो जाती है तो भी आशा नहीं छूटती। जो तरुण अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते हैं, मैं उनकी बलिहारी जाता हूं।

६—जीव विमासी जोय तू,
विषय म राच गिंवार।
थोडा सुखां रे कारणे,
मूरख घणा म हार॥

६—हे जीव! तू विचार कर देख। हे मूर्ख! विषय में रुचि मत कर। हे मूढ! थोडे वैषयिक सुखों के लिए बहुत सुखों को मत खो[1]।

७—दस दिष्टंते दोहिलो,
लाधो नर भव सार।
सील पालो नव वाड़ सूं,
ज्यूं सफल हुवे अवतार॥

७—दस दृष्टान्तों[1] के अनुसार दुर्लभ यह सार मानव देह तुम्हें मिली है। नौ बाड सहित ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर, जिससे कि तुम्हारा जन्म सफल हो।

८—सील माहें गुण अति घणा,
ते पूरा कह्या न जाय।
थोड़ा सा परगट करूं,
ते सुणजो चित ल्याय॥

८—शील में बहुत गुण हैं,[1] उनका पूरा वर्णन करना शक्ति के बाहर है। फिर भी थोड़ा सा वर्णन करता हूँ, चित्त लगाकर सुनो।

ढाल : १

[मन मधुकर मोही रह्यो]

१—सीयल सुर तरुवर सेवीये,
ते व्रतां माहें गिर्णो छे एह रे।
सीयल सूं सिव सुख पामीये,
त्यां सुखां रो कदे नावें छेह रे॥
सीयल सुर तरुवर सेवीये॥आं०

१—शील रूपी कल्पवृक्ष की आराधना कर। यह व्रत सब व्रतों में प्रमुख है[1]। शील से मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है, जिसका कभी अन्त नहीं होता।

४—विरख तिण वन में सील रूपीयो,
तिणरें मूल दिढ समकित जांण रे।
साखा छै महाव्रत तेहनीं,
प्रति साखा अणुव्रत वखांण रे ॥ सी०

४—जिन-शासन रूपी उस वन मे शील रूपी वृक्ष है, जिसका सम्यक्त्व रूपी दृढ मूल है, महाव्रत जिसकी शाखाएँ है और अणुव्रत प्रशाखाएं।

५—साध साधवी श्रावक श्रावका,
त्यांरा गुण रूप पत्र अनेक रे।
महुकर करम सुभ बंध नों,
परमल गुण वशेख रे ॥ सी०

५ साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं के नाना गुण उसके विविध पत्र है। शुभ कर्म-बन्ध उसपर मँडरानेवाले भ्रमर है। विशिष्ट चारित्रिक गुण उसके परिमल है।

६—उत्तम सुर सुख रूप फूलड़ा,
सिव सुख ते फल जांण रे।
तिण सीयल विरख रा जतन करों,
ज्यूं वेगी पांमों निरवांण रे ॥ सी०

६—दैविक सुख उसके पुष्प है और मोक्ष-सुख उसके फल। ऐसे शील वृक्ष [8] की यत्नपूर्वक रक्षा करो, जिससे शीघ्र ही तुम्हें निर्वाणपद की प्राप्ति हो।

७—संसार सीयल थकी उधरे,
जो पाले नव कोटी अभंग रे।
तो स्वयंभू रमण जितलों तिर्यों,
सेप रही नदी गंग रे ॥ सी०

७—जो नव कोटि से शील का अक्षुण्ण रूप से पालन करता है, संसार से उसका शीघ्र ही उद्धार हो जाता है [9]। वह स्वयम्भूरमण को तैर चुका। उसके लिए गंगा के समान नदी का तैरना ही अवशेष है [10]।

८—उत्तराधेन रें सोल में,
बंभ समाही ठांण रे।
कीधी तिण विरख नें राखवा,
नव वाड़ दसमों कोट जांण रे ॥

८—उत्तराध्ययन सूत्र का सोलहवाँ अध्ययन ब्रह्मचर्य समाधि-स्थानक है। वहाँ शील रूपी वृक्ष के संरक्षण के लिए नव वाड व दसवाँ कोट बताया है [11]।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

प्रथम दोहे मे चौबीस तीर्थंकरो म से नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) का ही वन्दन किया गया है। प्रश्न हो सकता है कि अन्य तीर्थंकरों को छोड़कर बाईसवें तीर्थंकर को ही नमस्कार क्यो किया गया? इसका उत्तर यह है कि चौबीस तीर्थंकरों मे से बाईस तीर्थंकर विवाहित होने के बाद ही प्रव्रजित हुए थे। केवल मल्लिनाथ और नेमिनाथ ही ऐसे दो तीर्थंकर थे जिन्होने पाणिग्रहण नहीं किया और कुमार अवस्था म प्रव्रजित हुए। अत ये दोनों ही तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी थे। इन दोनो म नेमिनाथ बाद के तीर्थंकर थे। अत आसन्न तीर्थंकर होने से शील के विषय में रचना करते समय कवि ने आदि मंगल के स्थान मे एक बाल ब्रह्मचारी के रूप मे उनका स्मरण किया है। तीर्थंकर मल्लिनाथ का उल्लेख बाद के अन्य प्रसग म आया है।

नेमिनाथ विवाह के लिए उद्यत हुए। बारात रवाना हुई और तोरण द्वार तक पहुँच गई। ऐसे अवसर पर नेमिनाथ तोरण से वापस लौट पड़े। अनुपम लावण्यवती कुमारी के साथ विवाह का प्रसंग उपस्थित था ऐसी परिस्थिति मे विवाह न करने का निश्चय कर उन्होने अहिंसा ही नहीं ब्रह्मचर्य के क्षेत्र

में भी एक अद्भुत पदार्थ पाठ संसार के सम्मुख रखा। इस तरह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे अनुपम जगद्गुरु सिद्ध हुए, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं। जैसे तपस्या के क्षेत्र में तीर्थंकर महावीर श्रेष्ठ तपस्वी माने जाते हैं, वैसे ही भोग-त्याग के विषय में नेमिनाथ उत्कट त्यागी और ब्रह्मचारी माने जाते हैं। इसी कारण स्वामी जी ने अपनी कृति के आरम्भ में उनका स्मरण किया है। श्रीमद् जयाचार्य ने कहा है

प्रभु नेमि स्वामि तू जगनाथ अतरजामी।
तू तोरण स्यू फिरयो जिन स्वाम, अद्भुत बात करी तें अमाम ॥ १ ॥
राजेमती छाड़ी जिनराय शिव सुन्दर स्यू प्रीत लगाय ॥ २ ॥
केवल पाया ध्यान वर ध्याय इन्द्र शची निरखे हर्षाय ॥ ३ ॥
नेरिया पिन पाने मन मोद तुझ कल्याण सुर करत विनोद ॥ ४ ॥
राग रहित शिव सुख स्यू प्रीत कर्म हणे वलि द्वेष रहित ॥ ५ ॥
अचरिजकारी प्रभु थारो चरित्र हूँ प्रणमूँ कर जोड़ी नित्य ॥ ६ ॥

[२] दोहा १, २ :

प्रथम दो दोहों में नेमिनाथ और राजिमती का नामोल्लेख है। जिस जीवन प्रसंग के कारण उनका नाम स्मरण किया गया है उसका विवरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २२ वें अध्ययन में मिलता है।

परिशिष्ट में पूरा विवरण दिया गया है। देखिए परिशिष्ट क कथा १।

[३] दोहा ४ :

ब्रह्मचर्य का गुणगान 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में इस प्रकार किया गया है

अर्थात् शरीर के सब अंग गल गये हैं, बाल पक गये हैं, मुख में एक भी दाँत नहीं है, बुढापा आ गया है, लाठी के सहारे चलता है, उसपर भी वह वृद्ध आशा का पिण्ड नहीं छोड़ता है। अरे मूर्ख! तू आशा को छोड़कर गोविन्द का भजन कर।

[५] दोहा ६ :

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है[1]

"जैसे एक ककणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरों को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य को हार जाता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों के लिए उत्तम सुखों—देव सुखों को खो देता है।"

"मनुष्यों के काम-भोगों को सहस्रों गुणा करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओं के काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्यों के काम देवताओं के कामों के सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहर की तुलना में कंकणी व राज्य की तुलना में आम। प्रज्ञावान की देवलोक में जो अनेक अयुत वर्षों की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्ष से भी न्यून आयु में विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार जाता है।"

"इस सीमित आयु में काम-भोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योग क्षेम को नहीं समझते?"

स्वामीजी ने इस छट्ठे दोहे में जो बात कही है वह 'उत्तराध्ययन' आगम के उपर्युक्त प्रवचन से प्रभावित मालूम देती है।

ककणी और आम्रफल की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २ और ३।

[६] दोहा ७ :

मनुष्य भव-प्राप्ति की दुर्लभता को बताने के लिए जो दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, उनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है। देखिये परिशिष्ट-क कथा ४-१२।

[७] ढाल गा० १, २ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बत्तीस उपमाएँ देकर ब्रह्मचर्य को विनय, शील तपादि सब गुण समूह से प्रधान बताया है। स्वामीजी का संकेत उसी ओर लगता है। वे उपमाएँ नीचे दी जाती हैं

१—जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र तारादि में चन्द्रमा प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२—जिस प्रकार मणि मोती, प्रवाल और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३—जिस प्रकार रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

४—जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

५—जिस प्रकार वस्त्रों में क्षौम युगल वस्त्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

६—फूलों में जिस प्रकार कमल (अरविंद कमल) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

७—जिस प्रकार चन्दनों मे गोशीर्ष चन्दन प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

८ जिस प्रकार चमत्कारी औषधियों के उत्पत्ति स्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

९—जिस प्रकार नदियों में शीतोदा नदी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१०—जैसे स्वयम्भू रमण समुद्र सब समुद्रों में महान् अतएव प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों मे ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

११—जिस प्रकार मानुषोत्तर कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों मे रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एवं प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

१२—जिस प्रकार हाथियों में शकेन्द्र का ऐरावत हाथी प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१—उत्तराध्ययन अ० ७ गा० ११ : १२ : १३ : २४

जहा कागिणिए हेउ सहस्सं हारए नरो। अपच्छं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए॥ ११॥

एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए। सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥ १२॥

अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई। जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणवाससयाउए॥ १३॥

कुसग्गमेत्ता इमे कामा, सन्निरुद्धम्मि आउए। कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे॥ २४॥

में भी एक अद्भुत पदार्थ पाठ ससार के सम्मुख रखा। इस तरह ब्रह्मचर्य के क्षेत्र में वे अनुपम जगद्गुरु सिद्ध हुए, इसमे कोई अतिशयोक्ति नहीं। जैसे तपस्या के क्षेत्र म तीर्थंकर महावीर श्रेष्ठ तपस्वी माने जाते हैं, वैसे ही भोग-त्याग के विषय में नेमिनाथ उत्कट त्यागी और ब्रह्मचारी माने जाते हैं। इसी कारणवश स्वामी जी ने अपनी कृति के आरभ मे उनका स्मरण किया है। श्रीमद्द जयाचार्य ने कहा है

प्रभु नेमि स्वामि, तू जगनाथ अंतरजामी।
तू तोरण स्यू फिरचो जिन स्वाम, अद्भुत वात करी तें अमाम ॥ १ ॥
राजेमती छाड़ी जिनराय शिव सुन्दर स्यू प्रीत लगाय ॥ २ ॥
केवल पाया ध्यान वर ध्याय, इन्द्र शची निरखे हर्षाय ॥ ३ ॥
नेरिया पिण पामै मन मोद तुझ कल्याण सुर करत विनोद ॥ ४ ॥
राग रहित शिव सुख स्यू प्रीत कर्म हणे वलि द्वेष रहित ॥ ५ ॥
अचरिजकारी प्रभु थारो चरित्र हूँ प्रणमूँ कर जोड़ी नित्य ॥ ६ ॥

[२] दोहा १, २ :

प्रथम दो दोहों मे नेमिनाथ और राजिमती का नामोल्लेख है। जिस जीवन प्रसग के कारण उनका नाम स्मरण किया गया है उसका विवरण 'उत्तराध्ययन' सूत्र के २२ वें अध्ययन में मिलता है।

परिशिष्ट में पूरा विवरण दिया गया है। देखिए परिशिष्ट क कथा १।

[३] दोहा ४ :

ब्रह्मचर्य का गुण-वर्णन 'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में इस प्रकार किया गया है

' इस एक ब्रह्मचर्य के पालन करने से अनेक गुण अधीन हो जाते हैं। यह व्रत इहलोक और परलोक में यश कीर्ति और प्रतीति का कारण है। जिसने एक ब्रह्मचर्य-व्रत की आराधना कर ली—समझना चाहिए उसने सर्व व्रत शील तप विनय सयम क्षाति समिति गुप्ति यहाँ तक कि मुक्ति की भी आराधना कर ली।

ब्रह्मचर्य व्रत सदा प्रशस्त सौम्य शुभ और शिव है। वह परम विशुद्धि—आत्मा की महान् निर्मलता है। भव्य—मुमुक्षु पुरुषों का आचीर्ण—उनका जीवन है। यह प्राणी को विश्वासपात्र—विश्वसनीय बनाता है। उससे किसी को भय नहीं रहता।

यह तुष—भूसी रहित धान की तरह सार वस्तु है। यह खेदरहित है। यह जीव को कर्म से लिप्त नहीं होने देता। चित्त की स्थिरता का हेतु है। धर्मी पुरुषों का निष्कम्प—शाश्वत नियम है। तप सयम का मूल—आदिभूत द्रव्य है।

आत्मा की अच्छी तरह रक्षा करने में उत्तम ध्यान रूपी कपाट और अध्यात्म की रक्षा के लिए अधिकार रूप आला है। दुर्गति के पथ को रोकनेवाला कवच है। सुगति के पथ का प्रकाशन करनेवाला लोकोत्तम व्रत है।

२२ धर्मरूपी पद्म सरोवर की पाल है, गुण रूपी महारथ की धुरी है और व्रत नियम रूपी शाखाओं से फैले हुए धर्म रूपी वट वृक्ष का

अर्थात् शरीर के सब अंग गल गये हैं, बाल पक गये हैं, मुख में एक भी दाँत नहीं है, बुढ़ापा आ गया है, लाठी के सहारे चलता है, उसपर भी वह वृद्ध आशा का पिण्ड नहीं छोड़ता है। अरे मूर्ख! तू आशा को छोड़कर गोविन्द का भजन कर।

[५] दोहा ६ :

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है

"जैसे एक ककणी के लिए कोई मूर्ख मनुष्य हजार मोहरों को हार जाता है और जैसे अपथ्य आम को खाकर राजा राज्य को हार जाता है उसी तरह मूर्ख तुच्छ मानुषी भोगों के लिए उत्तम सुखों—देव सुखों को खो देता है।"

"मनुष्यों के काम-भोगों को सहस्रों गुणा करने पर भी आयु और भोग की दृष्टि से देवताओं के काम ही दिव्य होते हैं। मनुष्यों के काम देवताओं के कामों के सामने वैसे ही हैं जैसे सहस्र मोहर की तुलना में कंकणी व राज्य की तुलना में आम। प्रज्ञावान की देवलोक में जो अनेक अयुत वर्षों की स्थिति है उसको दुर्बुद्धि—मूर्ख जीव—सौ वर्ष से भी न्यून आयु मे विषय-भोगों के वशीभूत होकर हार जाता है।"

"इस सीमित आयु में काम-भोग कुश के अग्रभाग के समान स्वल्प हैं। तुम किस हेतु को सामने रखकर आगे के योग क्षेम को नहीं समझते?"

स्वामीजी ने इस छट्ठे दोहे में जो बात कही है वह 'उत्तराध्ययन' आगम के उपर्युक्त प्रवचन से प्रभावित मालूम देती है।

ककणी और आम्रफल की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २ और ३।

[६] दोहा ७ :

मनुष्य भव प्राप्ति की दुर्लभता को बताने के लिए जो दस दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, उनका विवरण परिशिष्ट में दिया गया है। देखिये परिशिष्ट-क कथा ४ १२।

[७] ढाल गा० १, २ :

'प्रश्नव्याकरण' सूत्र में बत्तीस उपमाएँ देकर ब्रह्मचर्य को विनय, शील, तपादि सब गुण समूह से प्रधान बताया है। स्वामीजी का संकेत उसी ओर लगता है। वे उपमाएँ नीचे दी जाती हैं

१—जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र तारादि में चन्द्रमा प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२—जिस प्रकार मणि मोती प्रवाल और रत्नों के उत्पत्ति स्थानों में समुद्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३—जिस प्रकार रत्नों में वैडूर्य जाति का रत्न प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

४—जिस प्रकार आभूषणों में मुकुट प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

५—जिस प्रकार वस्त्रो में क्षौम युगल वस्त्र प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

६—फूलों में जिस प्रकार कमल (अरविंद कमल) प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

७—जिस प्रकार चन्दनों में गोशीर्ष चन्दन प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

८ जिस प्रकार चमत्कारी औषधियों के उत्पत्ति स्थानों में हिमवान् पर्वत प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

९—जिस प्रकार नदियों मे शीतोदा नदी प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१०—जैसे स्वयम्भू रमण समुद्र सब समुद्रों में महान् अतएव प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों मे ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

११—जिस प्रकार मानुषोत्तर कुण्डलवर आदि माण्डलिक पर्वतों मे रुचकवर पर्वत श्रेष्ठ एव प्रधान है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों में प्रधान है।

१२—जिस प्रकार हाथियों में शकेन्द्र का ऐरावत हाथी प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१—उत्तराध्ययन अ० ७ गा० ११, १२, १३, २४

जहा कागिणिए हेउं सहस्सं हारए नरो। अपच्छं अम्बगं भोच्चा राया रज्जं तु हारए॥ ११ ॥
एवं माणुस्सगा कामा देवकामाण अन्तिए। सहस्सगुणिया भुज्जो आउं कामा य दिव्विया॥ १२ ॥
अणेगवासानउया जा सा पन्नवओ ठिई। जाणि जीयन्ति दुम्मेहा ऊणे वाससयाउए॥ १३ ॥
कुसग्गमेत्ता इमे कामा सन्निरुद्धम्मि आउए। कस्स हेउं पुराकाउं जोगक्खेमं न संविदे॥ २४ ॥

१३—जिस प्रकार हिरन आदि सभी जानवरों में सिंह बलवान एवं प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१४—जिस प्रकार सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देवों में वेणुदेव प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१५—जिस प्रकार नागकुमार जाति के भवनपति देवों में धरणेन्द्र प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१६—जिस प्रकार सब देवलोकों में ब्रह्मकल्प नामक पाचवाँ देवलोक प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१७—जिस प्रकार सभी सभाओं में सुधर्मा सभा प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१८—जिस प्रकार अनुत्तर विमानवासी देवों की स्थिति सभी स्थितियों में प्रधान है, उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

१९—जिस प्रकार सब दानों में अभयदान प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२०—जैसे कम्बलों में किरमिज रंग की कम्बल प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२१—जिस प्रकार छ संहनन में वज्रऋषभनाराच संहनन प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२२—जिस प्रकार छ संस्थान में समचतुरस्र संस्थान प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२३—जिस प्रकार ध्यान में परम शुक्ल ध्यान अर्थात् अविच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती नामक शुक्ल ध्यान का चौथा भेद प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२४—जिस प्रकार मति श्रुति आदि पाँच ज्ञानों में केवलज्ञान प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२५—जिस प्रकार छहों लेश्याओं में परम शुक्ल लेश्या (सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती नामक शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद में होनेवाली) प्रधान है उसी प्रकार सब ध्यानों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२६—जिस प्रकार मुनियों में तीर्थंकर भगवान् प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२७—जिस प्रकार सब क्षेत्रों में महाविदेह क्षेत्र अतिविस्तृत एवं प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२८—जिस प्रकार सब पर्वतों में मेरु गिरि प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

२९—जिस प्रकार सब वनों में नन्दन वन प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३०—जिस प्रकार सब वृक्षों में जम्बूवृक्ष (सुदर्शन वृक्ष) प्रधान है उसी प्रकार सब व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत प्रधान है।

३१—जिस प्रकार अश्वपति, गजपति रथपति और नरपति प्रधान हैं—प्रसिद्ध हैं उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत भी प्रसिद्ध है।

३२—जैसे महारथ में बैठा हुआ रथी शत्रु सेना को पराजित करता है वैसे ही ब्रह्मचर्य व्रत भी कर्मशत्रु की सेना को पराजित करता है। इस प्रकार अनेक गुण ब्रह्मचर्य व्रत के अधीन हैं।

चौथे ब्रह्मचर्य व्रत की आराधना करने से अन्य व्रतों की भी अखण्ड आराधना हो जाती है जैसे शील तप विनय संयम क्षमा, गुप्ति मुक्ति की। ब्रह्मचारी को इहलोक और परलोक में यश और कीर्ति की प्राप्ति होती है। वह सभी लोगों का विश्वास प्राप्त कर लेता है।

[८] ढाल गा० ३-६ :

१—एक करण एक योग की कोटि।
२—एक करण दो योग की कोटि।
३—एक करण तीन योग की कोटि।
४—दो करण एक योग की कोटि।
५—दो करण दो योग की कोटि।
६—दो करण तीन योग की कोटि।
७—तीन करण एक योग की कोटि।
८—तीन करण दो योग की कोटि।
९—तीन करण तीन योग की कोटि।

साधु के नौ ही कोटियों से अब्रह्मचर्य सेवन का त्याग होता है। जो मन वचन, काया और करने, कराने और अनुमोदन के किसी भी भङ्ग से अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करते वे ही ब्रह्मचर्य को अखण्डित रूप से पालन करनेवाले कहे जाते हैं।

स्वामीजी कहते हैं—जो अखण्ड रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, कहना होगा, उन्होंने सब से बड़ी विजय प्राप्त कर ली। कहा है :

इत्थिओ जे न सेवन्ति आइमोक्खा हु ते जणा।

—सू० १, १५ ९

—जो पुरुष स्त्रियों का नहीं सेवन करते वे मोक्ष पहुंचनेमें अग्रसर होते हैं।

जे विन्नवणाहिजोसिया, संतिण्णेहि समं वियाहिया।
तम्हा उड्ढं ति पासहा, अदक्खु कामाइ रोगवं॥

—सू० १, २।३ २

—काम को रोग रूप समझकर जो स्त्रियों से अभिभूत नहीं हैं, उन्हें मुक्त पुरुषों के समान कहा गया है। स्त्री परित्याग के बाद ही मोक्ष के दर्शन सुलभ हैं।

जहा नई वेयरणी दुत्तरा इह संमया।
एवं लोगंसि नारीओ, दुत्तरा अमईमया॥

—सू० १, ३।४ १६

—जिस तरह वैतरणी नदी दुस्तर मानी जाती है उसी तरह इस लोक में अविवेकी पुरुष के लिए स्त्रियों का मोह जीतना कठिन है।

जेहिं नारीण संजोगा पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेय निराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए॥

—सू० १, ३।४ १७

—जिन पुरुषों ने स्त्री संसर्ग और काम-शृंगार को छोड़ दिया है वे समस्त विघ्नों को जीत कर उत्तम समाधि में निवास करते हैं।

एए ओघं तरिस्सन्ति समुद्दं ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसन्नासि, किच्चन्ती सयकम्मुणा॥

—सू० १ ३।४ १८

—ऐसे पुरुष इस संसार सागर को जिसमें जीव अपने अपने कर्मों से दुःख पाते हैं, उसी तरह तिर जाते हैं जिस तरह वणिक् समुद्र को।

[१०] ढाल गा० ७ उत्तरार्द्ध

संसार में सब से प्रबल आसक्ति नारी की है। इस आसक्ति पर विजय पाने के बाद अन्य आसक्तियों पर विजय पाना कठिन नहीं रहता। यही भाव ७ वी गाथा के उत्तरार्द्ध में प्रगट हुआ है। इसका आधार आगम की निम्न गाथाएं हैं

मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स
संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।

नेयारिस दुत्तरनत्थि लोए
जहित्थिओ वालमणोहराओ ॥
—उत्त० ३२ १७

एए य संगे समइक्कमित्ता
सुदुत्तरा चेव मवंति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥
—उत्त० ३२ १८

—जो पुरुष मोक्षाभिलाषी है, संसार भीरु है, धर्म में स्थित है, उनके लिए भी मूर्ख के मन को हरने वाली स्त्रियों की आसक्ति को पार पाने से अधिक दुष्कर कार्य इस लोक में दूसरा नहीं है।

—इस आसक्ति को जीत लेने पर शेष आसक्तियों का पार पाना सरल है। महा सागर तिर लेने पर गंगा के समान नदियों का तिरना क्या दुष्कर है ?

[११] ढाल गा० ८ :

उत्तराध्ययन के संकेतित स्थान का कुछ अंश इस प्रकार है

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा ॥ तं जहा

प्रथम बाड़

ढाल : २

दुहा

१—हिवें कहूं छू जू जूइ,
सील तणी नव वाड़ ।
दसमों कोट ते चिहूं दिसा,
मांहें ब्रह्मचर्य वरत सार ॥

१—अब मै शील की नव वाडो का अलग-अलग वर्णन करता हूँ। इन वाड़ो के चारों और दसवाँ कोट है। नव वाड और दसवें कोट के भीतर ब्रह्मचर्य रूपी सार व्रत सुरक्षित रहता है।

२—खेत गांव रे गोरवें,
ते न रहें कीधां राड़ ।
रहिसी तो खेत इण विधें,
दोली कीधां वाड़ ॥

२—गाँव की सीमा पर बिना बाड का खेत झगडा करते रहने से सुरक्षित नहीं रह सकता। वह तो तभी सुरक्षित रहेगा, जबकि उस खेत के चारो ओर दुहरी बाड लगा दी जायगी।

३—ज्यू ब्रह्मचारी विचरें तिहां,
ठांम ठांम छै नार ।
तिण कारण इण सील री,
वीर कही नव वाड़ ॥

३—जहाँ ब्रह्मचारी विचरण करता है वहाँ स्थान-स्थान पर स्त्रियाँ है। इसी कारण जिनेश्वर भगवान् ने शील रूपी खेत की सुरक्षा के लिए नव वाड का कथन किया है।

४—वाड न लोपें तेहनें,
रहें वरत अभंग ।
ते वेरागी विरकत थका,
ते दिन २ चडतें रंग[1] ॥

४—जो ब्रह्मचारी वाडो का उल्लंघन नहीं करता, उसका शीलव्रत अभंग रहता है। ब्रह्मचर्य मे उस विरक्त वैरागी का अनुराग बढ़ता ही जाता है ।

५—हिवें पेहली वाड़ मे इम कह्यो,
नारी रहें तिहां रात ।
तिण ठामे रहिणो नहीं,
रह्या वरत तणी हुवे घात ॥

५—प्रथम वाड मे ऐसा कहा है कि जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी को रात्रि मे वास नही करना चाहिए। ऐसा करने से व्रत का घात होता है।

६—अथवा नारी एकली,
भली न सगति ताम ।
धर्मकथा कहवी नहीं,
वेसी तिणरें पास[2] ॥

६—अथवा स्त्री अकेली हो तो उसकी संगति अच्छी नहीं। अकेली स्त्री के पास बैठ कर धर्म-कथा भी नहीं कहनी चाहिए।

७—तिण थी ओगुण उपजे,
संका पामे लोक ।
आवे अछतो आल सिर,
वले हुवे वरत पिण फोक[3] ॥

७—कारण यह है कि उससे अवगुण उत्पन्न होते हैं। लोग शंका-ग्रस्त होते हैं। बिना कारण सिर पर कलंक आता है और व्रत का भी विनाश हो जाता है।

८—तिण सू ब्रह्मचारी भणी,
रहिणो छें एकंत[4] ।
हिवे कुण-कुण जायगां वरजवी,
ते सुणजो मतिवंत[5] ॥

८—अत ब्रह्मचारी को एकान्त स्थान मे रहना कल्प्य है। ब्रह्मचारी को किन-किन स्थानों का वर्जन करना चाहिए, उनको मैं कहता हू। बुद्धिमान् ध्यानपूर्वक सुने।

ढाल

[नणदल नी देशी]

१—भाव धरी नित पालीयें,
सिरउ ब्रह्म वरत सार हो । ब्रह्मचारी
जिण थी सिव सुख पामीयें,
तू वाड म खंडे लिगार हो । ब्रह्मचारी
आ पेंहली वाड़ ब्रह्मचर्यनी* ॥

१—हे ब्रह्मचारी ! तीव्र भावना के साथ ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर। ब्रह्मचर्य-व्रत सब व्रतों मे महान और सारपूर्ण है। तू ब्रह्मचर्य की इस बाड को, खण्डित मत कर, जिससे कि तुझे शिव-सुख की प्राप्ति हो।

यह ब्रह्मचर्य की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

२—मंजारी संगत रमे,
कूकड मूसग मोर हो । ब्र०
कुसल किहां थी तेहनें,
मारें घाटी मरोड हो ॥ ब्र०

२—हे ब्रह्मचारी ! चूहे, मोर और मुर्गे यदि बिल्ली के साथ मेल-जोल रखते हैं तो वे सुरक्षित कैसे रह सकते हैं ? बिल्ली गर्दन मरोड कर उन्हें मार डालती है।

४—हाथ पांव छेदन कीया,
कांन नाक छेद्या तास हो। ब्र०
ते पिण सो वरस नीं डोकरी,
रहिवों नहीं तिहां वास हो [९] ॥ ब्र०

४—जिसके हाथ, पैर, कान, नाक कटे हों, ऐसी सौ वर्ष की विकलांगी वृद्धा भी जहाँ रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी का रहना कल्प्य नहीं।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड़ है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

५—सझ सिणगार देवांगणा,
आई चलावण तास हो। ब्र०
तिण आगे तो चलीयों नहीं,
तो ही रहिणों एकंत वास हो [९] ॥ ब्र०

५—सोलह शृङ्गार से सुसज्जित देवाङ्गना विचलित करने आये और उससे भी जो पुरुष विचलित न हो उसे भी एकान्त स्थल मे ही वास करना चाहिए।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

६—अस्त्री हुवें तिहां वासो रहें,
कदा चल जाअें परिणाम हो। ब्र०
जब दिढ रहिणों दोहिलों,
भिष्ट हुवें तिण ठांम हो ॥ ब्र०

६—जहाँ स्त्री रहती है वहाँ ब्रह्मचारी के रहने से संभव है कि कदाचित् उसका मन विचलित हो जाय। उस हालत मे दृढ रहना मुश्किल हो जाता है और वह उस स्थान पर ही भ्रष्ट हो जाता है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

७—सींह गुफावासी जती [१०],
रह्यो वेस्या चित्रसाल हो। ब्र०
तुरत पड्यों वस तेहनें,
गयो देस नेपाल हो ॥ ब्र०

७—सिंह-गुफावासी यति वेश्या की चित्रशाला मे आकर ठहरा तो वह भी तुरंत उसके वश मे हो गया और अपनी वासना की तृप्ति के लिए कम्बल लाने नेपाल देश गया।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

८—कुल वालूरो [११] साध थो,
तिण भाग्यो वरत रसाल हो। ब्र०
कोणक री गणका वस पड्यों,
ते रुलसी अनंतो काल हो ॥ ब्र०

८—कुल वालुडा नामक एक साधु था। कोणिक की गणिका के वशीभूत हो उसने उत्तम व्रत को भंग कर दिया जिसके कारण वह अनन्त काल तक संसार मे परिभ्रमण करेगा।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान मे वास करे।

९—मंजारी जिहां उंदर रहें,
ते घात पामे ततकाल हो । ब्र०
ज्यूं नारी तिहां ब्रह्मचारी रहें,
भागे सीयल रसाल हो [12] ॥ ब्र०

९—जहाँ बिल्ली रहती है, वहाँ यदि चूहे रहे तो वे तुरंत ही विनाश को प्राप्त होते हैं। वैसे ही जहाँ नारी है वहाँ रहने से ब्रह्मचारी के उत्तम शीलव्रत का भङ्ग होना स्वाभाविक है।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

१०—बाड सहीत सुध पालीयें,
पूरीजे मन खांत हो । ब्र०
आ सीख दीधी छें तो भणी,
तुं रहिजे जायगां एकंत हो [13] ॥ ब्र०

१०—अत: मनकी पूरी चौकसी के साथ नव बाड सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर। हे ब्रह्मचारी! भगवान् ने तुम्हें यह शिक्षा दी है कि तू एकान्त जगह में रह।

यह ब्रह्मचर्य-व्रत की पहली बाड है कि ब्रह्मचारी एकान्त स्थान में वास करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-४ :

भगवान् महावीर ने 'उत्तराध्ययन' सूत्र (अ० १६ गाथा १) में ब्रह्मचर्य में समाधि—स्थिरता प्राप्त करने के दस उपाय बतलाए हैं।

गाँव की सीमा पर अवस्थित खेतों की पशुओं से रक्षा करने के लिए उनके चारों ओर बाड़ लगानी पड़ती है और बाड़ों के बाहर खाई खोदनी पड़ती है। इसी तरह से जहाँ ब्रह्मचारी होते हैं वहाँ सब जगह स्त्रियाँ भी होती हैं। अत: शील—ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए कितने ही नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। इन नियमों का नाम गुप्ति है। गुप्ति अर्थात् रक्षा का साधन—उपाय—बाड़। गुप्तियाँ नौ कही गई हैं। एक अधिक नियम जोड़कर इन्हें ही [illegible] दस समाधि स्थान कहा गया है। इनमें से पहले नौ नियम बाड़ों की तरह हैं और दसवाँ नियम उनके चारों ओर खाई की तरह है।

[२] दोहा ५-६ :

प्रथम वाड़ की व्याख्या स्वामीजी ने दो प्रकार से की है। जहाँ स्त्री रहती हो वहाँ ब्रह्मचारी रात्रिवास न करे—यह प्रथम व्याख्या है। ब्रह्मचारी किसी भी समय अकेली स्त्री की संगति न करे, यहाँ तक कि अकेली स्त्री को धर्म-कथा भी न कहे—यह दूसरी व्याख्या है।

स्वामीजी ने आगे का विवेचन इन दोनों व्याख्याओ को ध्यान मे रखकर किया है।

प्रथम वाड़ की ऐसी परिभाषा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं

णो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सिया

—आचारांग श्रु० २ १५ (चौथे महाव्रत की पाँचवीं भावना)।

—निर्ग्रन्थ, स्त्री पशु तथा नपुसक से ससक्त शयन-आसन आदि का सेवन न करे।

समरेसु अगारेसु सन्धीसु य महापहे।
एगो एगत्थिए सद्धिं नेव चिट्ठे न सलवे॥

—उत्त० १ २६

—घर की कुटी मे घरों मे घरों की सन्धियों मे और राजमार्ग में अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ न खड़ा हो और न उसके साथ सलाप करे।

[३] दोहा ७ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है

अदु नाइणं च सुहीण वा, अप्पियं दट्ठु एगया होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि॥

—सू० १, ४।१ १४

— किसी स्त्री के साथ एकान्त स्थान में बैठे हुए साधु को देखकर उस स्त्री के ज्ञाती और सुहृदों को कभी कभी चित्त में अप्रिय—दुःख उत्पन्न होता है। वे समझते हैं कि जैसे दूसरे पुरुष काम में आसक्त रहते हैं इसी तरह यह साधु भी कामासक्त है। फिर वे क्रोधित होकर कहते हैं कि तू इसका भरण पोषण भी कर क्योंकि तू इसका पति है।

[४] दोहा ८ :

आठवें दोहे के प्रथमार्द्ध का आधार निम्नलिखित श्लोक है

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थीजणेण य।
बंभचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए॥

— उत्त० १६ १

—मुमुक्षु ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए विविक्त—खाली, अनाकीर्ण और स्त्रियों से रहित स्थान में वास करे।

[५] दोहा ८ :

ऊपर जो वर्णन आया है उसमें ब्रह्मचारी को स्त्री पशु और नपुसक से संसक्त स्थान का वर्जन करने का कहा गया है।

इस विषय में प्रश्नव्याकरण सूत्र में बड़ा गम्भीर विवेचन है। वहाँ कहा है—

"जत्थ इत्थियाओ अभिक्खणं मोहदोसरइरागवड्ढणीओ कहिंति य कहाओ बहुविहाओ ते वि हु वज्जणिज्जा"

—जहाँ मोह और रति—काम राग को बढ़ानेवाली स्त्रियों का बार बार आवागमन हो और जहाँ पर नाना प्रकार की मोहजनक स्त्री-कथाएँ कही जाती हों—ऐसे सब स्थान ब्रह्मचारी के लिए वर्जनीय हैं।

जत्थ मणोविब्भमो वा भंगो वा भंसणा वा अट्टं रुद्दं च
हुज्ज झाणं तं तं वज्जेज्ज वज्जभीरू

—प्रश्न २, ४ पहली भावना

—जिन स्थानों में रहने से मन विभ्रम को प्राप्त होता हो, ब्रह्मचर्य के सम्पूर्ण रूप से या अंश रूप से भंग होने की आशंका हो और अपध्यान—आर्त और रौद्र ध्यान उत्पन्न होता हो वे स्थान पाप-भीरु ब्रह्मचारी के लिए वर्जित हैं।

[६] ढाल गा० २-३ :

स्वामीजी की इन गाथाओं का आधार निम्नलिखित श्लोक है

जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥

—दस० ८ ५४

जैसे मुर्गी के बच्चे को बिल्ली से हमेशा भय रहता है उसी तरह ब्रह्मचारी को स्त्री-शरीर से भय रहता है।

[७] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित पाठ है

णो णिग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइ सयणासणाइ सेवित्तए सिया केवली बूया—णिग्गंथेण इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइ सयणासणाइं सेवमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचारांग सूत्र श्रु० २ अ० १५ चौथे महाव्रत की पाँचवी भावना

—निग्रन्थ, स्त्री, पशु नपुंसक से संसक्त शय्या, आसन का सेवन न करे। केवली भगवान् ने कहा है कि स्त्री पशु तथा नपुंसक से संसक्त शय्या तथा आसन के सेवन से शान्ति का भेद शान्ति का भंग होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० ४ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है

हत्थपायपडिच्छिन्नं कण्णनासविकप्पियं ।
अवि वाससइं नारिं बंभयारी विवज्जए ॥

—दस० ८ ५६

जिसके हाथ पैर एवं कान कटे हुए हैं तथा जो पूर्ण सौ वर्ष की वृद्धा है—ऐसी स्त्री की संगति का भी ब्रह्मचारी विवर्जन करे।

[९] ढाल गा० ५ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्नलिखित श्लोक है

कामं तु देवीहि विभूसियाहिं । न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ॥
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा । विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥

—उत्त० ३२ १६

[१३] ढाल गा० १० :

—स्त्री के साथ सहवास करने में ब्रह्मचारी के लिए बड़ा खतरा है, इसलिए उसे एकान्त स्थान में रहने का उपदेश है। कहा है·

जउकुम्भे जहा उवज्जोई ।
सवासे विऊ विसीएज्जा ॥

—सू० १.४ ।१: २६

—जिस प्रकार अग्नि के निकट लाख का घड़ा गल जाता है, उसी प्रकार विद्वान पुरुष भी स्त्री के सहवास से विषाद को प्राप्त होता है।

अह सेऽणुतप्पई पच्छा, भोच्चा पायसं व विसमिस्स ।
एवं विवेगमायाय, सवासो न वि कप्पए दविए ॥

—सू० १. ४ । १ १०

—विष मिश्रित खीर के भोजन करनेवाले मनुष्य की तरह स्त्रियों के सहवास में रहनेवाले ब्रह्मचारी को पीछे विशेष अनुताप करना पड़ता है। इसलिए पहले से ही विवेक रखकर मुमुक्षु स्त्रियों के साथ सहवास न करे।

दूजी वाड़

कथा न कहणी नार नीं

ढाल : ३

दुहा

१—कथा न कहणी नार नीं,
ते जिण कही दूजी वाड़[1]।
जो नारी कथा कहें तेह सू,
हुवें वरत विगाड़ ॥

१—जिन भगवान ने दूसरी बाड मे बताया है कि ब्रह्मचारी को नारी की कथा—चर्चा नहीं करनी चाहिए। नारी की कथा करने से व्रत की क्षति होती है।

२—जे झूल रह्या ब्रह्म वरत में,
त्यांरे विषें नहीं मन मांय।
ते ब्रह्मचारी नें नारी कथा,
करवी सोभें नांय ॥

२—जो ब्रह्मचर्य-व्रत रूपी झूले मे झूल रहा है, उसके मन मे तनिक भी विषय-वासना नहीं होती। ऐसे ब्रह्मचारी को नारी की कथा कहना शोभा नहीं देता।

ढाल

[कपूर हुवें अति उजला ए]

१—जात रूप कुल देसनीं रे,
नारी कथा कहे जेह।
बार बार कथा करे रे,
तो किम रहे बरत सूं नेह रे।
भवीयण नारी कथा निवार,
तूं तो दूजी वाड़ विचार रे ॥आं०॥

१—जो स्त्रियों के जाति, रूप, कुल या देश सम्बन्धी कथाएं बार-बार कहता है, उसका ब्रह्मचर्य के प्रति स्नेह कैसे रह सकता है?

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

२—चंद मुखी मिरग लोचणी रे,
वेणी जाणें भुजंग।
दीप सिखा सम नासिका रे,
होठ प्रवाळी रे रंग रे। भ०।

२, ३, ४—मन में विवेक लाकर ब्रह्मचारी ऐसा ध्यान न करे—अमुक नारी चन्द्रमुखी है, मृगनयनी है, उसकी वेणी सर्प की तरह काली है। उसकी नासिका दीपशिखा के सदृश है, उसके अधर

३—वाणी कोयल जेहवी रे,
हाथ पांव रा करें वखांण।
हंस गमणी कटी सींह समी रे,
नाभि ते कमल समांण रे ॥ भ०॥

प्रवाल के रंग की तरह है। उसकी वाणी कोयल की तरह मधुर है। उसके हाथ-पाँव इस तरह के सुन्दर है। उसकी चाल हंस की तरह है। उसका कटि-प्रदेश सिंह की तरह है। उसकी नाभि कमल के समान है। उसकी कुक्षि अति सुन्दर है। ब्रह्मचारी मन मे विवेक लाकर इस तरह नारी के अंग-उपाग की बार-बार सराहना न करे।

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

४—कूख छें जेहनीं अति भली रे,
वले अंग उपंग अनेक।
त्यानें वारुंवार न सरावणा रे,
आंणी मन में विवेक रे [२] ॥ भ०॥

५—जथातथ कहितां थकां रे,
दोष नहीं छें लिगार।
पिण विना कांम कहिवा नहीं रे,
नारी रूप वर्ण सिणगार रे ॥ भ०॥

५—यद्यपि यथातथ्य वर्णन करने मे जरा भी दोष नहीं, तथापि बिना कारण नारी के रूप, वर्ण एवं शृङ्गार का वर्णन नहीं करना चाहिए।

हे भव्य! तू दूसरी वाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

६—नारी रूप सरावतां रे,
वधें छें विषे विकार।
परिणांम चल विचल हुवें रे,
हुवें वरत नों विगाड़ रे [३] ॥ भ०॥

६—कारण, नारी के रूप की सराहना—प्रशंसा करने से विषय-विकार की वृद्धि होती है। परिणाम चल-विचल हो जाते है, जिससे व्रत मे विकृति आती है।

हे भव्य! तू दूसरी वाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

७—मली कुमारी नों रूप सांभल्यो रे,
छहूं राजां रा चलीया परिणांम।
त्यां सगाई करण नें दूत मेलीयो रे,
विगड्यो माहो मांही तान रे [४] ॥ भ०॥

७—मल्लीकुमारी के रूप की प्रशंसा सुन कर छ: राजाओं के परिणाम विचलित हो गये और उन्होंने मल्लीकुमारी के साथ सम्बन्ध करने के लिए अपने-अपने दूत भेजे। इससे मल्लीकुमारी के पिता और उनकी मित्रता की तान विगड़ गई।

हे भव्य! तू दूसरी वाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

८—मिरगावती रो रूप सांभल्यो रे,
चंडप्रद्योत राजान।
तिण कोसंबी नगर घेरो दीयों रे,
करायो मिनषां रो घमसाण रे ॥ भ०॥

८—इसी प्रकार मृगावती के सौन्दर्य का वर्णन सुनकर चण्डप्रद्योतन राजा ने कोशम्बी नगरी को घेर कर भयंकर नर-सहार करवाया।

हे भव्य! तू दूसरी वाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

९—तिणरे हाथे न आई मिरगावती रे,
ते यूंही हुओ खुराब।
फिट २ हुओ लोक में रे,
घणीं पड़ाइ आब रे [5] ॥भ०॥

१०—पदमोतर राजा नारद कनें रे,
द्रोपदी रा रूप री सुण बात।
देव कनें मंगाई तिण द्रोपदी रे,
तो इजत गमाई साख्यात रे [6] ॥ भ०॥

११—नारी कथा सुणनें विगड्या घणां रे,
त्यांरा कहिता न आवें पार।
ते भिष्ट हुवा वरत भांग नें रे,
ते हार गया जमवार रे॥ भ०॥

१२—नींबू फल नीं वारता सुणयां रे,
मुख पाणी मेलें छें ताय।
ज्यूं अस्त्री कथा सुणीयां थकां रे,
परिणाम थोडा मे चल जाय रे॥ भ०॥

१३—संका कंखा वितिगछा मन उपजें रे,
सीयल वरत पालूं के नांहीं [7]।
तिण सूं नारी कथा करणी नहीं रे,
दूजी बाड रें मांहीं रे॥ भ०॥

९—पर मृगावती उसके हाथ नहीं आई और वह व्यर्थ ही खराब हुआ। वह लोक मे धिक्कारा गया। उसने अपनी प्रतिष्ठा खो दी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१०—महाराजा पद्मोत्तर ने नारद से द्रौपदी के रूप की बात सुनकर देव के द्वारा द्रौपदी को अपने पास मँगवा लिया। पद्मोत्तर को इस कार्य के कारण अपनी इज्जत देनी पड़ी।

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

११—नारी-कथा के सुनने से अनेक (व्यक्ति) बिगड चुके है, जिनका कहने से पार नहीं आता। वे व्रतो को भंग कर भ्रष्ट हो गये और उन्होंने अपना जन्म व्यर्थ मे खो दिया।

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१२—जिस प्रकार नीबू (फल) का वर्णन सुनने से मुख मे पानी छूटने लगता है, उसी प्रकार नारी की कथा सुनने से परिणाम शीघ्र विचलित हो जाता है।

हे भव्य! तू दूसरी बाड का विचार करता हुआ स्त्री-कथा का वर्जन कर।

१३—मन मे शंका तथा कांक्षा उत्पन्न होती है। ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है कि मैं शीलव्रत पालूँ या नहीं? इसी कारण भगवान ने दूसरी बाड़ मे कहा है कि ब्रह्मचारी को नारी-कथा नहीं करनी चाहिए।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-२ :

स्वामीजी ने दूसरी वाड़ की जो परिभाषा यहाँ दी है, उसका आधार आगम के निम्न स्थल है

नो इत्थीण कह कहित्ता हवइ से निग्गन्थे

उत्त० १६ २

—जो स्त्री कथा नहीं कहता वह निर्ग्रंथ है।

मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी ।
बम्भचेररओ भिक्खू, थीकह तु विवज्जए ॥

—उत्त० १६ श्लो० २

—ब्रह्मचारी मनको चंचल करनेवाली और विषय राग को बढ़ानेवाली स्त्री विषयक कथाएँ न कहे।

णारीजणस्स मज्झे ण कहियव्वा कहा विचित्ता।
विव्वोयविलाससपउत्ता हाससिंगार लोइयकहव्व मोहजणणी॥
कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसजमवभचेर घाओवघाइयाओ ।
अणुचरमाणेण वभचेरं न कहियव्वा न सुणियव्वा न चिंतियव्वा॥

प्रश्न० २-४ दूसरी भावना

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के बीच में विभ्रम, विलासयुक्त, हास्य शृङ्गार तथा मोह उत्पन्न करनेवाली विचित्र कथाएँ न कहे।

—शृङ्गार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली तथा तप, सयम और ब्रह्मचर्य का घात उपघात करनेवाली कामुक कथाएँ ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

[२] ढाल गा० १-४ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में जो बात कही है, उसका आधार आगम के निम्न वाक्य हैं

"न आवाहविवाह वर कहाविव इत्थीण वा सुभगदुभग कहा चउसट्ठिं य महिलागुणा ण वण्ण देस जाइ कुल रूव णाम णेवत्थ परिजण कहा इत्थियाण अण्णा वि य एवमाइयाओ कहाओ सिंगार कलुणाओ तवसजमवंभचेर घाओवघाइयाओ अणुचर माणेण वंभचेर ण कहियव्वा ण सुणियव्वा ण चिंतियव्वा।"

एव इत्थीकहविरइसमिइ जोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण विरयागामधम्मे जिइदिए वंभचेर गुत्ते।

—प्रश्न० २ ४ दूसरी भावना

—नूतन विवाह किए हुए वर वधू अथवा विवाह करनेवाले वर-वधू की कथा नहीं करनी चाहिए।

—स्त्रियों के सौभाग्य दुर्भाग्य की कथा नहीं करनी चाहिए।

—कामशास्त्रों में वर्णित स्त्रियों के चौसठ गुणों का वर्णन नहीं करना चाहिए। स्त्रियों के वर्ण, देश, जाति, कुल, रूप, नाम नेपथ्य और परिजन सम्बन्धी कथाएँ न करनी चाहिए। शृङ्गार रस के कारण मोह उत्पन्न करनेवाली कथाएँ न करनी चाहिए। इसी प्रकार की अन्य कथाएँ जो तप सयम और ब्रह्मचर्य का घात उपघात करनेवाली हों, उन्हें ब्रह्मचर्य का अनुसरण करनेवाला ब्रह्मचारी न कहे, न सुने और न उनका चिन्तन करे।

—ब्रह्मचारी कथा विरति समिति के योग से अतरात्मा को भावित करनेवाला होता है। ऐसा मैथुन से निवृत्त इन्द्रियों के विषयों से रहित जितेन्द्रिय पुरुष ब्रह्मचर्य मे गुप्त होता है।

[३] ढाल गा० ६ :

स्वामीजी ने इस गाथा में जो बात कही है उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य है

णो णिग्गंथे अभिक्खणं अभिक्खणं इत्थीणं कहं कहइत्तए सिया केवली बूया—णिग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहमाणे संतिभेदा संति विभंगा संति केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—आ० २ १५ (चौथे व्रत की पहली भावना)

—निर्ग्रंथ बार-बार स्त्री-कथा न करें।

केवली भगवान् ने कहा है—बार बार स्त्री-कथा करने से मन की शान्ति का भङ्ग तथा विभङ्ग होता है और ब्रह्मचारी केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[४] ढाल गा० ७ :

'मल्ली कुमारी' का जीवन वृत्तांत परिशिष्ट में दिया गया है। परिशिष्ट—क कथा १६

[५] ढाल गा० ८-६ :

'मृगावती' की कथा परिशिष्ट में दी गई है। परिशिष्ट—क कथा १७

[६] ढाल गा० १० :

द्रौपदी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट—क कथा १८

[७] ढाल गा० १३ :

स्वामीजी ने जो बात यहाँ कही है उसका आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं

निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सङ्का वा कङ्खा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायङ्कं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा।

उत्त० १६ २

—स्त्रियों की कथा करने से निर्ग्रंथ ब्रह्मचारी के मनमें ब्रह्मचर्य के प्रति शंका उत्पन्न होती है।

—उसके कांक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती हैं। संयम का भेद और भंग होता है। उन्माद की उत्पत्ति होती है। दीर्घकालिक रोगांतक होते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है। इसलिए स्त्री-कथा नहीं कहनी चाहिए।

तीजी बाड़

एकण सय्या नहीं बेंसवों

ढाल : ४

दुहा

१—हिवें तीजी वाड़ में इम कह्यों,
ब्रह्मचारी नार सहीत।
एकण सय्या नहीं बेंसवों,
ए जिण सासण री रीत[1]॥

१—तीसरी बाड में ऐसा कहा गया है कि ब्रह्मचारी को नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। यह जिन शासन की रीति है।

२—अगन कुड पासें रहें,
तो प्रगलें घृत नों कुभ।
ज्यूं नारी संगति पुरष नों,
रहें किसी पर बंभ[2]॥

२—अग्नि-कुण्ड के समीप रखा हुआ घी का घडा पिघल जाता है वैसे ही स्त्री की संगति करने पर पुरुप का ब्रह्मचर्य कैसे रह सकता है ?

३—ब्रह्मचारी जोगी जती,
न करें नार प्रसंग।
एकण आसण बेंसतां,
थाअें वरत नो भंग॥

३—हे ब्रह्मचारी। योगी। यति। तू नारी का संसर्ग मत कर, क्योंकि स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचर्य का भंग हो जाता है।

४—पावक गालें लोह नें,
जो रहें पावक संग।
ज्यूं एकण आसण बेंसतां,
न रहें वरत सुरंग[3]॥

४—जैसे अग्नि के संसर्ग मे रहने से अग्नि लोहे को गला देती है, उसी तरह नारी के साथ एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचर्य सुरङ्ग—स्वच्छ नहीं रहता।

ढाल

[अमिया राणी कहे धाय नें]

१—तीजी वाड हिवें चित्त विचारो,
नारी सहित आसण निवारो लाल।
एकण आसण बेंठां काम दीपें छें,
ते ब्रह्मचारी नें आछों नहीं छें लाल॥
तीजी वाड़ हिवें चित्त विचारो॥आँ०॥

१—अब तीसरी वाड पर विचार करो। हे ब्रह्मचारी। तू नारी के साथ एक आसन पर बैठने का त्याग कर। एक आसन पर बैठने से कामोद्दीपन होता है, अत ब्रह्मचारी के लिए नारी के साथ एक आसन पर बैठना हितकर नहीं।

ब्रह्मचारी। तुम इस तीसरी वाड का मन मे चिन्तन करो।

२—एकण आसण बेठां आसंगो थावें,
आसंगे काया फरसावें लाल।
काया फरस्यां विषें रस जागें,
इम करतां जावक वरत भागें लाल ॥शी०॥

२—एक आसन पर बैठने से नारी का संसग होता है। नारी-संसर्ग काया का स्पर्श कराता है। काया के स्पर्श से विषय-रस की जागृति होती है। विषय-रस की जागृति से सम्पूर्ण व्रत भंग हो जाता है।

३—पाट बाजोट सेज्जा संथारो जांणों,
एहवा आसण अनेक पिछांणों लाल।
तिहां नारी सहीत बेंसों मत कोई,
जिण वचनां साहमो जोई लाल ॥शी०॥

३—पाट, बाजोट, शैय्या, संस्तारक आदि अनेक प्रकार के आसन हैं। जिनेश्वर भगवान् के वचन को सम्मुख रख कर कोई भी ब्रह्मचारी नारी के साथ एक आसन पर न बैठे।

४—अस्त्री सहीत बेंसें एकण आसण,
तो वले लोक पडें छें विमासण लाल।
अछतोई आल दे करें फितूरो,
वले बोलें अनेक विध कूड़ो लाल ॥शी०॥

४—स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने से लोगों मे ब्रह्मचारी के प्रति शंका हो जाती है। लोग उस पर मिथ्या कलंक लगाते हैं तथा उसके सम्बन्ध मे नाना मिथ्या-प्रचार करते हैं।

५—जिन ठामे बेंठी हुवें नारी,
तिण ठामे न बेंसे ब्रह्मचारी लाल।
बेंसें तो अंतर मूहरत टाली,
वेद सभाव संभाली लाल ॥शी०॥

५—वेद के स्वभाव का ध्यान रख कर जिस स्थान से स्त्री उठी हो, उस स्थान पर ब्रह्मचारी तुरत न बैठे। अगर बैठे तो अन्तर मुहूर्त का समय टाल कर बैठे।

६—नारी वेद रा पुद्गल तिण थी,
नर वेद विकार वेदें जिण थी लाल।
यूं हीज नारी ने पुरष सूं जांणों,
माहोमां वेद विकार पिछाणों लाल ॥शी०॥

६—नारी-वेद के पुद्गलों से पुरुष-वेद विकार को प्राप्त होता है। इसी प्रकार पुरुष-वेद के पुद्गलों से नारी-वेद। इस प्रकार संसर्ग से परस्पर वेद-विकार उत्पन्न होता है। यह समझो।

७—नारी फरस वेद्या हुवें भोग रो रागी,
जब जावें वरत सूं भागी लाल।
इण कारण एकण आसन बेंसणों नाहीं
नारी फरस डरणो मन माहीं लाल ॥शी०॥

७—स्त्री-स्पर्श से वेदानुभव को प्राप्त हो ब्रह्मचारी भोग का अनुरागी बनता है। इससे व्रत भंग हो जाता है। इसी कारण से ब्रह्मचारी को नारी के संग एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए और नारी-स्पर्श से मन में डरते रहना चाहिए।

८—[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥शी०॥

८—[illegible] चक्रवर्ती की रानी ने मन में अनु- [illegible] मुनि को [illegible] मुनि [illegible] का [illegible] हुआ [illegible] ने [illegible] चारित्र [illegible] और [illegible]।

६—ते देव थईनें चक्रवत हुवों,
भोग मांहें गिधी थकों मूओ लाल।
सातमीं नरक मांहें जाय पड़ोयो,
पाप सू पूर्ण भरीयो लाल[९] ॥ती०॥

६—मृत्यु के बाद वह मुनि देवता हुआ। वहाँ से च्यवकर चक्रवर्ती हुआ और भोगों मे गृद्ध रहता हुआ पापों से परिपूर्ण हो काल प्राप्त कर सातवीं नरक मे गया।

१०—नारी फरस वेद्यां सू ओगुण अनेक,
तिण सू आसण न वेंसणों एक लाल।
संखा कंखा वितिगिछा उपजें मन मांहीं
सील वरत पालूं के नाहीं लाल[१०] ॥ती०॥

१०—नारी-स्पर्श के वेदन से अनेक दुर्गुण होते है। अतः नारी के साथ एक आसन पर नहीं बैठना चाहिए। इससे शंका, काक्षा उत्पन्न होती है तथा शीलव्रत का पालन करूँ या नहीं, यह विचिकित्सा उत्पन्न होती है।

११—ए बाड़ लोपी तिण वात विगोई,
तिण दीयों ब्रह्म वरत खोई लाल।
ते नरक निगोद मांहें जाय पडीया,
ते ससार में रडवडिया लाल ॥ती०॥

११—जिसने इस तीसरी बाड़ का लोप किया, उसने व्रत-भङ्ग कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया। ब्रह्मचर्य व्रत से पतित होनेवाले नरक निगोद मे गिरे और उन्होंने संसार मे परिभ्रमण किया।

१२—काचर कोहलो फाड्यां कर फाटों,
तिण सू वाक तूट हुवें आटो लाल।
ज्यू अस्त्री सू एकण आसण वेंठां तांम
ब्रह्मचारी रा चलें परिणाम लाल[११] ॥ती०॥

१२—जैसे काचर और कोहल (कद्दू) को काटकर आटे मे गूँथने से आटा लसरहित हो जाता है, उसी प्रकार एक आसन पर बैठने से ब्रह्मचारी के परिणाम चलित हो जाते है।

१३—मा वेंन वेटी पिण इमहीज जाणों,
एकण आसण मतीय वेंसाणो लाल।
त्या सू पिण भाग गया छें अनंत,
ते भाख्यो छें श्री भगवंत लाल[१२] ॥ती०॥

१३—माता, वहन या वेटी के प्रति भी यही नियम समझो। ब्रह्मचारी उन्हें भी अपने साथ एक आसन पर नहीं वेंठावे, क्योंकि इनसे भी अनेक व्रतधारियों के व्रत भंग हुए हैं, ऐसा भगवान् ने कहा है।

१४—इम साभल तीजी वाड म लोपो,
ब्रह्मचर्य मे थिर पग रोपो लाल।
तो सिव रमणी नें वेगी वरसो,
आवागमण न करसों लाल ॥ती०॥

१४—अत उपर्युक्त वातों को ध्यान मे रखते हुए तीसरी वाड का उल्लघन मत करो। ब्रह्मचर्य मे अपने पेरों को स्थिर रखो, जिससे कि तुम शीघ्र ही शिव-रमणी को वरण करो और आवागमन को मिटा सको।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित वाक्य है

णो निग्गंथे इत्थीहिं सद्धिं सन्नि सिज्जागए विहरेज्जा

—उत्त० १६ ३

—निर्ग्रन्थ स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे ।

दोहा २ ३ के 'नारि संगति' 'नार प्रसंग' आदि शब्दों से ऐसा लगता है कि केवल स्त्री के साथ एक आसन पर बैठना ही तीसरी बाड़ नहीं बल्कि स्त्रियों की संगति न करना, उनके साथ घुल मिलकर वार्तालाप आदि के प्रसंग में न पड़ना उनके साथ अत्यधिक परिचय न करना आदि भी इस बाड़ के अन्तर्गत आते हैं ।

स्वामीजी के द्वारा प्रस्तुत तीसरी बाड़ के इस व्यापक स्वरूप का आधार आगम के निम्न स्थल हैं

समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं ।
बंभचेर रओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥

—उत्त० १६ श्लो० ३

—ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु स्त्रियों के साथ सहवास परिचय बार बार बातचीत का हमेशा परिवर्जन करे ।

गिहिसंथवं न कुज्जा कुज्जा साहूहिं संथवं ।

—दश० ८ ५३

—ब्रह्मचारी गृहस्थ स्त्री से परिचय न करे । वह साधु से ही परिचय करे ।

णो सयसारए, णो ममाए ।
णो कयकिरिए, वइगुत्ते
अज्झप्प संवुडे परिवज्जए सदा पाव

—आचा० १।५ ४

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के साथ परिचय न करे उनसे ममता न करे उनकी आगत स्वागत न करे उनसे बात करने में वचन गुप्त हो । वह मन को वश में करे हमेशा पापाचार से दूर रहे ।

नो तासु चक्खु संधेज्जा नो वि य साहसं समभिजाणे ।
नो सहियं पि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ॥

—सू० १ ४।१ ५

—जैसे अग्नि के पास रखा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र तप्त होकर नाश को प्राप्त हो जाता है, उसी तरह स्त्रियों के सहवास से अनगार का सयम रूपी जीवन नाश को प्राप्त हो जाता है।

स्वामीजी ने घी का दृष्टान्त दिया है। आगम मे लाख का दृष्टान्त है।

[३] दोहा ४ :

स्वामीजी ने इस दोहे में जो अग्नि और लोह का उदाहरण दिया है वह उनका मौलिक दृष्टान्त है। स्वामीजी के कथन का सार यह है कि जैसे अग्नि कठोर से कठोर लोहे को भी उसमें डालने पर गला देती हैं, उसी तरह कोई चाहे कितना ही बड़ा तपस्वी क्यों न हो, यदि वह स्त्री के साथ एकासन पर बैठता है, तो उसका मनोबल क्षीणता को प्राप्त हुए बिना नहीं रह सकता। अत एकासन पर न बैठना, यह समस्त ब्रह्मचारियों के लिए एक सामान्य नियम है।

स्वामीजी के इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है •

जे एय उछ अणुगिद्धा अन्नयरा हुंति कुसीलाण ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू, नो विहरे सह णमित्थीसु ॥
—सू० १. ४ । १ १२

—सुतपस्वी भिक्षु भी स्त्री के साथ विहार न करे।

[४] ढाल गा० १-२ :

एकासन पर बैठने पर ब्रह्मचारी का पतन किस तरह होता है, इसका बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण इस गाथा में है। एक आसन पर बैठने पर ससर्ग होता है, ससर्ग से स्पर्श होता है, स्पर्श से तीव्र विषय-वासना की जागृति होती है, विषय-वासना की जागृति से सयोग होता है। इस तरह ब्रह्मचर्य व्रत का सम्पूर्णतया नाश होता है।

गीता' में पतन का क्रम निम्नरूप में मिलता है •

ध्यायतो विषयान् पुस' सगस्तेपूपजायते ।
सङ्गात् सजायते काम' कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधात् भवति समोह• समोहात् स्मृति विभ्रम ।
स्मृति भ्र शात् बुद्धिनाशो बुद्धि नाशात् प्रणश्यति ॥
—गीता अ० ११ ६२ ६३

—विषयो का चिन्तन करनेवाले पुरुष को उनमें आसक्ति उत्पन्न होती है आसक्ति से कामना होती है और कामना से क्रोध होता है। क्रोध से मूढ़ता उत्पन्न होती है मूढ़ता से होश ठिकाने नही रहता होश ठिकाने न रहने से ज्ञान का नाश हो जाता है और जिसका ज्ञान नष्ट हो गया वह मृतक तुल्य है।

[५] ढाल गा० ३ :

इस गाथा मे आसन' शब्द का अर्थ बताया गया है। पाट—अर्थात् बैठने का काठ का तख्ता—पीठ, बाजोट—पाट से बड़ा तख्ता, सेज्जा—शय्या—सोने का पाट, सथारा—सस्तारक—बिछौना आदि 'आसन की परिभाषा मे आते हैं।

[६] ढाल गा० ४ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्नलिखित श्लोक है

अदु णाइणं च सुहीण वा अप्पिय दट्ठु एकया होइ ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं रक्खणपोसणे मणुस्सोऽसि ॥
—सू० १. ४ । १ १४

[७] ढाल गा० ५ :

इस गाथा मे ब्रह्मचारी को उस स्थान या आसन का तुरत उपयोग करने की मनाही है जिस स्थान या आसन पर से स्त्री तुरत ही उठी हो। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए यह आवश्यक माना गया है कि ऐसे स्थान या आसन पर साधु अंतर मुहूर्त के पहले न बैठे।

आचार्य नेमिचन्द्र ने 'उत्तराध्ययन सूत्र' की टीका में लिखा है—ऐसी साम्प्रदायिक मान्यता है कि ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी एक मुहूर्त तक न बैठे। इसका कारण वेद स्वभाव या प्रकृति है[१]।

[८] गा० ६-७ :

नारी वेद और पुरुष वेद के पुद्गलों का परस्पर ऐसा कोई आकर्षण है कि उन पुद्गलों के स्पर्श से परस्पर विकार उत्पन्न होने की संभावना रहती है। नारी वेद के पुद्गलों के स्पर्श से पुरुष में काम राग उत्पन्न हो जाता है और पुरुष वेद के पुद्गलों के स्पर्श से नारी में। अतः इन पुद्गलों के स्पर्श से बचना ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक और उपयोगी माना गया है। एकासन पर न बैठने के नियम का एक हेतु यह वेद स्वभाव है।

[९] गा० ८-९ :

सम्भूत चक्रवर्ती की कथा के लिए देखिये परिशिष्ट-क कथा १९

[१०] ढाल गा० १० :

—स्वामीजी की इस गाथा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं

'निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेयं वा लभिज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ वा धम्माओ भंसेज्जा''

—उ० १६ ३

—स्त्री के साथ एकासन पर बैठने से ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शंका होती है। अब्रह्मचर्य की आकांक्षा होती है। उसकी आत्मा में विचिकित्सा होती है। शांति का भेद—नाश होता है। उन्माद होता है। दीर्घकालिक रोगातंक होता है। अंत में वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट होता है।

[११] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी ने काचर और कोहले का जो दृष्टान्त यहाँ दिया है वह उनकी स्वाभाविक दृष्टान्तिक बुद्धि का सुन्दर नमूना है। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्य के साथ जो एकान्त सम्बन्ध रहता है वह नारी के साथ एकासन पर बैठने से उसी तरह टूट जाता है जिस तरह काचर और कोहले में आटे के लगने से वह टूट जाता है।

[१२] ढाल गा० १३ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न स्थान है

चोथी बाड़

नारी रूप नहीं निरखणो

दुहा

१—नारी रूप नहीं निरखणो,
जिण कही चोथी बाड़ [1]।
ए सुध मांन जे पालसी,
तिण सफल कीयो अवतार [2] ॥

१—जिन भगवान् ने चौथी बाड में यह कहा है कि नारी के रूप आदि का निरीक्षण नहीं करना चाहिए। जो शुद्ध समझ कर इस बाड़ का पालन करेगा, वह मनुष्य-जन्म को सफल करेगा।

२—चित्र लिखित जे पूतली,
ते पिण जोयवी नांहि,
केवलग्यांनी इम कह्यों।
दसवीकालिक मांहि [3] ॥

२—केवल ज्ञानी भगवान् ने 'दशवैकालिक-सूत्र, मे कहा है कि साधु को चित्राङ्कित पुतली हो उसका भी अवलोकन नहीं करना चाहिए।

ढाल ५

[मोहन मूदडी ले गयो]

१—मनहर इंद्री नार नीं रे,
तिण दीठांई वधें विकार [4]।
मिरग जाल ज्यूं नर भणी रे,
पास रच्यो ससार [5] ॥सुगुण रे॥
नारी रूप न जोईयें,
जोइयें नहीं धर राग ॥सु०॥

१—स्त्रियों की इन्द्रियाँ मनोहर होती है। उनके निरीक्षण मात्र से ही मन मे विकार की वृद्धि होती है। स्त्रियों के मनोहर अंगोपाङ्ग मृगजाल की तरह है। मनुष्यों के लिए संसार में यह पाश रचा हुआ है।

अतः हे सद्गुणी। स्त्री के रूप को रागपूर्वक मत देख।

२—नारी रूप दीवलो रे,
भोगी पुरप पतग।
झपे सुख रे कारणें रे,
दाझें कोमल अंग [1] ॥सु० ना०॥

२—स्त्री का रूप दीपक के समान है और भोगी पुरुप पतंग के समान। वह सुख प्राप्ति के लिए उसमे गिरता है और अपने कोमल शरीर को जला डालता है।

३—कांमणगारी कांमणी रे,
वस कीयो सर्व संसार।
आखी अणी कोयक रह्यां रे,
सुर नर गया सर्व हार [7] ॥सु० ना०॥

३—कामिनी जादूगरनी है। उसने सारे संसार को वश मे कर लिया है। भाग्यवश ही कोई उससे बच पाया है। देव और मानव सभी उसके सामने हार चुके है।

४—रूपें रंभा सारिषी रे,
वले मीठाबोली हुवें नार।
ते निजर भरे नें निरखतां रे,
वरत ने होवें विगाड [8] ॥सु० ना०॥

४—नारी रूप मे रम्भा के सदृश होती है। वह वचन की भी बडी मधुर होती है। नारी को नजर भरकर देखने से व्रत नष्ट हो जाता है।

५—रूप में रूडी देखनें रे,
मांहें पडें काम अंध।
सुख मांणें जाणें नही रे,
ते पाडें दुरगत नों बंध ॥सु० ना०॥

५—सुन्दर रूपवाली स्त्री को देखकर कामान्ध पुरुष उसमे आसक्त होता है। वह स्त्री-भोग मे सुख मानता है, किन्तु यह नहीं जानता कि स्त्री दुर्गति का बन्धन करनेवाली है।

६—रूप घणों रलीयामणों रे,
वले अपछरें रे उणीयार।
ते देखे रीझो किमूं रे,
आ मल मूतर रो भंडार ॥सु० ना०॥

६—भले ही कोई नारी रूप मे बहुत मनोहर और अप्सरा के समान हो, किन्तु, उसे देखकर क्यों मुग्ध होते हो? वह तो मल-मूत्र का भाण्डार है।

७—असुच अपवित्र नों कोथलो रे,
कलह काजल नों ठांम।
बारें श्रोत वहें सदा रे,
चरम दीवडी नाम ॥सु० ना०॥

७—नारी अशुचि और अपवित्रता की थैली है। वह कलह रूपी काजल की कोठरी है। उसकी देह से बाहर स्रोत बहते रहते है, जिससे उसका 'चर्म दीवड़ी' नाम पड़ा है।

८—देह उदारीक कारमी रे,
खिण में भंगुर थाय।
सपत धात रोगाकुली रे,
जतन करतां जाय [9] ॥सु० ना०॥

८—यह देह औदारिक और नाशवान है। यह क्षणभंगुर है। सप्त धातु का यह शरीर रोगाकुल है, जो यत्न करते रहने पर भी नाश को प्राप्त हो जाता है।

९—अबला इंद्री निरखतां रे,
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।
[illegible] देखी करी रे,
[illegible] [illegible] रहनेम [10] ॥सु० ना०॥

९—स्त्रियों की इन्द्रियों का निरीक्षण करने से विषय-रस के प्रति अनुराग बढ़ता है। [illegible] को देखकर [illegible] विचलित हो गया।

१०—नारी वेद नरपति थयो,
वले चखू कुसीलीयो ते थाय।
बाड़ भांग लाखां भवां रे,
रुलीयो रूपी राय[11]॥सु० ना०॥

१०—रूपी राजा नारी-वेद से आकर्षित हो चक्षु-कुशील हो गया। बाड़ को भंग कर वह लाखों भव में भटका।

११—सेठ घरे जांमो लीयो रे,
नांम इलापुतर जांण।
ते नटवी रूपें मोहीयो रे,
ते वसीयो नटवां घरे आंण॥सु० ना०॥

११—एलाचीपुत्र ने सेठ के घर जन्म लिया। वह एक नटवी के रूप मे मोहित हो गया और नट के घर आकर रहने लगा।

१२—ते वांस उपर चढ़ नाचतो रे,
ते मन मांहें हरप न मात।
ओ वांछें धन राय नों रे,
राय वांछें इणरी घात[12]॥सु० ना०॥

१२—एक बार वह बाँस पर खेल दिखाने के लिए चढ गया। वह हर्ष से फूला नहीं समाता था। एलाचीपुत्र राजा के धन की इच्छा करता था और राजा उसके प्राणघात की।

१३—मणरथ बंधव मारीयो रे,
मेणरेहा रो देखी रूप।
मरण पांम्यों तिण जोग सूं रे,
वले जाय पड्यों अंध कूप[13]॥सु० ना०॥

१३—मणिरथ ने मैनरहा के रूप को देखकर अपने भाई युगबाहु की हत्या कर दी। वह भी उसी कारण से मृत्यु को प्राप्त हुआ और दुर्गति रूपी अन्धकूप मे जा गिरा।

१४—अरणक संजम आदर्‍यो रे,
दीधी संसार नें पूठ।
ते नारी रूपें मोहीयो रे,
ते नारी लीयो तिण लूट[14]॥सु० ना०॥

१४—अरणक ने संसार से मुख मोडकर संयम धारण किया। किन्तु वह नारी के रूप को देखकर मोहित हो गया। स्त्री ने उसका चारित्र लूट लिया।

१५—एक पत्री आंणों ले जावतां रे,
मारग मांहें मिलीयो चोर।
तिणनें पत्री वांण वाया घणां रे,
चोर फरसी सूं न्हांख्या तोड॥सु० ना०॥

१५—एक क्षत्रिय गौना कर ससुराल से अपनी पत्नी को लेकर जा रहा था। मार्ग मे उसे एक चोर मिल गया। क्षत्रिय ने अनेक वाण छोड़े किन्तु चोर ने फरसे से उन सब वाणों को काट दिया।

१६—हिवें एक वांण बाकी रह्यो रे,
जव अस्त्री निज रूप दिखाय।
ते चोर तिणरें रूप विलंबीयो रे,
जब पत्री वांण सूं दीयो टाय॥सु० ना०॥

१६—क्षत्रिय के पास केवल एक वाण बच गया। स्त्री को बचाव का एक उपाय सूझा। उसने चोर को अपना रूप दिखाया। चोर उसके सौन्दर्य को देखने में लग गया। क्षत्रिय ने तुरत वाण छोड उसे भूमि पर गिरा दिया।

१७—चोर पड्यों ते देखनें रे,
पत्री करवा लागों मांण।
चोर कहें गरबे किसुं रे,
म्हांरे नारी नेणां रा लागा बांण ॥सु० ना०॥

१७—चोर को गिरा हुआ देखकर क्षत्रिय गर्व करने लगा। तब चोर बोला—क्षत्रिय! तुम किस कारण से इतना गर्व करते हो? मैं तेरे बाणों से घायल नहीं हुआ हूं। मुझे तो नारी के नयन रूपी बाणों ने बींधा है।

१८—इत्यादिक बहू मांनवी रे,
त्यांरो कहितां न आवें पार।
जे नारी रूप में रीझीया रे,
ते गया जमारो हार ॥सु० ना०॥

१८—इस प्रकार अनेक मनुष्यो ने, जिनकी गिनती संभव नहीं, नारी के रूप मे आसक्त होकर अपना मनुष्य-जन्म खो दिया है।

१९—नारी रूप कांनें सुणी रे,
भिष्ट हुआ छें अनेक[15]।
तो दीठां गुण होसी किहां रे,
समझो आण विवेक ॥सु० ना०॥

१९—स्त्री के रूप की कथा कानो से सुनकर ही अनेक व्यक्ति भ्रष्ट हो गये। फिर मनुष्य! मन मे विवेक लाकर समझ—नारी के रूप को देखने से भला कैसे होगा?

२०—काची कारी आंख नी रे,
सूर्य सांहो जोयां अंध होय।
ज्यूं नारी नेंणा निरखीयां रे,
ब्रह्म वरत देवें खोय ॥सु० ना०॥

२०—जिस प्रकार आंख की कच्ची कारीवाला मनुष्य सूरज की ओर देखने से अन्धा हो जाता है, उसी प्रकार नारी के रूप को निरखने से ब्रह्मचारी व्रत को खो देता है।

२१—ब्रह्मचारि निरखे मती रे,
नारी रूप सिणगार[16]।
आ सीख दीधी छें तो भणी रे,
रखे चूकेला चोथी वाड ॥सु० ना०॥

२१—अत, हे ब्रह्मचारी! नारी के रूप और शृङ्गार को मत देख। तुमको यह शिक्षा इसलिए दी गई है कि कहीं तुम चौथी बाड से न चूक जाओ।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ पूर्वार्द्ध :

चौथी वाड़ का स्वरूप आगम के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है

तम्हा खलु नो निग्गथे इत्थीणं इदियाई
मणोहराइ मणोरमाइ आलोएज्जा निज्झाएज्जा[१] ॥

उत्त १६ ४

—निर्ग्रंथ स्त्रियों की मनोहर एवं मनोरम इन्द्रियों का अवलोकन न करे निरीक्षण न करे।

न रूवलावण्णविलास हासं, न जंपियं इगियपेहियं वा।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता, दट्ठु ववस्से समणे तवस्सी ॥
अदसणं चेव अपत्थणं च, अचिंतणं चेव अकित्तण च।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं, हियं सया बभवए रयाण ॥

उत्त ३२ : १४ १५

—श्रमण तपस्वी स्त्रियों के रूप लावण्य, विलास, हास्य, मजुल भाषण, अग विन्यास, कटाक्ष को चित्त में स्थान दे, देखने का अध्यवसाय न करे।

—ब्रह्मचारी को स्त्री के रूप आदि को नहीं देखना चाहिए। उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए, उसका चिंतन नहीं करना चाहिए, उसका कीर्त्तन नहीं करना चाहिए। ब्रह्मचर्य में रत पुरुष के लिए यह नियम सदा हितकारी और आर्य ध्यान—उत्तम समाधि प्राप्त करने में हितकर है।

[२] दोहा १ उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है

उत्तमतवणियमणाणदसणचरित्तसम्मत्त विणयमूल - मोक्खमग्गं
विसुद्ध सिद्धिगइणिलय अपुणब्भव अक्खयकरं
णिरुवलेव सण्णद्धोच्छइयदुग्गइपह सुगइ
पहदेसग ।

—प्रश्न० २।४ १

—ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम ज्ञान, दर्शन, चारित्र और विनय का मूल है। यह मोक्ष का मार्ग है। विशुद्ध मोक्षगति का स्थान है। पुनर्जन्म का निवारण करनेवाला है। अक्षय सुख का दाता है। निरुपलेप है। यह दुर्गति के मार्ग को रोकता है, सुगति के मार्ग का प्रदर्शक है।

ब्रह्मचर्य के इन गुणों के कारण जो इस व्रत का शुद्धता पूर्वक पालन करता है निश्चय ही वह अपने जन्म को सफल करता है क्योंकि इसके द्वारा वह अपने लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है।

[३] दोहा २ :

इस दोहे का आधार आगम का निम्नलिखित श्लोक है

चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलकियं।
नक्खर पिव दट्ठूण दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥

—द० ८ ५५

—ब्रह्मचारी पुरुष सुअलकृत नारी की ओर—यहाँ तक कि दीवार पर अङ्कित चित्र तक की ओर गृद्ध दृष्टि से न ताके। यदि दृष्टि पड़ भी जाय तो जैसे उसे सूर्य की किरणों के सामने से हटाते हैं उसी तरह हटा ले।

१—[illegible] १६ [illegible] न निकला है।

[४] ढाल गाथा १ का पूर्वार्द्ध :

इसका आधार 'दशवैकालिक सूत्र' का निम्नलिखित श्लोक है

अगपच्चगसठाण चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीण त न निज्झाए काम राग विवड्ढण ॥
दश० ८ ५८

—ब्रह्मचारी स्त्रियों के अङ्ग, प्रत्यङ्ग, सस्थान—आकार, उनकी मनोहर वाणी और चक्षु विन्यास पर ध्यान न लगावे क्योंकि ये काम राग क[illegible]द्धि करने वाले हैं।

[५] ढाल गाथा १ का उत्तरार्द्ध :

'प्रश्नव्याकरण सूत्र' में कहा है—

पङ्कपणयपासजाल भूयं
प्र० ४ २

—अब्रह्मचर्य पङ्क कीच जाल और पाश की तरह है।

सम्भव है स्वामीजी की गाथा का आधार यही सूत्र वाक्य हो।

[६] ढाल गाथा २ :

स्वामीजी की यह गाथा आगम के नि[illegible]लिखित श्लोक के आधार पर है

रूवेसु जो गेहिमुवेइ तिव्व
अकालियं पावइ से विणास ।
रागाउरे से जह वा पयगे,
आलोयलोले समुवेइ मच्चु ॥
—उत्त ३२ २४

—[illegible] तरह रागातुर पतंग [illegible] से [illegible] हो अतृप्त अवस्था में ही मृत्यु को प्राप्त करता है, उसी तरह रूप में तीव्र [illegible]द्धि रखने वाला [illegible] में ही मरण को प्राप्त होता है।

[७] ढाल गाथा ३ :

[८] ढाल गा० ४ :

इसका आधार आगम का निम्न वाक्य है

"केवली वूया—णिग्गथे ण इत्थीण मणोहराइ इंदियाइ आलोएमाणे, णिज्झाएमाणे सतिभेया सन्तिविभंगा जाव धम्माओ भंसेज्जा।"

—आचाराग २ १५ (चौथे महाव्रत की दूसरी भावना)

—केवली भगवान् कहते हैं—'जो निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियों का अवलोकन करता है, निध्यासन करता है, उसकी शान्ति का भग तथा विभङ्ग होता है और वह केवली परूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।"

[९] ढाल गा० ६-८ :

जव मेघ कुमार ने दीक्षा लेने का भाव प्रगट किया तव उसके माता पिता ने कहा—"हे पुत्र। तुम्हारी भार्याएँ सदृश शरीर, सदृश त्वचा, सदृश वय तथा सदृश लावण्य रूप-यौवन और गुणों से युक्त हैं। तू उनके साथ मानुषिक काम भोग भोगने के वाद फिर प्रव्रज्या ग्रहण करना। यह सुनकर मेघ कुमार वोला—

"माणुस्सगा कामभोगा असुई असासया वतासवा पित्तासवा खेलासवा, सुक्कासवा सोणियासवा दुरुस्सासनीसासा दुरुयमुत्तपुरिसपूय-वहुपडिपुन्ना उच्चारपासवणखेलजल्लसिंघाणगवंतपित्तसुक्कसोणितसंभवा अधुवा अणितया असासया सडणपडणविद्धसणधम्मा पच्छा पुर च णं अवस्सविप्पजहणिज्जा।"

—ज्ञाता अ० १ पृ० ५२ ५३

—अर्थात् काम-भोगों का आधार स्त्री का शरीर अपवित्र है—अशाश्वत है। वमन का नाला, पित्त का नाला, श्लेष्म का नाला, शोणित का नाला और वुरे श्वास निश्वास का नाला है। दुर्गन्धियुक्त मूत्र विष्टा, पीप से परिपूर्ण है। विष्टा, मूत्र, कफ पसीना श्लेष्म, वमन, पित्त, शुक्र, शोणित उस में उत्पन्न होते रहते हैं। यह शरीर अध्रुव है अनियत है, अशाश्वत है, शटन, पटन और विध्वस स्वभाव वाला है। पहले या पीछे शरीर का अवश्य नाश होता है।

इसी तरह जव छ राजाओं ने मल्लि कुमारी को पाने के लिए महाराजा कुम्भ पर धावा वोला था तव मल्लिकुमारी ने राजाओं को वुलाकर जो उपदेश दिया वह भी प्राय इन्हीं शब्दों मे था। उसने अ्रत में राजाओं से कहा—

"त मा णं तुब्भे देवाणुप्पिया। माणुस्सएसु कामभोगेसु सज्जह रज्जह गिज्झह मुज्झह अज्झोववज्जह"

—ज्ञाता अ० ८ पृ० १५४

—मानुपिक कामभोगों की सगति मत करो, उन मे राग मत करो, उसमें गृद्ध मव होओ। उनमें मोह मत करो। उनका अध्यवसाय-चिंतन मत करो।

स्वामीजी ने प्रस्तुत गाथाओं में जो वात कही है उसका आधार 'ज्ञाता धर्म सूत्र' के उपर्युक्त स्थल हैं अथवा अन्य आगमों के ऐसे ही स्थल।

[१०] ढाल गा० ९ का उत्तरार्द्ध :

राजीमती और रथनेमि की घटना के लिए देखिए परिशिष्ट क कथा २०

[११] ढाल गाथा १० :

रूपी राय की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट क कथा २१

[१२] ढाल गा० ११-१२ :

एलाची पुत्र की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट क कथा २२

[१३] ढाल गा० १३ :

[illegible] रथ मदनरेखा की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट क कथा २३

[१४] ढाल गा० १४ :

[illegible] परिशिष्ट क कथा [illegible]

[१५] गा० १६ का पूर्वार्द्ध :

नारी के रूप की कथा सुनकर भ्रष्ट होनेवाले व्यक्तियों के कुछ उदाहरण तीसरी ढाल के विवेचन में आ चुके हैं।

[१६] ढाल गा० २१ का पूर्वार्द्ध :

इस विषय में प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा है

"तइयं नारीन हसिय भणियं चेट्ठियविपेक्खेयगइ विलास कीलियं विब्बोइयणट्टगीय वाइय सरीर संठाण वण्णकर चरणणयण लावण्ण रूव जोव्वण पओहराधर वत्थालंकारभूसनाणि य गुज्झोवगासियाइ अण्णाणि य एवमाइयाइ तवसंजम बंभचेरघाओवघाइयाइ अणुचरमाणेणं बंभचेरं न चक्खुसा ण मनसा न वयसा पत्थेयव्वाइ पावकम्माइ ।" —प्रश्न० २४ तीसरी भावना

अर्थात्—स्त्री का हास्य, विकारयुक्त वचन चेष्टा नजर, गति विलास क्रीड़ा, विब्बोक नृत्य, गीत बाजा बजाना, शरीर की बनावट रंग रूप हाथ पैर नेत्र लावण्य आकार यौवन स्तन अधर वस्त्र अलंकार सजावट, गुह्य अंग तथा इसी प्रकार की अन्य पाप जनक वस्तुएँ, जो तप संयम तथा ब्रह्मचर्य का पूर्ण या आंशिक रूप से घात करती हों ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान करने वाले को नयन, मन, और वचन से त्याग देनी चाहिये।

"एवं इत्थीरूवविरतिसमिइ जोगेन भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बंभचेर गुत्ते।"

— प्रश्न० २४ तीसरी भावना

अर्थात्—इस प्रकार स्त्री रूपविरति समिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त, इन्द्रियों की लोलुपता से रहित जितेन्द्रिय तथा ब्रह्मचर्य गुप्ति से युक्त होता है।

पांचवीं बाड़

ब्रह्मचारी ने रहिवों नहीं, सब्द पड़े तिहा कान

ढाल : ६

दुहा

१—भीत परेच ताटी आंतरें,
जिहां रहिता हुवें नर नार।
तिहां ब्रह्मचारी नें रहिवों नहीं,
ए जिण कही पांचमीं बाड़ [1] ॥

१—ब्रह्मचारी को उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए जहाँ दीवार, पर्दा या टाटी की ओट मे स्त्री-पुरुष रहते हों। जिन भगवान् ने पाँचवी बाड यही कही है।

२—सजोगी पासें रहें,
ब्रह्मचारी दिन रात।
तेह तणा सब्द सुण्यां,
हुवें वरत नी घात ॥

२—यदि ब्रह्मचारी रात-दिन संयोगी के पास रहता है तो उसके शब्दों को सुनने से उसके ब्रह्मचर्य-व्रत की घात होती है।

३—जेवर नेउर खलकती,
ते सब्द पड़ें तिहां कांन।
जब चल जाएं ब्रह्म वरत थी,
लागें विषें सू ध्यांन ॥

३—जब जेवर और नुपूर की आवाज करती हुई स्त्री चलती है तो उसके शब्द ब्रह्मचारी के कान मे पडते है, जिससे वह ब्रह्मचर्य व्रत से विचलित हो जाता है और उसका ध्यान विषय मे लग जाता है।

ढाल

[आनन्द समकित उच्चरे रे लाल]

१—बाड सुणों हिवें पाचमी रे लाल,
सील तणी रखवाल। ब्रह्मचारी रे।
ज्यूं वरत कुसलें रहे ताहरो रे लाल,
वले नावें अछतो आल। ब्रह्मचारी रे।
बाड़ सुणों हिवें पाचमीं रे लाल ॥

१—हे ब्रह्मचारी। अब तुम पाँचवीं बाड सुनो, जो शील-रक्षा की हेतु है, जिससे कि तुम्हारा व्रत कुशल रह सके और तुम पर झूठा कलंक न आवे।

२—भीत परेच ताटी आंतरें रे लाल,
अस्त्री पुरष रहिता हुवें रात । ब्र० ।
तिहां कुण २ दोषण उपजें रे लाल,
ते सांभलजे चितलाय । ब्र० वा०॥

२—जहाँ पर्दा या टाटी की ओट में स्त्री-पुरुष रात में रहते हों वहाँ रहने से कौन-कौन से दोष उत्पन्न होते हैं, उसका वर्णन करता हूं। ध्यान-पूर्वक सुनो।

३—केल करें निज कंत सूं रे लाल,
ते बोलती जगावें छें कांम । ब्र० ।
कूइ सब्द करें तिहां रे लाल,
रुदन सब्द करें तिण ठांम । ब्र० वा०॥

३—स्त्री अपने प्रियतम से क्रीडा करती है और शब्दों से उसे कामोत्तेजित करती है। वह कभी कूजित-शब्द करती है और कभी रुदन-शब्द।

४—कोयल जिम बोलें कंत सूं रे लाल,
गावें मधुरें साद । ब्र० ।
काम वसें हसि २ हसें रे लाल,
बोलवी करें उनमाद । ब्र० वा०॥

४—वह कभी कोयल की तरह मधुर आलाप करती है और कभी मधुर-शब्दों में गाती है। काम के वशीभूत होकर वह कभी अट्टहास करती है और कभी मदमत्त शब्द बोलती है।

५—वले थणित क्रंदित सब्द तिहां रे लाल,
वले विलपति सब्द हुवें ताम । ब्र० ।
तिहां रहितां एहवा सब्द सांभलें रे लाल,
जब चल जावें तुरत परिणाम रे । ब्र० वा०॥

५—इसी प्रकार वहाँ स्थनित, क्रन्दित और विलापात के शब्द होते हैं। ऐसे स्थान पर रहने से ब्रह्मचारी के कानों में उपर्युक्त शब्द पड़ते हैं और उसके भाव विचलित हो जाते हैं।

६—गाज वर्षा सब्द सुणी रे लाल,
जिम पामें पपईया मोर । ब्र० ।
ज्यूं भोग समें रा सब्द सांभल्यां रे लाल,
जागें मदन नें जोर । ब्र० वा०॥

६—जिस प्रकार घन-गर्जन सुनकर मोर और पपीहा रति को प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार भोग-समय के कामोद्दीपक शब्दों को सुनने से मन में दोष लगता है।

टिप्पणियाँ

[१] ढाल दोहा १ :

स्वामीजी की यह व्याख्या आगमों के निम्नलिखित वाक्यों पर आधारित है

तम्हा खलु नो निग्गंथे कुड्डंतरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्ततरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्द वा गीयसद्द वा हसियसद्द वा थणियसद्द वा कंदियसद्द वा विलवियसद्द वा सुणेमाणे विहरेज्जा।

—उत्त० १६ ५

—टाटी, पर्दे भीत आदि की ओट में रहकर निर्ग्रन्थ स्त्रियों की मधुर ध्वनि, रुदन गीत, हास्य विलास और विषय प्रेम के शब्दों को न सुने।

यही बात उत्तराध्ययन सूत्र में अन्यत्र भी कही गयी है

कूइयं रुइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं।
बम्भचेररओ थीणं सोयगेज्झं विवज्जए॥

—उत्त० १६ ५

[२] ढाल गा० ५ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार आगम के निम्नलिखित वाक्य हैं

निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्ततरंसि वा कूइयसद्द वा रुइयसद्दं वा गीयसद्द वा हसियसद्द वा थणियसद्द वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्द वा सुणेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा वितिगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा, भेद वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा

—उत्त० १६ ५

—जो ब्रह्मचारी टाटी, परदे, भीत आदि की ओट में रहकर स्त्रियों के कूजन, रुदन, गीत, हास्य विलास क्रन्दन, विलापादि के शब्द सुनता है, उसके मन मे ब्रह्मचर्य के प्रति शका उत्पन्न होती है। वह अब्रह्मचर्य की आकाक्षा करने लगता है। ब्रह्मचर्य का पालन करू या नहीं, उसके मन में ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भेद होता है। उन्माद और दीर्घकालिक रोगातक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

छठी वाड़

खाधो पीधो विलसीयो, ते मत याद अणाय

ढाल ७ :

दुहा

१—हिवें छठी वाड़ में इम कह्यों,
चंचल मन म डिगाय।
खाधां पीधां विलसीयां,
ते मत याद अणाय॥

१—छठी वाड मे ऐसा कहा गया है कि तुम अपने चंचल मन को मत डुलाओ। पूर्व सेवित खान-पान, भोग-विलास का स्मरण मत करो।

२—मन गमता भोग भोगव्या,
ते याद कीयां गुण नाहि।
ए वाड भांग्यां व्रत खंड हुवें,
वले अजस हुवें लोक माहि॥

२—पूर्व मे भोगे हुए भोगो के स्मरण करने मे कोई हित नहीं है। इस बाड का भग करने से ब्रह्मचर्य-व्रत खण्डित होता है और लोगो मे अपयश फैलता है।

ढाल

[रे जीव मोह अनुकम्पा नाणीए]

१—हाव भाव सब्द नारी तणा,
त्यां सुणीयां वधे विषे विकार रे।
एहवा सब्द आगें सुणीया हुवें,
त्यानें याद न करणा लिगार रे।
छठी वाड सुणो ब्रह्मचर्य नी॥

१—स्त्रियों के हाव-भाव पूर्ण शब्दों के श्रवण से विषय-विकार बढ़ता है। पूर्व मे इस प्रकार के सुने हुए शब्दों का जरा भी स्मरण न करे।
हे ब्रह्मचारी! ब्रह्मचर्य की छठी बाड सुनो।

२—जे गोरादिक सरीर नो,
रूप जोबनवंत अनंत रे।
एहवी अस्त्री स भोग भोगव्या
चितारे नहीं बुधवंत रे।छ०॥

२—गौरादि वर्ण से युक्त अति सुरूपवान रूपवती स्त्री से भोगे हुए भोगों को ब्रह्मचारी स्मरण न करे।

४—हाथ पग सुखमाल नारी तणा,
सुखमाल सरीर सुख दाय रे।
एहवी अस्त्री सू कीला करी,
ते चीतारें नहीं मन मांय रे ॥छ०॥

४—हाथ-पांव से सुकुमार कोमलांगी तथा सुख-स्पर्श-वाली स्त्री से पूर्व में की गई क्रीडा का मन मे चिंतन नहीं करना चाहिए।

५—सब्द रूप गन्ध रस नें फरस,
पांच परकार नां काम भोग रे।
ते तो अस्त्री संघातें भोगव्या,
त्यांनें याद करणा नहीं जोग रे ॥छ०॥

५—स्त्री के साथ भोगे गये शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श इन पांच प्रकार के काम-भोगों का स्मरण करना उचित नहीं।

६—रम्या सारी पासा सोगटादिक,
जूवटादिक रांमत अनेक रे।
ते अस्त्री संघाते रांमत करी,
त्यांनें याद न करणी एक रे [२]।

६—स्त्री के साथ खेले गये सार-पासा, सोगटा, जुवा आदि अनेक खेलों का भी स्मरण नहीं करना चाहिए।

७—सब्द सुणीयां भांगे वाड़ पांचमीं,
रूप मू चोथी वाड़ विगाड रे।
फरस सू भांगे वाड़ तीसरी,
अस्त्री कथा सूं दूजी वाड़ रे ॥छ०॥

७—कामोद्दीपक शब्द सुनने से पांचवीं वाड़, रूप देखने से चौथी वाड, स्पर्श से तीसरी वाड तथा स्त्री-कथा से दूसरी वाड भङ्ग होती है।

८—एक याद करें यां मांहिलों,
तिण सू भांगें छठी वाड़ रे।
तो सगलाई याद कीयां थकां,
ब्रह्म वरत नें हुवें विगाड रे ॥छ०॥

८—पूर्व मे भोगे हुए शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श आदि में से एक का भी स्मरण करने से छठी वाड भङ्ग हो जाती है। इन सब को याद करने से ब्रह्मचर्य-व्रत को क्षति पहुचती है।

९—मन गमता कांम भोग भोगव्या,
तिण सू हरषत हुवें संभाल रे।
तिण वाड सहीत वरत खंडीया,
पाणी किम रहें फूटा पाल रे [३] ॥छ०॥

९—पूर्व मे भोगे हुए मनोरम काम-भोगों को याद कर जो हर्षित होता है उसने वाड सहित ब्रह्मचर्य-व्रत का खण्डन किया है। बाध के टूट जाने पर पानी कैसे रुका रह सकता है? उसी प्रकार वाड के खण्डित होने पर ब्रह्मचर्य-व्रत कैसे सुरक्षित रह सकता है?

१०—पूर्वला काम भोग चीतार नें,
कीधी रेंणा देवी सू पीत रे।
जब जिन रिष नें जख न्हाखीयो,
रेंणा देवी मार्यो बेंरीत रे [४] ॥छ०॥

१०—जिनरिख ने पूर्व मे भोगे हुए काम-भोगों का स्मरण कर रयणादेवी से प्रीति की। इससे यक्ष ने उसको अपनी पीठ से फेंक दिया और रयणादेवी ने उसको बुरी तरह से मार डाला।

११—जहर सहीत छाछ पीये चालीयां,
त्यांरो बांकोई न हुवो बाल रे।
त्यानें घणां बरसां पछें कह्यो,
तिण सूं मरण पांम्यो ततकाल रे[५] ॥छ०॥

११—वृद्धा के पुत्र ने विष युक्त छाछको पीकर प्रस्थान किया किन्तु उसका बाल भी बांका न हुआ। पर, बहुत वर्षों के बाद जब छाछ मे जहर होने की बात उसे बताई गई तब स्मरण मात्र से उसके शरीर मे तुरंत विष व्याप्त हो गया और वह मर गया।

१२—भाई नें पनग डस्यो देखनें,
भाई नें न जणायों ताय रे।
जणायो जिण दिन धमको पडें,
ततकाल छोडी तिण काय रे[६] ॥छ०॥

१२—भाई को सर्प ने डँस लिया, यह देखकर भी उसने अपने भाई को इसकी सूचना नहीं दी। जिस दिन उसको सर्पदंश की जानकारी दी गई, आघात के कारण उसकी तत्काल मृत्यु हो गई।

१३—ए मूआ जहर याद आणावीयां,
पामी अणचिंतवी असमाध रे।
ज्यूं भागे ब्रह्मचारी सील सूं,
कांम भोग नें कीधा याद रे ॥छ०॥

१३—जहर की याद दिलाने से अचानक असमाधि को प्राप्त कर उन लोगों की मृत्यु हो गई। इसी तरह काम-भोगों का स्मरण करने से ब्रह्मचारी शील से दूर हो जाता है।

१४—काम भोग नें याद कीया थकां,
संका कंखा उपजें मन मांय रे।
सील पालूं के पालूं नहीं,
चले जावक पिण भिष्ट थाय रे[७] ॥छ०॥

१४—काम-भोगों को याद करने से मन मे शंका, कांक्षा, शील का पालन करूँ या नहीं—ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है और फिर वह अपने व्रत से समूल भ्रष्ट हो जाता है।

१५—इम जाणनें नर नारीयां,
मत लोपो छठी वाड रे।
तो सील रतन सुध नीपजें,
तिण सूं हुवें खेवो पार रे[८] ॥छ०॥

१५—हे स्त्री-पुरुषो! उपर्युक्त बातों को सोच कर छठी बाड का उल्लंघन मत करो। ऐसा करने से शुद्ध शीलव्रत निष्पन्न होगा जिससे तुम्हारा बेड़ा पार हो जायगा।

टिप्पणियां

—ब्रह्मचारी गृहस्थ-जीवन मे स्त्री के साथ भोगे हुए भोग हास्य, क्रीड़ा मैथुन दर्प, सहसा वित्रासन आदि के प्रसगों का कभी भी स्मरण न करे।

पुव्वरयाइ पुव्व कीलियाइं सरमाणे सतिभेदा सन्तिविभगा सति केवलीपण्णत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा।

—आचाराङ्ग २ ४ ३

पूर्वरत पूर्व क्रीड़ित भोगों का स्मरण करने से शान्ति का भङ्ग होता है, उसका विभङ्ग होता है और निर्ग्रन्थ केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[२] ढाल गा० १-६ :

इन गाथाओं का आधार निम्न आगम स्थल लगता है

चउत्थ पुव्वरय पुव्व कीलिय पुव्व सगथ गथ सथुया जे ये आवाह विवाह चोल्लगेसु य तिहिसु जण्णेसु उस्सवेसु य सिंगारागार चारुवेसाहिं हाव-भाव पललिय विक्खेव विलास सालिणीहिं अणुकूल पेम्मिगाहिं सद्धिं अणुभूया सयण सपओगा उउसुह वर कुसुम सुरभि चन्दन सुगन्धिवर वास धूव सुह फरिस वत्थ भूसण गुणोववेया रमणिज्जा उज्जगेय पउर णडणट्टग जल्ल मल्ल मुट्ठिग वेलवग कहग पव्वग लासग आइक्खगलखमख तूणइल्लतुम्व वीणिय तालायरपकरणाणि य वहूणि महुरसरगीय सुस्सराइ अण्णाणि य एवमाइयाणि तवसजमवंभचेरघाओवघाइयाइं अणुचरमाणेणं वंभचेर ण ताइ समणेण लब्भा दट्ठु ण कहेउ ण वि सुमरिउ।

—प्रश्न० २ ४ चौथी भावना

पहले (गृहस्थ अवस्था में) भोगे हुए काम-भोगों का पहले की हुई क्रीड़ाओं का पहले के श्वसुर आदि सम्वन्धियों का, अन्यान्य सम्वन्धियों का तथा परिचित जनों का स्मरण नहीं करना चाहिए। आवाह (वधू का आगमन) विवाह और वालक के चूड़ाकर्म के अवसर पर, विशिष्ट तिथियों में यज्ञ (नाग पूजा आदि) तथा उत्सव (इन्द्रोत्सव आदि) के प्रसंग पर शृंगार से सजी हुई सुन्दर वेष वाली स्त्रियों के साथ, हाव भाव ललित विक्षेप विलास से सुशोभित अनुकूल प्रेमिकाओं के साथ पहले जो शयन या सान्निध्य किया हो उसका स्मरण नहीं करना चाहिए।

ऋतु के अनुकूल सुन्दर पुष्प सुरभित चन्दन सुगन्धित द्रव्य सुगन्धित धूप सुखद स्पर्शवाले वस्त्र, आभूषण आदि से सुशोभित स्त्रियोंके साथ भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना चाहिए।

रमणीय वाद्य गीत नट नर्तक (नाटक) जल्ल (रस्सी पर खेल करनेवाला नट) मल्ल, मुष्टिक (मुट्ठी से कुस्ती करनेवाला मल्ल), विदूषक, कथाकार, तैराक रास करनेवाले-भाण्ड शुभाशुभ वताने वाले आख्यायक, लख (वड़े वाँस पर खेल करने वाले) मख (चित्र दिखाकर भीख मागने-वाले) तुम्वा वजाने वाले, ताल देने वाले प्रेक्षक इन सव की क्रियाओं को, भाँति-भाँति के मधुर स्वर से गाने वालों के गीतों को, तथा इनके अतिरिक्त तप सयम-ब्रह्मचर्य का एक देश या सर्व देश से घात करनेवाले व्यापारों को ब्रह्मचर्य की आराधना करनेवाला पुरुष त्याग दे। वह न कभी इनका कथन करे न स्मरण करे।

[३] ढाल गा० ७-८-९ :

इन गाथाओं मे छठी वाड़ का पूर्व वाड़ो के साथ क्या सम्वन्ध है यह वताया गया है। पाँचवी वाड़ म कामोत्तेजक शब्द सुनने की मनाही है चौथी वाड़ मे रूप निरीक्षण की मनाही है तीसरी वाड़ मे स्पर्श की मनाही है, दूसरी वाड़ मे स्त्री कथा की मनाही है। इस छठी वाड़ मे स्त्री के सुने हुए कामोद्दीपक शब्द का स्मरण करने जो रूप देखा हो उसका स्मरण करने जो स्पर्श आदि भोग भोगे हों उनका स्मरण करने जो स्त्री-कथायें सुनी हो उनका स्मरण करने की मनाही है। इन मे से एक का भी स्मरण करना छठी वाड़ का भङ्ग करना है। जो पूर्व मे सेवन की गई सारी वातों का स्मरण करता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत विनष्ट हो जाता है।

[४] ढाल गा० १० :

[illegible] और रयणादेवी की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २५

[५] ढाल गा० ११ :

[illegible] की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २६

[६] ढाल गा० १२ :

[illegible] की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा २७

[७] ढाल गा० १४ :

इस गाथा का आधार सूत्र के निम्न लिखित वाक्य हैं

निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे सका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेद वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा।

—उत्त० १६ ६

—पूर्वोक्त पूर्व क्रीडित काम भोगों के स्मरण से ब्रह्मचारी को ब्रह्मचर्य में शका अब्रह्मचर्य की आकांक्षा तथा ब्रह्मचर्य का पालन करूं या नहीं ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य का भग होता है। उन्माद उत्पन्न होता है तथा दीर्घकालीन रोगातक होते हैं और वह केवली प्रणीत धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

[८] ढाल गा० १५ :

इस गाथा का भाव आगम के निम्न वाक्यों से मिलता है

ए एव पुव्वरय पुव्वकीलिय विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइन्दिए बभचेरगुत्ते।

प्रश्न० २ ४ चोथी भावना।

—इस प्रकार पूर्व रत पूर्व क्रीड़ित विरति समिति के योग से भावित अतर आत्मावाला ब्रह्मचर्य में रत इन्द्रिय लालुपता से रहित, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्यगुप्तिवाला होता है।

सातमीं बाड़

नित नित अति सरस आहार नें वरज्यों सातमीं बाड

ढाल ८

दुहा

१—नित नित अति सरस आहार नें,
वरज्यों सातमीं वाड़ ।
ते ब्रह्मचारी नित भोगवें,
तो वरत नें हुवें विगाड [1] ॥

१—सातवीं बाड मे ब्रह्मचारी को नित्य प्रति अति सरस आहार करने का वर्जन किया है। प्रतिदिन सरस आहार के उपभोग से ब्रह्मचर्य व्रत को क्षति पहुचती है।

२—घ्रतादिक सू पूरण भर्यो,
एहवों भारी आहार ।
ते धातू दीपावें अति घणीं,
तिण सू वधें छें विकार [2] ॥

२—घृतादि से परिपूर्ण गरिष्ठ आहार अत्यधिक धातु-उद्दीपन करता है, जिससे विकार की वृद्धि होती है।

३—खाटा खारा चरचरा,
वले मीठा भोजन जेह ।
वले विविध पणें रस नीपजें,
ते रसना सव रस लेह ॥

३—खट्टे, नमकीन, चरपरे और मीठे भोजन तथा जो विविध प्रकार के रस होते हैं, उनका जिह्वा आस्वाद लेती है।

४—जेहनी रसना वस नहीं,
ते चाहें सरस आहार [3] ।
ते वरत भागे भागल हुवें,
खोवें ब्रह्म वरत सार [4] ॥

४—जिसकी रसना वश मे नहीं, वह सरस आहार की चाह करता रहता है। परिणाम स्वरूप व्रत का भंग करके वह भ्रष्ट होता है और सारभूत ब्रह्मचर्य व्रत को खो देता है।

ढाळ

[हुवें तो कर साध ने वदना]

१—कवला करें आहार उपारतां,
घ्रत बिन्दू झरतों आहार भारी रे ।
एहवो आहार सरस चाप २ नें,
नित २ न करें ब्रह्मचारी रे [5] ।
ए वाड़ न लोपो सातमीं ॥

१—ग्रास उठाते समय जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों, ऐसा सरस आहार ब्रह्मचारी नित्य प्रति ठूँस-ठूँस कर न करे।

हे ब्रह्मचारी ! तू इस सातवीं बाड़ का लोप न कर।

२—वय तुरणी काया रोग रहीत छें,
ते करें सरस आहारो रे।
ते आहार रूडी रीत परगमें,
तिण सूं वधें अनंत विकारो रे॥ए०॥

२—वय मे तरुण और निरोग शरीर वाला व्यक्ति जब सरस आहार करता है तो वह अच्छी तरह परिणमन करता है। इससे विकार की अत्यन्त वृद्धि होती है।

३—विकार वध्यां ब्रह्म वरत नें,
दोष अनेक विध लागें रे।
चलें अंग कुचेष्टा उपजें,
जावक वरत पिण भांगे रे॥ए०॥

३—विकार बढने से ब्रह्मचर्य व्रत मे अनेक प्रकार के दोष लगते हैं। अंगो मे कुचेष्टाएं उत्पन्न होती हैं और फिर व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

४—सरस आहार नित चांपे कीयां,
वरत भांगे बिगड़ें बेहुं लोगो रे।
संसार में दुखीयो हुवें,
वधतो जाए रोग नें सोगो रे॥ए०॥

४—नित्य प्रति ठूँस ठूँस कर सरस आहार करने से व्रत भंग होता है। दोनों लोक बिगड़ते हैं। वह संसार मे दुःखी होता है और उसके रोग-शोक की वृद्धि होती जाती है।

५—वय तुरणी काया जीर्ण पड़ी,
ते करें सरस आहारो रे।
तो पेट फाटें पसो टलवलें,
वले आवें अजीरण डकारो रे॥ए०॥

५—तरुण होते हुए भी जिसका शरीर जीर्ण होता है, वह यदि ठूंस-ठूंस कर सरस आहार करता है तो उसका पेट फटने लगता है। वह पड़ा पड़ा करवट बदलता रहता है। उसे अजीर्ण की डकार आने लगती है।

६—वले विविध पणे रोग उपजें,
नित सरस आहार कीधा भारी रे।
अकाले मरे वरस खोय नें,
पछें होय जाएं अनंत संसारी रे॥ए०॥

६—नित्य प्रति गरिष्ठ और सरस आहार करने से विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं। इस खोकर वह अकाल मे मृत्यु प्राप्त करता है और अनन्त संसारी बन जाता है।

७—वय तुरुणी ने धणी इण विध सेवें,
नित कीधा सरस आहारो रे।
तो टूटा ने दहिलो किम,
[illegible] ॥ए०॥

९—चक्रवत नीं रसवती भोगवे,
भूदेव ब्राह्मण छोडी लाजो रे।
कांम विटंबणा तिण लही,
वेंन वेटी सू कीयों अकाजो रे [८] ।।ए०।।

९—चक्रवर्ती के घर के सरस आहार के सेवन से भूदेव नामक ब्राह्मण ने लज्जा छोड दी और काम मे व्याकुल होकर अपनी बहन-वेटी से दुष्कृत्य किया।

१०—सरस आहार तणों लपटी घणों,
मंगू आचार्य तेहो रे।
मरनें गयों व्यंतरीक में,
संजम लारें उडाई खेहो रे [९] ।।ए०।।

१०—सरस आहार में आसक्त मंगू नामक आचार्य मरकर व्यन्तर योनि मे पैदा हुआ। सरस आहार ग्रहण कर उसने इस प्रकार अपने संयम के पीछे धूल उडाई।

११—वले सेलग राय रिषीसरु,
सरस आहार तणो हुवों ग्रिधी रे।
ने जिभ्या वस पडीयें थकें,
किरीया अलगी धर दी रे [१०] ।।ए०।।

११—राजर्षि शैलक सरस आहार मे गृद्ध हुआ। जिह्वा के वशीभूत होकर उसने अपनी क्रिया को अलग धर दिया।

१२—कुडरीक रस लोलपी थकों,
पाछो घर में आयो रे।
भारी आहार सू रोग उपज मूओ,
पडीयो सातमीं नरक में जायो रे [११] ।।ए०।।

१२—कुण्डरीक रसलोलुप होकर पुन: घर मे आ वसा। भारी सरस आहार करने से उसके शरीर मे रोग उत्पन्न हुए और मरकर वह सातवीं नरक मे गया।

१३—इत्यादिक वहू साध नें साधवी,
लोपी नें सातमीं वाडो रे।
ब्रह्मचर्य वरत खोय नें,
गया जमारो हारो रे [१२] ।।ए०।।

१३—इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियो ने सातवीं वाड का उल्लंघन कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया और मानव जन्म को हारकर चल वसे।

१४—सनीपातीयो दूध मिश्री पोयें,
तो सनीपात वधतो देखो रे।
ज्यूं ब्रह्मचारी नें सरस आहार सूं,
विकार वधें छें वशेखो रे [१३] ।।ए०।।

१४—सन्निपात के रोगी को जिस प्रकार दूध-मिश्री का आहार करने से रोग बढ जाता है, उसी प्रकार सरस आहार करने से ब्रह्मचारी के विकार की विशेष रूप से वृद्धि होती है।

१५—इम साभल ब्रह्मचारीया,
नित भारी म करजो आहारो रे।
सील वरत सुध पाल नें,
आवा गमण निवारो रे ।।ए०।।

१५—ऐसा सुनकर हे ब्रह्मचारियो। नित्य भारी सरस आहार मत करो। शीलव्रत का शुद्ध पालन कर आवागमन से मुक्त होओ।

२—वय तुरणी काया रोग रहीत छें,
ते करें सरस आहारो रे।
ते आहार रूडी रीत परगमें,
तिण सू वधें अतंत विकारो रे॥ए०॥

२—वय मे तरुण और निरोग शरीर वाला व्यक्ति जब सरस आहार करता है तो वह अच्छी तरह परिणमन करता है। इससे विकार की अत्यन्त वृद्धि होती है।

३—विकार वध्यां ब्रह्म वरत नें,
दोष अनेक विध लागें रे।
वले अग कुचेष्टा उपजें,
जाबक वरत पिण भांगे रे॥ए०॥

३—विकार बढने से ब्रह्मचर्य व्रत मे अनेक प्रकार के दोष लगते है। अंगो मे कुचेष्टाएँ उत्पन्न होती है और फिर व्रत सर्वथा भंग हो जाता है।

४—सरस आहार नित चांपे कीयां,
वरत भांगे विगडें बेहूँ लोगो रे।
संसार में दुखीयों हुवें,
वधतो जाए रोग नें सोगो रे॥ए०॥

४—नित्य प्रति ठूँस ठूँस कर सरस आहार करने से व्रत भंग होता है। दोनो लोक विगडते है। वह संसार मे दु खी होता है और उसके रोग-शोक की वृद्धि होती जाती है।

५—वय तुरणी काया जीर्ण पडी,
ते करें सरस आहारो रे।
तो पेट फाटें पत्यो टलवलें,
वले आवें अजीरण डकारों रे॥ए०॥

५—तरुण होते हुए भी जिसका शरीर जीर्ण होता है, वह यदि ठूँस-ठूँस कर सरस आहार करता है तो उसका पेट फटने लगता है। वह पडा पडा करवट बदलता रहता है। उसे अजीर्ण की डकारें आने लगती है।

६—वले विविध पणे रोग उपजें,
नित सरस आहार कीधां भारी रे।
अकाले मरे धरम खोय नें,
पछें होय जाएं अनंत संसारी रे॥ए०॥

६—नित्य प्रति गरिष्ट और सरस आहार करने से विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते है। धर्म खोकर वह अकाल मे मृत्यु प्राप्त करता है और अनन्त संसारी बन जाता है।

७—वय तुरणी रो धणी इण विध मरें,
नित कीधां सरस आहारो रे।
तो वूढा रो कहिवो किम्,
इणरे पेट तुरत झालें नागे रे॥ए०॥

७—नित्य सरस आहार करने से यदि तरुण वय के स्वामी की इस तरह मृत्यु होती है तो फिर वृद्ध का तो कहना ही क्या? उसका पेट तो तत्काल ही भारी हो जाता है।

८—दूध दही विविध पकवान नें,
सरस आहार भोगवे रहे सूतो रे।
पाप समण कह्यो उत्तराधेन नें,
ते ब्रह्मचर्य थी विगूतो रे॥ए०॥

८—जो नित्य प्रति दूध, दही, घृत और विविध पकवान का सरस आहार करता है और सोता रहता है, उसको उत्तराध्ययन सूत्र मे पापी श्रमण कहा है। वह ब्रह्मचर्य से रहित होता है।

६—चक्रवत नीं रसवती भोगवे,
भूदेव ब्राह्मण छोडी लाजो रे।
कांम विटंवणा तिण लही,
वेंन बेटी सू कीयों अकाजो रे[८] ॥ए०॥

६—चक्रवर्ती के घर के सरस आहार के सेवन से भूदेव नामक ब्राह्मण ने लज्जा छोड दी और काम मे व्याकुल होकर अपनी बहन-बेटी से दुष्कृत्य किया।

१०—सरस आहार तणों लपटी घणों,
मंगू आचार्य तेहो रे।
मरनें गयों व्यंतरीक में,
संजम लारें उडाई खेहो रे[९] ॥ए०॥

१०—सरस आहार मे आसक्त मंगू नामक आचार्य मरकर व्यन्तर योनि मे पैदा हुआ। सरस आहार ग्रहण कर उसने इस प्रकार अपने संयम के पीछे धूल उडाई।

११—वले सेलग राय रिषीसरु,
सरस आहार तणो हुवों ग्रिधी रे।
ने जिभ्या वस पडीयें थकें,
किरीया अलगी धर दी रे[१०] ॥ए०॥

११—राजर्षि शैलक सरस आहार मे गृद्ध हुआ। जिह्वा के वशीभूत होकर उसने अपनी क्रिया को अलग धर दिया।

१२—कुडरीक रस लोलपी थकों,
पाछो घर मे आयो रे।
भारी आहार सू रोग उपज मूओ,
पडीयो सातमीं नरक में जायो रे[११] ॥ए०॥

१२—कुण्डरीक रसलोलुप होकर पुन घर मे आ वसा। भारी सरस आहार करने से उसके शरीर मे रोग उत्पन्न हुए और मरकर वह सातवीं नरक मे गया।

१३—इत्यादिक वहू साध नें साधवी,
लोपी नें सातमीं वाड़ो रे।
ब्रह्मचर्य वरत खोय नें,
गया जमारो हारो रे[१२] ॥ए०॥

१३—इस प्रकार अनेक साधु-साध्वियो ने सातवीं वाड का उल्लंघन कर ब्रह्मचर्य व्रत को खो दिया और मानव जन्म को हारकर चल वसे।

१४—सनीपातीयो दूध मिश्री पोर्यें,
तो सनीपात वधतो देखो रे।
ज्यूं ब्रह्मचारी नें सरस आहार सु,
विकार वधें छें वशेखो रे[१३] ॥ए०॥

१४—सन्निपात के रोगी को जिस प्रकार दूध-मिश्री का आहार करने से रोग बढ जाता है, उसी प्रकार सरस आहार करने से ब्रह्मचारी के विकार की विशेष रूप से वृद्धि होती है।

१५—इम सांभल ब्रह्मचारीया,
नित भारी म करजो आहारो रे।
सील वरत सुध पाल नें,
आवा गमण निवारो रे ॥ए०॥

१५—ऐसा सुनकर हे ब्रह्मचारियो! नित्य भारी सरस आहार मत करो। शीलव्रत का शुद्ध पालन कर आवागमन से मुक्त होवो।

१६—सरस आहार तो जीहांई रह्यों,
लूखांई पिण आहारो रे।
चांप चांप दिन प्रतें करणों नहीं,
ते कहिसूं आठमीं वाड़ो रे॥ए०॥

१६—सरस आहार तो दूर रहा बल्कि रूखा आहार भी ठूँस-ठूँस कर नित्य प्रति नहीं करना चाहिए। आठवीं बाड़ मे मैं यही बताऊँगा।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में स्वामीजी ने सातवीं वाड़ का स्वरूप बताया है। इस सातवीं वाड़ में ब्रह्मचारी के लिए सरस आहार वर्जनीय है। इसका आधार निम्न आगम वाक्य है

नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहरेज्जा।

—उ० १६ ७

—निर्ग्रंथ प्रणीत आहार का सेवन न करे।

'प्रणीत' शब्द का अर्थ है जिससे घृत बिन्दु झर रहे हों ऐसा आहार। उपलक्षण रूप से धातु को अत्यन्त उत्तेजित करनेवाले अन्य आहार भी प्रणीत आहार में समाविष्ट हैं १।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि ब्रह्मचारी सर्व प्रकार के कामोत्तेजक आहार पान का परिवर्जन करे। स्वामीजी ने स्पष्ट कहा है कि ब्रह्मचारी नित्य प्रति ऐसा आहार न करे। यदा कदा सरस आहार करने का प्रसंग उपस्थित हो तो अति मात्रा में उसका सेवन न करे।

[२] दोहा २ :

ब्रह्मचारी के लिए स्निग्ध सरस आहार क्यों वर्जनीय है, इसका कारण इस दोहे में बताया गया है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है

पणीयं भत्तपाणं तु, खिप्पं मयविवड्ढणं।
बंभचेररओ भिक्खू, निच्चसो परिवज्जए॥

—उत्त० १६ ७

—प्रणीत आहार उन्मादक—विषय-वासना को शीघ्र उत्तेजित करनेवाला होता है। अतः ब्रह्मचर्य में रत भिक्षु ऐसे भोजन पान से सर्वदा दूर रहे।

स्वामीजी के प्रस्तुत दोहे का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' का उपर्युक्त श्लोक ही है।

'दशवैकालिक सूत्र' में कहा है

विभूसा इत्थिसंसग्गी, पणीयं रसभोयणं।
नरस्सत्तगवेसिस्स, विसं तालउडं जहा॥

—दश० ८ ५७

[३] दोहा ३-४ :

'उत्तराध्यन सूत्र' में कहा है—"जिह्वा रस की ग्राहक है और रस जिह्वा का ग्राहक है। अमनोज्ञ रस द्वेष का हेतु और मनोज्ञ रस राग का हेतु होता है [१]।'

आम्र, मधुर कटुक, कषैला और तिक्त ये पाँच रस हैं। जिह्वा इन सब रसों की ग्राहक है। जिसकी जिह्वा संयमित नहीं होती वह स्वादिष्ट रसों की कामना करता है। जो स्वादिष्ट रसों का नित्य प्रति अथवा अतिमात्रा में सेवन करता है उसके कामोद्रेक हो ब्रह्मचर्य का नाश होता है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है

रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।
दित्त च कामा समभिद्दवन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी॥

—उत्त० ३२ . १०

—दूध दही घी आदि स्निग्ध और खट्टे मीठे चरपरे आदि रसों से स्वादिष्ट पदार्थों का ब्रह्मचारी बहुधा सेवन न करे। ऐसे पदार्थों के आहार पान से वीर्य की वृद्धि होती है—वे दीप्तिकर होते हैं। जिस तरह स्वादुफल वाले वृक्ष की ओर पक्षी दल के दल उड़ते चले आते हैं, उसी तरह वीर्य से दीप्त पुरुष को काम सताने लगता है।

[४] दोहा ४ का उत्तरार्द्ध :

स्वामीजी के इन भावों का आधार 'उत्तराध्ययन सूत्र' के निम्न वाक्य हैं

निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा, भेदं वा लभेज्जा, उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। — उत्त० १६ ७

—प्रणीत आहार करनेवाले ब्रह्मचारी के मन में ब्रह्मचर्य के प्रति शका होने लगती है। वह अब्रह्मचर्य की आकाक्षा करने लगता है। उसे विचिकित्सा उत्पन्न होती है। ब्रह्मचर्य से उसका मन-भङ्ग हो जाता है। उसे उन्माद हो जाता है। दीर्घकालिक रोगातक होते हैं और वह केवली प्ररूपित धर्म से गिर जाता हैं।

[५] ढाल गा० १ :

स्वामीजी ने यहाँ जो कहा है उसका आधार 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' के निम्न स्थल मे मिलता है

पचमग आहारपणीयणिद्ध भोयण विवज्जए सजए सुसाहू ववगयखीरदहिसप्पिणवणीयतेल्ल गुलखड मच्छडिग महुमज्ज मसखज्जग विगइ परिचियकयाहारे ण दप्पणं ण य भवइ विब्भमो ण भसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अतरप्पा आरयमग विरयगामधम्मे जिइदिए बंभचेरगुत्ते।

—प्रश्न० २ ४ पाँचवीं भावना।

—संयमी सुसाधु प्रणीत और स्निग्ध आहार के सेवन का विवर्जन करे। ब्रह्मचारी दूध दही घी नवनीत तेल गुड़ खाण्ड शक्कर, मधु मद्य, मांस खाजा आदि विकृतियों से रहित भोजन करे। वह दर्पकारी आहार न करे।

संयमी को वैसा आहार करना चाहिए जिससे संयम-यात्रा का निर्वाह हो मोह का उदय न हो और ब्रह्मचर्य धर्म से वह न गिरे।

इस प्रकार प्रणीत-आहार समिति के योग से भावित अंतरात्मा ब्रह्मचर्य में आसक्त मनवाला इन्द्रिय विषयों से विरक्त जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य से गुप्त होता है।

---

१ उत्त० ३२ . ६२

[६] ढाल गा० २-७ :

स्वामीजी ने इन गाथाओं में सरस आहार का दुष्परिणाम बताया है। व्यक्ति चार तरह के हो सकते हैं। एक युवक और शरीर से स्वस्थ, एक युवक पर शरीर से जीर्ण, एक वृद्ध पर शरीर से स्वस्थ और एक वृद्ध तथा शरीर से अस्वस्थ।

स्वामीजी कहते हैं स्वस्थ युवक जब सरस आहार करता है तो उसे शीघ्र पचा डालता है। आहार का परिणमन अच्छी तरह होने से इन्द्रि का बल बढ़ता है। शरीर में कामोद्रेक होता है। अंगों में कुचेष्टा उत्पन्न होती है। अंग-कुचेष्टा के कारण मनुष्य ब्रह्मचर्य से पतित हो जाता है इससे रोग उत्पन्न होते हैं। परलोक में भी वह संताप को प्राप्त होता है।

तरुण वय में या वृद्धावस्था में जब शरीर स्वस्थ नहीं होता तब किया हुआ आहार हजम न होने से अजीर्णादि रोगों को उत्पन्न कर है। इससे अकाल में ही उसकी मृत्यु होती है।

'उत्तराध्ययन सूत्र' में कहा है

> रसेसु जो गेहिमुवेइ तिव्वं अकालियं पावइ से विणासं।
> रागाउरे बडिसविभिन्नकाए, मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥
>
> —उत्त० ३२ ६३

जिस तरह रागातुर मछली—आमिष की गृद्धि के वश कांटे से बिंधी जाकर अकाल में मरण को प्राप्त होती है उसी तरह जो रस में तीव्र गृ रखता है वह अकाल में ही विनाश को प्राप्त होता है।

स्वामीजी कहते हैं—जब सरस आहार से तरुण की ऐसी हालत होती है तब वृद्ध की इससे भी बुरी हालत हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या सरस आहार से उसके शारीरिक कष्टों का कोई पार नहीं रहता।

स्वामीजी कहते हैं—जो प्रतिदिन सरस आहार करता है वह अकाल में मृत्यु प्राप्त करता है, धर्म को खोता है और इससे अनन्त संसार होता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य का नाश कर वह अनन्त काल तक जन्म मरण करता है।

[७] ढाल गा० ८ :

स्वामीजी की इस गाथा का आधार निम्न आगम वाक्य है

> दुद्धदहीविगईओ आहारेइ अभिक्खणं।
> अरए य तवोकम्मे पावसमणि ति वुच्चई ॥
>
> —उत्त० १७ १५

[१२] ढाल गा० १३ :

'आचाराङ्ग' मे लिखा है—

पणीयरसभोयणभोई य त्तिं सतिभेदा सतिविभङ्गा सन्तिकेवलिपण्णत्ताओ धम्माओ भसेज्जा ।

—आचा० २ २४ चौथी भावना

—जो भिक्षु प्रणीत रसयुक्त आहार का सेवन करता है उसकी शान्ति का भङ्ग विभङ्ग होता है और वह केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाता है।

यह स्पष्ट ही है कि जो धर्म से भ्रष्ट होता है वह दुर्लभ मनुष्य भव को भी खोता है क्योंकि मनुष्य भव और धर्म इन दोनों का पाना बड़ा ही दुर्लभ है।

[१३] ढाल गा० १४ :

यहाँ पर स्वामीजी ने जो उदाहरण दिया है वह उनकी औत्पत्तिकी बुद्धि का परिचायक है। सन्निपात रोग में दूध और मिश्री का आहार करने से वायु का प्रकोप होजाने से सन्निपात और भी तीव्र हो जाता है, उसी तरह सरस आहार से विकार की विशेष वृद्धि होती है।

आठमीं बाड़

आठमीं बाड मे इम कह्यो, चाप चाप न करणो आहार

ढाल : ९

दुहा

१—आठमीं बाड़ में इम कह्यो,
चाप २ न करणो आहार।
प्रमांण लोप इधको करें,
तो वरत नें हुवें विगाड[1]॥

१—आठवीं बाड मे भगवान् ने कहा है—साधु ठूँस-ठूँस कर आहार न करे। प्रमाण से अधिक आहार करने से व्रत को क्षति पहुँचती है।

२—अति आहार थी दुख हुवें,
गलें रूप बल गात।
परमाद निद्रा आलस हुवें,
वले अनेक रोग होय जात॥

२—अति-आहार से मनुष्य दुःखी होता है। रूप, बल और गात्र क्षीण हो जाते हैं। प्रमाद, निद्रा और आलस्य होते है तथा अनेक रोग उत्पन्न हो जाते है।

३—अति आहार थी विषें वधें,
घणेंइज फाटें पेट।
धान अमाउ उरतां,
हाडी फाटें नेट[2]॥

३—अधिक आहार से विषय-वासना बढती है। जिस प्रकार सेर की हाँडी मे सवा सेर अनाज डालने से हाँडी फूट जाती है, उसी प्रकार अधिक आहार से बुरी तरह पेट फटने लगता है।

४—केई बाड़ लोपे विकल थका,
करमी इधक आहार।
त्यारें कुन २ ओगुन नीपजें,
ते सुणजो विस्तार॥

४—जो विकल होकर, बाड की मर्यादा का उल्लघन कर, अधिक आहार करते है—उनमें किन किन दुर्गुणों की उत्पत्ति होती है, उसका वृतान्त विस्तारपूर्वक सुनो।

ढाल

([illegible])

१—नर जोबन रे माहिं रे,
देह निरोगी हुवें।
[illegible]

१—पूर्ण यौवनावस्था मे देह निरोग होती है और पाचन शक्ति बढती होती है।

२—ते चांपे करे आहार रे,
ते पचें सताब सूं।
तो विषें वधें तिण रें घणीं ए॥

२—तब ठूँस-ठूँस कर किया हुआ आहार शीघ्र पचता है जिससे अति विषय-विकार की वृद्धि होती है।

३—जब गमता लागें भोग रे,
ध्यांन माठो रहें।
वले गमतो लागें अस्त्री ए॥

३—विषय-विकार की वृद्धि से भोग अच्छे लगते हैं, ध्यान विकार-ग्रस्त होता है और स्त्री मन को अच्छी लगने लगती है।

४—हूँ सील पालूं के नांहि रे,
ए संका उपजें।
पछें भोग तणी वंछा हुवें ए॥

४—शील का पालन करूँ या नहीं, ऐसी शंका उत्पन्न होती है। फिर भोग की कामना होने लगती है।

५—मोंनें लाभ होसी के नांहि रे,
सील वरत पालीयां।
ए पिण सांसों उपजें ए॥

६—जब भिष्ट हुवें वरत भांग रे,
भेप मांहें थकां।
केइ भेप छोडी हुवें गृहस्थी ए॥

५-६—फिर, शीलव्रत के पालन से मुझे लाभ होगा या नहीं, ऐसा संशय उत्पन्न होता है।

इस तरह शंका, कांक्षा, विचिकित्सा उत्पन्न होने से कई वेप मे रहते हुए व्रत को भंगकर भ्रष्ट हो जाते हैं और कई साधु का वेप छोडकर गृहस्थ हो जाते हैं।

७—जे चांपे कीधां आहार रे,
पचें आछी तरें।
तो इसडो अनरथ नीपजें ए[३]॥

७—ठूँस-ठूँस कर आहार करने पर यदि वह अच्छी तरह पचता है तो ऐसा अनर्थ उत्पन्न होता है।

८—के कांरें रे हुवें रोग रे,
आहार इधको कीयां।
वधें असाता वेदनी ए॥

९—फाटें पेट अतंत रे,
वंध हुवें नाड़ीयां।
वले सास लेवें अबखो थको ए॥

८-९—जब ग्रहीत आहार ठीक से नहीं पचता है तो कइयों को रोग आ घेरते हैं। शारीरिक वेदना बढती है। पेट फटने लगता है। नाडियों की गति मन्द हो जाती है और श्वास-ग्रहण में कठिनाई होती है।

१०—वले हुवें अजीरण रोग रे,
मुख वासें बुरो।
पेटें झालें आफरो ए॥

१०—फिर अजीर्ण हो जाता है। मुख बुरी तरह बदबू देने लगता है। पेट अफर जाता है।

११—वले उठ उकाला पेट रे,
चालें कलमली ।
वले छूटें मुख थूकणी ए ॥

११—पेट मे जलन होती है। बेचैनी रहने लगती है तथा मुँह से थूक छूटने लगता है।

१२—डील फिरें चकडोल रे,
पित घूमे घणां ।
चालें मुजल वले मुलकणी ए ॥

१२—पित्त का प्रकोप होता है। सिर मे चक्कर आने लगता है। मुह से जल छूटने लगता है।

१३—आवें माठी घणीं डकार रे,
वले आवें गूचरका ।
जब आहार भाग उलटो पड़ें ए ॥

१३—खराब डकार और गुचलकियां आने लगती है। इससे आहार का भाग कै के द्वारा बाहर आ जाता है।

१४—वले चालें मरोडा पीड रे,
पेट दुखें घणों ।
लोही ठांण फेरो हुवें ए ॥

१४—पेट मे मरोडे चलने लगते है। जोरो का दर्द होता है। खून की दस्त होने लगती है।

१५—वले नाड्यां में हुवें रोग रे,
ते आहार झेलें नहीं ।
ज्यूं खावें ज्यूं नीकलें ए ॥

१५—रोगग्रस्त होने से आंत आहार को ग्रहण नहीं कर सकतीं। खाया हुआ आहार वैसा ही वापिस निकल जाता है।

१६—वले ताव चढें ततकाल रे,
बंध हुवें मातरो ।
आहार इधको कीया थका ए ॥

१६—अधिक आहार करने से तत्काल ज्वर चढ जाता है। पेशाब बन्द हो जाता है।

१७—घणीं देही पडें कथाय रे,
आहार भावें नहीं ।
जब मास लोही दिन २ घटें ए ॥

१७—देह मे अत्यन्त पीडा हो जाती है। आहार मे रुचि नहीं रहती। ऐसी अवस्था मे मांस एव रक्त दिन प्रतिदिन घटने लगते हैं।

१८—खीण पडें जब देह रे,
निबलाई पडें ।
हाथ पगां सोजो चढें ए ॥

१८—जब देह क्षीण हो जाती है, तब शरीर निर्बल हो जाता है। हाथ पैर मे सूजन हो आती है।

१९—वले उठें अतीचार रे,
औषध कीं दवा ।
दिन २ रोग इधको हुवें ए ॥

१९—इससे अतिसार का प्रकोप हो जाता है। ज्यों-ज्यों औषध की जाती है, त्यों-त्यों रोग बढ़ता जाता है।

२०—पछें जावक छूटें अन रे,
चूकें धर्म ध्यान थी।
वले बोलें घणों दयामणो ए॥

२०—ऐसी अवस्था में उससे अन्न सर्वथा छूट जाता है। वह धर्म-ध्यान नहीं कर पाता, आर्त-नाद करने लगता है।

२१—वले हुवें सास नें खास रे,
जलोदर वधें।
सून वून देही पडे ए॥

२१—तब, श्वास और खाँसी के रोग हो जाते हैं, जलोदर बढ जाता है। शरीर की सुध-बुध नहीं रहती।

२२—वधें अपचों रोग रे,
आहार पचें नहीं।
ओषध को लागें नहीं ए॥

२२—तब, अपच का रोग बढ जाता है। आहार जरा भी नहीं पचता। कोई भी औषधि कारगर नहीं होती।

२३—वले उपजें दाह सरीर रे,
बलण लागी रहें।
पेट सूल चालें घणी ए॥

२३—शरीर मे दाह उत्पन्न होता है। निरन्तर जलन रहती है। पेट मे अत्यन्त शूल उठने लगता है।

२४—वेदन हुवें आंख नें कांन रे,
खाज हुवें घणीं।
वले रोग पीतंजर उपजें ए॥

२४—आंख और कान मे वेदना होने लगती है। खुजली हो जाती है। पित्त-ज्वर का रोग उत्पन्न होता है।

२५—इत्यादिक बहु रोग रे,
उपजें आहार थी।
कहि २ नें कितरो कहूं ए[४]॥

२५—अधिक आहार से ऐसे अनेक रोग हो जाते हैं। उनका वर्णन कहाँ तक किया जाय?

२६—ए हुवें आहार थी रोग रे,
जब नाम लें अवर नों!
कूड कपट वधें घणों ए॥

२६—ये समस्त रोग अधिक आहार के सेवन से होते हैं। नाम भले ही कोई दूसरे का ले। इससे कूट-कपट की अत्यन्त वृद्धि होती है।

२७—जे चांपे करें आहार रे,
ग्रिधी पेट रो।
त्यानें साच बोलणो दोहिलो ए॥

२७—जो पेटू बन, ठूस-ठूस कर आहार ग्रहण करता है, उसके लिए सच बोलना दुष्कर हो जाता है।

२८—कोइ साध कहें एम रे,
ओ आहार इधको करें।
तो घणो कुडें तिण ऊपरें ए॥

२८—कोई साधु यदि कहता है कि अमुक साधु अधिक आहार करता है तो उसकी बात सुनकर वह उस पर अत्यन्त चिढ़ने लगता है।

२९—जो मिलनें कहें अनेक रे,
तूं आहार घणों करें।
तो ही कह्यों न मानें केहनों ए॥

२९—अगर सब मिलकर भी उसे कहें कि तू अधिक आहार करता है तो भी वह किसी की कुछ नहीं मानता।

३०—केइ पूरण भरें नित पेट रे,
इधको चांप नें।
जब पांणी पूरो मावें नहीं ए॥

३०—कोई प्रति दिन चाप-चाप कर अधिक खाता है और पूरा पेट भर लेता है यहां तक कि पेट मे पानी के लिए भी जगह नहीं रह जाती।

३१—जब तिरषा लागें अतंत रे,
पेट फाटें घणों।
जब टलवलाट करें घणां ए॥

३१—जब जोरो की प्यास लगने लगती है और पेट फटने लगता है, तब वह कराहने लगता है।

३२—वले खाअें आंवला डील रे,
जक नहीं तेहनें।
अजक घणीं वले जेहनें ए॥

३२—शरीर लोट-पोट होने लगता है। उसको जरा भी चैन नहीं पडती। उसे अत्यन्त बेचैनी रहती है।

३३—इसडी पडें विपत रे,
तो ही ग्रिधी पेट रो।
निज अवगुण छोडें नहीं ए॥

३३—इस प्रकार की विपत्ति पडने पर भी अधिक आहार का गृद्ध अपने अवगुण को नहीं छोडता।

३४—जब रोग पीडलें आंग रे,
मरें माठी तरें।
श्री जिण धर्म गमाय नें ए॥

३४—जब रोग शरीर को घर दबाते हैं, तब श्री जिनेश्वर देव के धर्म को खोकर वह बुरी तरह से मरता है।

३५—पछें च्यारूं गति रे माहिं रे,
भमण करें घणो।
अनंत काल दुःख भोगवें ए॥

३५—फिर वह चारो गतियों मे परिभ्रमण करता है और अनन्त काल तक दुख उठाता रहता है।

३६—कुंडरीक रे उपनों रोग रे,
आहार इधको कीयां।
ते मरनें गयो नरक सातमी ए॥

३६—अधिक आहार करने से कुण्डरिक को रोग उत्पन्न हुआ और मरकर वह सातवीं नरक में पहुचा।

३७—हांडी फूटे [illegible] रे,
इधको [illegible]।
तो पेट न फूटे [illegible] ए॥

३७—परिमाण से अधिक अन्न डालने से हांडी फूट जाती है, फिर भला अधिक खाने से पेट क्यों नहीं फटेगा?

३८—ब्रह्मचारी इम जांण रे,
इधको नहीं जीमीयें।
अणोदरीए गुण घणां ए॥

३८—ब्रह्मचारी को यह सब जानकर अधिक भोजन नहीं करना चाहिए। ऊनोदरी मे बहुत गुण है।

३९—ए उतम अणोदरी तप रे,
करतां दोहिलो।
वैंराग विनां हुवें नहीं ए॥

३९—ऊनोदरी उत्तम तप है। इसका करना बहुत मुश्किल है। यह वैराग्य के बिना नहीं होता।

४०—ए कही आठमीं वाड़ रे,
ब्रह्मचारी भणी।
चोखें चित्त आराधजो ए॥

४०—ब्रह्मचारी के लिए यह आठवीं बाड़ है। मुनि उत्तम भाव से इसकी आराधना करे।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १ :

इस दोहे में आठवीं वाड़ का स्वरूप वताया गया है कि मात्रा से अधिक आहार करना ब्रह्मचर्य व्रत के लिए घातक होता है। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे कहा है—' नो निग्गथे अइमायाए पाणभोयण आहारेज्जा" (१६ ८)—निर्ग्रंथ अति मात्रा मे आहार न करे। यह सूत्र-वाक्य ही इस वाड़ का आधार है।

'प्रश्न व्याकरण' सूत्र में कहा गया है

ण बहुसो ण णिइग ण सायसुवाहियं ण खद्ध तहा भोतव्व जहा से जायामायाय भवइ।

—प्रश्न० २ ४ भा० ५

—ब्रह्मचारी एक दिन मे बहुत आहार न करे, प्रतिदिन आहार न करे अधिक शाक-दाल न खाय अधिक मात्रा मे भोजन न करे जितना संयम यात्रा के लिए जरूरी हो उसी मात्रा मे ब्रह्मचारी आहार करे।

ण य भवइ विब्भमो ण भंसणा य धम्मस्स। एवं पणीयाहार विरइसमिइजोगेण भाविओ भवइ अंतरप्पा आरयमण विरय गाम धम्मे जिइंदिए बंभचेरगुत्ते। —प्रश्न २ ४ भा० ५

—[illegible] न हो धर्म से भ्रष्ट न हो—आहार उतनी ही मात्रा मे होना चाहिए। इस समिति के योग से जो भावित होता है उसकी अंतर [illegible] इन्द्रियों के विषय से निवृत्त जितेन्द्रिय और ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपाय से युक्त होती है।

इसी तरह 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे कहा है

धम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा बंभचारी सया।

[illegible]

[२] दोहा २-३ :

इन दोहों में अति आहार का दुष्परिणाम बड़े ही मार्मिक रूप से बताया गया है। अति मात्रा में आहार करने से रूप, बल और गात्र क्षीण होते हैं। प्रमाद, निद्रा तथा आलस्य की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

कहावत है कि सेर की हाँडी में सवा सेर डालने से वह फूट जाती है। उसी तरह अधिक आहार करने से पेट फटने लगता है। अनेक रोग हो जाते हैं। अति आहार से विषय की वृद्धि होती है।

'उत्तराध्ययन' सूत्र में कहा है

जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे।
समारुओ नोवसमं उवेइ॥
एविंदियग्गी वि पगाम भोइणो।
न बंभयारिस्स हियाय कस्सई॥

—उत्त० ३२ ११

—जैसे प्रचुर इन्धनयुक्त वन में वायु सहित उत्पन्न हुई दावाग्नि उपशम को प्राप्त नहीं होती अर्थात् बुझती नहीं उसी प्रकार प्रकाम भोजी—विविध प्रकार के रस युक्त पदार्थों को अति मात्रा में भोगनेवाले ब्रह्मचारी की इन्द्रिय रूपी अग्नि शान्त नहीं होती।

[३] ढाल गा० १-७ :

इन गाथाओं में अति आहार से जो आत्मिक पतन होता है उसका गहन मनोवैज्ञानिक विश्लेपण किया गया है। अति आहार से विषयों के प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। भोग अच्छे लगने लगते हैं। अपध्यान होता है। स्त्री अच्छी लगने लगती है। ब्रह्मचर्य का पालन करूँ या न करूँ इस तरह की शंका उत्पन्न होती है। स्त्री भोग की आकांक्षा होती है। ब्रह्मचर्य के पालन से लाभ होगा या नहीं ऐसी विचिकित्सा उत्पन्न होती है। चित्त की ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी साधु के वश में हो मिथ्याचार का सेवन करने लगता है और कोई वेश छोड़कर पुन गृहस्थ हो जाता है। इस तरह अति आहार ब्रह्मचर्य के लिए कितना घातक है यह स्वयंसिद्ध है। इन विचारों का आधार आगम का निम्न स्थल है

निग्गंथस्स खलु पणीयं आहारं आहारेमाणस्स बंभयारिस्स बंभचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुप्पज्जिज्जा भेद वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गंथे पणीयं आहारं आहरेज्जा॥

—उत्त० १६ ७

[४] ढाल गा० ८-२५ :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने अति आहार से किस तरह नाना प्रकार के रोगातंक उत्पन्न होते हैं, इसका रोमांचकारी वर्णन किया है। ज्ञाता धर्मकथा सूत्र के पुंडरिक अध्ययन में अति आहार के दुष्परिणामों का वर्णन मिलता है।

[५] ढाल गा० २५-३५ :

[६] ढाल गा० ३६ :

कुण्डरिक की कथा के लिए देखिए परिशिष्ट-क कथा ३२

[७] ढाल गा० ३७-३६ :

इन उपसहारात्मक गाथाओं में स्वामीजी कहते हैं कि अति आहार के आध्यात्मिक और आधिभौतिक दोष ऊपर बताये जा चुके हैं। उन पर विचार कर ब्रह्मचारी कभी भी अति मात्रा में आहार न करे। मात्रा से कम खाय। इस प्रकार ऊनोदरी करने में बहुत लाभ है। ऊनोदरी एक कठिन तप है और वह वैराग्य का द्योतक है।

नवमीं वाड़

नवमीं वाड ब्रह्मचर्य नीं, विभूषा न करणी अंग

ढाळ : १०

दुहा

१—नवमीं वाड़ ब्रह्मचर्य नीं,
विभूषा न करणी अंग।
विभूषा कीयां थकां,
थायें वरत नों भंग॥

१—ब्रह्मचर्य की नवीं वाड यह है कि ब्रह्मचारी को विभूषा—शरीर-श्रृङ्गार नहीं करना चाहिए। विभूषा-श्रृङ्गार करने से व्रत भंग हो जाता है।

२—सरीर विभूषा जे करें,
ते करें तन सिणगार।
वले रहें घटरया मठारीया,
त्यां लोपी ब्रह्मव्रत वाड़॥

२—जो शरीर-विभूषा करते है, वे तन-श्रृङ्गार करते है तथा तडक-भडक से रहते है। वे ब्रह्मचर्य-व्रत की बाड को खण्डित करते है।

३—सरीर विभूषा जे करें,
ते संजोगी होय।
ब्रह्मचारी तन सोभवे,
ते कारण नहीं कोय॥

३—शरीर की विभूषा करनेवाला ब्रह्मचारी शीघ्र ही संयोगी हो जाता है। ऐसा कोई कारण नहीं दिखलाई पडता जिससे ब्रह्मचारी तन को सुशोभित करे।

४—वाड़ भाग्यां किण विध रहे,
अमोलक सील रतन।
तिण में ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य ना,
किण विध करें जतन॥

४—वाड के भंग होने पर शील रूपी अमूल्य रत्न किस प्रकार सुरक्षित रह सकता है? अत इस ढाल मे यह बताया गया है कि ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्य की रक्षा किस प्रकार करे।

ढाल

२—ठंडा उन्हा पांणी थकी रे लाल,
मूल न करणो अंगोल । ब्र०॥
केसर चंदण नहीं चरचणा रे लाल,
दांत रंगे न करणा चोल । ब्र० ए०॥

२—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें उष्ण या शीतल जल से कभी स्नान नहीं करना चाहिए। केशर, चन्दन आदि का लेप नहीं करना चाहिए। न दाँतों को रँगना ही चाहिए और न दन्तधावन ही करना चाहिए ।

३—बहु मोलां नें उजला रे लाल,
ते वसत्र नें पेंहरणा नांहि । ब्र०॥
टीका तिलक करणा नहीं रे लाल,
ते पिण नवमीं बाड़ रे मांहि । ब्र० ए०॥

३—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें बहुमूल्य और उज्ज्वल वस्त्रों को नहीं पहनना चाहिए। टीका-तिलक नहीं लगाना चाहिए। ब्रह्मचर्य व्रत की नवीं बाड मे यह वर्जित है ।

४—कांकण कुंडल नें मूदड़ी रे लाल,
वले माला मोती नें हार ।ब्र०॥
ते ब्रह्मचारी पेंहरें नहीं रे लाल,
वले गेंहणा विवध परकार ।ब्र० ए०॥

४—हे ब्रह्मचारी ! तुम्हें कंकण, कुण्डल, अंगूठी, माला, मोती और हार नही पहनना चाहिए। इसी प्रकार ब्रह्मचारी को विविध प्रकार के गहने नहीं पहनने चाहिए।

५—नहीं रहणों घटारयों मठारीयो रे लाल,
केसादिक नें समार ।ब्र०॥
वले वसत्रादिक पिण पेंहरनें रे लाल,
मूल न करणों सिणगार[2] ।ब्र० ए०॥

५—हे ब्रह्मचारी। तुम्हें केशादि को सँवार बन-ठन कर नहीं रहना चाहिए। इसी तरह तुम्हे चटकीले-भड़कीले वस्त्रो को पहन कर शृङ्गार नहीं करना चाहिए।

६—विभूषा अंग छें कुसील नों रे लाल,
तिण सूं चीकणा करम बंधाय ।ब्र०॥
तिण सूं पड़ें संसार सागर मझे रे लाल,
तिणरो पार वेगों नही आय[3] ।ब्र० ए०॥

६—हे ब्रह्मचारी। अंग-विभूषा कुशीलता का द्योतक है। इससे चिकने—गाढ़ कर्मों का बन्ध होता है और मनुष्य दुस्तर संसार-सागर मे गिरता है। उसका शीघ्र अन्त नहीं आता।

७—सिणगार कीया रहे तेहनें रे लाल,
अस्त्री देवें चलाय ।ब्र०॥
भिष्ट करें सील वरत थी रे लाल,
ठालो कर देवें ताय[4] ।ब्र० ए०॥

७—हे ब्रह्मचारी। जो शृङ्गार पूर्वक रहता है, उसको स्त्री विचलित कर देती है। उसे व्रत से भ्रष्ट कर वह निठल्ला बना देती है।

८—रतन हाथे आयो रांक रें रे लाल,
ते दीठा खोंस ले राय ।ब्र०॥
ज्यूं ब्रह्मचारी विभूषा कीया रे लाल,
अस्त्री सील रतन खोसें ताय ।ब्र० ए०॥

८—हे ब्रह्मचारी। जिस प्रकार दरिद्र के हाथ रत्न लगने पर उसे देख राजा उससे छीन लेता है, इसी प्रकार शृङ्गार करने वाले ब्रह्मचारी से स्त्री शील रूपी रत्न को छीन लेती है।

६—ब्रह्मचारी इम सांभली रे लाल,
सील विभूषा मत करजे सिणगार ।ब्र०।।
ज्यूं सीयल रतन कुसलें रहें रे लाल,
तिण सूं उतरें भव जल पार ।ब्र० ए०।।

६—हे ब्रह्मचारी ! यह सब सुनकर जरा भी शरीर की विभूषा मत करो जिससे तुम्हारा शील-रूपी रत्न सुरक्षित रहे और तुम जन्म-मरण रूपी भव-जाल से पार उतरो।

टिप्पणियाँ

[१] दोहा १-३ :

प्रथम दोहे में स्वामीजी ने ब्रह्मचर्य की नवीं वाड़ का स्वरूप बतलाया है। शरीर की विभूषा न करना यह नवीं वाड़ है। 'शरीर विभूषा' किसे कहते हैं इसका उत्तर दूसरे दोहे में है। शरीर विभूषा अर्थात् तन-शृङ्गार अथवा तड़क भड़क से रहना। शरीर विभूषा का दुष्परिणाम तीसरे दोहे में बताया गया है। जो शरीर विभूषा करता है—अर्थात् इस वाड़ का लोप करता है वह शीघ्र ही सयोगी भोगी हो जाता है। इसलिए कहा है कि ब्रह्मचारी किसी भी तरह का तन शृङ्गार न करे।

इस व्रत की परिभाषा का आधार आगम के निम्न वाक्य हैं

नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा— उत्त० १६ ९

—निर्ग्रंथ विभूषानुपाती न हो।

विभूसं परिवज्जेज्जा, सरीरपरिमण्डणं।
बम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए॥ —उत्त० १६ श्लो० ९

—ब्रह्मचारी विभूषा—शरीर परिमंडन—बनाव ठनाव को छोड़ दे। वह शृङ्गार—शोभा के लिए कोई वस्तु धारण न करे।

[२] ढाल गा० १-५ :

इन गाथाओं में स्वामीजी ने आगम के निम्नलिखित स्थलों का विस्तार किया है

सिणाणं अदुवा कक्कं लोद्धं पउमगाणि अ।
गायस्सुव्वट्टणट्ठाए, नायरंति कयाइ वि॥
नगिणस्स वा वि मुंडस्स, दीहरोमनहंसिणो।
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारियं॥
तम्हा ते न सिणायंति सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं, असिणाणमहिट्ठगा। —दश० ६ ६४ ६५ ६३

—अतः वे निर्ग्रन्थ गात्र उबटन के लिए स्नान, कल्क चन्दनादि द्रव्य, लोध्र, कुंकुम आदि का कदापि प्रयोग नहीं करना।
—नग्न, मुंड, दीर्घ रोम और नखवाले तथा मैथुन से उपशान्त—सम्पूर्ण विरत अनगार को विभूषा से क्या मतलब ?
—अतः वे निर्ग्रन्थ शीत अथवा उष्ण किसी भी जल से स्नान नहीं करते। वे यावज्जीवन के लिए इस घोर अस्नान व्रत को धारण करते हैं

—विभूषा करनेवाला भिक्षु उस कारण से चिक्कन कर्मों का वन्ध करता है, जिससे दुरुत्तर संसार सागर में पतित होता है।

—ज्ञानी विभूषा सम्वन्धी सकल्प विकल्प करनेवाले मन को ऐसा ही दुष्परिणाम करनेवाला मानते हैं। यह सावद्य बहुल कर्म है। यह निर्ग्रंथों द्वारा सेव्य नहीं।

[४] ढाल गा० ७ :

इस गाथा का आधार सूत्र का निम्न वाक्य है

विभूसावत्तिए विभूसियसरीरे इत्थिजणस्स
अभिलसणिज्जे हवई —उत्त० १६ ९

—विभूषा की भावनावाला ब्रह्मचारी निश्चय ही विभूषित शरीर के कारण स्त्रियों का काम्य—उनकी अभिलाषा का पदार्थ हो जाता है।

तओ ण इत्थिजणेण अभिलसिज्जमाणस्स वम्भचेरे संका वा कखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दोहकालिय वा रोगायकं हवेज्जा, केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भसेज्जा। —उत्त० १६ ९

—जो ब्रह्मचारी इस प्रकार स्त्रियों की अभिलाषा का शिकार वनता है उसके मन मे ब्रह्मचर्य का पालन करू या नहीं, ऐसी शका उत्पन्न हो जाती है। वह स्त्री सेवन की कामना करने लगता है। ब्रह्मचर्य के उत्तम फल में उसे विचिकित्सा—विकल्प—सन्देह उत्पन्न होता है। इस तरह ब्रह्मचर्य से उसका मन भेद हो जाता है। वह उन्माद का शिकार वनता है, उसके दीर्घकालिक रोग हो जाते हैं। वह केवली प्ररूपित धर्म से पतित हो जाता है।

[५] ढाल गा० ८-६ :

गा० ७ में जो वात लिखी है उसी को स्वामीजी ने एक उदाहरण द्वारा समझाया है।

जैसे एक गरीव के हाथ में रत्न होने पर उसके प्रति आँख गड़ जाती है और राजा उस रत्न को उससे ले लेता है उसी तरह से जो तन को शृङ्गारित करता है उस पर स्त्रियों की आँखें टिक जाती हैं और मोहित स्त्रियाँ उसके शीलरूपी रत्न को उससे छीन लेती हैं। पुरुप इस तरह स्त्रियों का काम्य न वने। उसका शीलव्रत भङ्ग न हो इसके लिए आवश्यक है कि वह कदापि किसी तरह का शृङ्गार न करे। जो ब्रह्मचारी शृङ्गार से वचता है वह ब्रह्मचर्य की अखण्ड आराधना करने में सफल होता है और फलस्वरूप भव समुद्र को पार करने म समर्थ होता है।

कोट

सब्द रूप गन्ध रस फरस, भला भूंडा हलका भारी सरस।
या सू राग धेष करणो नाहीं, रहसी एहवा कोट माही॥

ढाल : ११

दुहा

१—ए नव वाड़ कही ब्रह्मचर्य री,
हिवें दसमों कहें छें कोट।
ए वाड लोपी वींटे रह्यो,
तिण में मूल न चाले खोट॥

१—ब्रह्मचर्य की नव वाड कही जा चुकी है। अब दसवें कोट के बारे मे कहता हूं। यह कोट वाडो को वाहर से घेरे हुए है। इसमे जरा भी दोष नहीं चल सकता।

२—कोट भांगा जोखो छें वाड नें,
वाड़ भांगा वरत नें जांण।
तिण सुं कोट भिलण देवें नहीं,
ते डाहा चतुर सुजांण॥

२—कोट के भंग होने से वाडो को जोखिम है और वाडो के खंडित होने से व्रत को। इसलिए बुद्धिमान और ज्ञानी पुरुष कोट को गिरने नहीं देते।

३—कोट भाग बघारा पडीयां थकां,
वाड़ भागता किती एक वार।
तिण सु वशेष कोट रो,
करनो जतन विचार॥

३—कोट भंग होकर यदि वह दरार युक्त हो जाय तो वाडो के भग्न होने मे कितना समय लगेगा? यह विचार कर कोट का विशेष रूप से संरक्षण करना चाहिए।

४—जेर कोट मेंठों हुवें,
तो चिंता न पावे लोक।
ज्यूं अडिग कोट ब्रह्मचर्य रो,
तिण मे सील न पावे दोख॥

४—जिस प्रकार शहर का कोट मजबूत होने पर लोग चिन्ताग्रस्त नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य-व्रत का कोट अगर अडिग हो तो शील पर किसी प्रकार का आघात नहीं आ सकता।

५—ते कोट करणो किण विध कह्यो,
किण विध करणो जतन।
ते ब्रह्मचारी सिगरा सुण,
[illegible] दृढ मन॥

५—अब मैं बतलाता हूं कि शील-संरक्षण के लिए कोट का निर्माण किस तरह करना चाहिए और किस प्रकार उसका संरक्षण करना चाहिए। हे ब्रह्मचारी! इसके [illegible] को दृढ़ मन से सुनो

ढाल

[डाभ मूजादिक नीं डोरी]

१—मन गमता सब्द रसाल,
अण गमता सब्द विकराल।
गमता सब्द सुण्यां नहीं रीझें,
अण गमता सुण्यां नहीं खीजें॥

१—शब्द दो तरह के होते हैं—एक मन को अच्छे लगनेवाले मधुर शब्द और दूसरे मन को बुरे लगनेवाले विकराल शब्द।

ब्रह्मचारी मनोज्ञ शब्दो को सुनकर प्रसन्न न हो और न अमनोज्ञ शब्दों को सुनकर द्वेष ही करे।

२—काला नीला राता पीला धोला,
पांच परकार नां रूप बोहला।
राग नांणें भला रूप देख,
माठा देख न आंणणो धेख।

२—काला, पीला, लाल, नीला और सफेद इन पांच वर्णों के अनेक रूप होते हैं। अच्छे रूप को देखकर ब्रह्मचारी राग न करे और न बुरे रूप को देखकर द्वेष।

३—गध सुगंध दुगंध छें दोय,
गमता अण गमता मोय।
गमता सूं नही रति सोय,
अण गमता सू अरति न कोय॥

३—गन्ध दो प्रकार की होती है—एक सुगन्ध और दूसरी दुर्गन्ध। सुगन्ध मन को अच्छी लगती है और दुर्गन्ध बुरी। ब्रह्मचारी मनोज्ञ गन्ध मे रति न करे और न अमनोज्ञ गन्ध मे अरति।

४—रस पांच परकार नां जांणों,
त्यांरा स्वाद अनेक पिछांणों।
गमता सू राग न करणो,
अण गमता सू धेप न धरणो॥

४—रस पांच प्रकार के जानो। उनके स्वाद अनेक प्रकार के हैं। ब्रह्मचारी को मनोज्ञ रस मे राग नहीं करना चाहिए और न अमनोज्ञ रस मे द्वेष।

५—फरस आठ परकार ना तांम,
त्यारा जूआ २ छें नांम।
रागी गमता रो अण गमता रो धेखी,
थां दोयां सूं रहणों निरापेखो॥

५—स्पर्श आठ प्रकार के होते हैं। उनके नाम अलग-अलग हैं। मनुष्य मनोज्ञ स्पर्श से राग करने लगता है और अमनोज्ञ से द्वेष। ब्रह्मचारी को इन दोनों से निरपेक्ष रहना चाहिए।

६—सब्द रूप गन्ध रस फरस,
भला भूंडा हलका भारी सरस।
यां सूं राग धेप करणो नांही,
सील रहसी एहवा कोट मांही॥

६—शब्द, रूप, गन्ध, रस तथा स्पर्श—अच्छे बुरे सरस-विरस, हल्के-भारी आदि होते हैं। ब्रह्मचारी को इनसे न तो राग करना चाहिए और न द्वेष। यही उसका कोट है जिसमें शील सुरक्षित रहता है।

७—सील वरत छैं भारी रतन,
तिणरा किण विध करणा जतन।
सगला व्रतां माँहें वरत मोटों,
तिणरी रिष्या भणी कह्यों कोटों[3] ॥

७—शील-व्रत एक बहुमूल्य रत्न है। उसका विधिपूर्वक संरक्षण करना चाहिए। यह सब व्रतो मे श्रेष्ठ व्रत है। उसकी रक्षा के हेतु यह कोट कहा गया है।

८—जो सब्दादिक सू हुवें राजी,
तो कोट जावें छैं भाजी।
कोट भांगां वाड़ चकचूरों,
व्रह्म वरत पिण पर जावें पूरों ॥

८—यदि ब्रह्मचारी मनोज्ञ शब्दादि से प्रसन्न होता है तो कोट भंग हो जाता है। कोट के भंग होने पर बाड़े चकनाचूर हो जाती है। ऐसी अवस्था मे ब्रह्मचर्य-व्रत भी नष्ट हो जाता है।

९—तिण सूं कोट रा करणा जतन,
तो कुसले रहें सील रतन।
टल जावें सगला दोख,
जब पामें अविचल मोख ॥

९—इसीलिए कोट की सुरक्षा करनी चाहिए जिससे कि शीलरूपी रत्न सुरक्षित रहे। जब समस्त दोषो का निवारण करते हुए ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन किया जाता है तब अविचल मोक्ष की प्राप्ति होती है।

१०—इम साभल नें ब्रह्मचारी,
तू कोट म खडें लिगारी।
ज्यूं दिन दिन इधको आनन्द,
इम भाख्यो छैं वीर जिणंद ॥

१०—हे ब्रह्मचारी! तू यह सुनकर शील-रक्षक कोट को जरा भी खण्डित मत कर। इससे तुम्हे उत्तरोत्तर आनन्द की प्राप्ति होगी—ऐसा जिनेश्वर भगवान् ने कहा है।

११—ए कोट सहित कही नव वाड़,
ते सांभल नें नर नार।
इण रीत सूं ब्रह्म व्रत पालो,
ज्यूं मिटें सर्व आल जंजालो[4] ॥

११—मैंने कोट सहित नव बाड का वर्णन किया है। हे नर-नारियो! इन्हे सुनकर इनके अनुसार ब्रह्मचर्य का पालन करो, जिससे सब तरह के जाल-जंजाल मिट जायं।

१२—उतराधेन सोलमां मझारों,
तिणरो लेई नें अनुसारों।
तिहां कोट सहीत कही नव वाड,
ते सखेप कर्शी विसतार[5] ॥

१२—'उत्तराध्ययन' सूत्र के १६ वे अध्याय मे कोट सहित नव बाड कही गई है। वहाँ के संक्षिप्त वर्णन का अनुसरण कर मैंने यहाँ विस्तार से वर्णन किया है।

१३—[illegible] नें समत अठार,
[illegible] दसमी बुधवार।
जोड़ कीधी [illegible] मझार,
[illegible] नें नर नार।

१३—लोगों को समझाने के लिए यह रचना मैंने संवत् १८५१ की फाल्गुन बदी दशमी, बुधवार के दिन पादुगाँव में की है

टिप्पणियाँ

१ दोहा १-४ :

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के दस स्थानकों में से अंतिम स्थानक का विवेचन प्रस्तुत ढाल में है। ब्रह्मचर्य रक्षा के प्रथम नौ उपायों में से प्रत्येक को एक बाड़ की संज्ञा दी गई है। इस दसवें स्थानक को कोट कहा गया है। यह कोट ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए प्ररूपित गुप्तियों अथवा बाड़ों को चारों ओर से घेरे हुए है। बाहर के कोट में दरार होने पर जैसे अन्दर की बाड़ों के भङ्ग होने में देर नहीं लगती और बाड़ों के भग होने से खेत के नाश होने में देर नहीं लगती, वैसे ही ब्रह्मचर्य के दसवें स्थानक के भग होने से अन्य स्थानकों के भग होने में देर नहीं लगती और उनके भङ्ग होने से ब्रह्मचर्य रूपी खेत के विनाश होने में देर नहीं लगती। ऐसी हालत में यह स्पष्ट है कि कोट रूपी यह दसवाँ स्थानक बाड़ रूपी अन्य स्थानकों से बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे अखण्डित रखना परम आवश्यक है। क्योंकि इसकी सुरक्षा से ही अन्य स्थानक सुरक्षित रह सकते हैं और उनके सुरक्षित रहने से ही मूल ब्रह्मचर्य व्रत सुरक्षित रह सकता है। जिस प्रकार नगर का प्राकार सुदृढ़ रहने से नागरिकों को शत्रु के आक्रमण का भय नहीं रहता और वे निश्चिन्त रहते हैं, उसी प्रकार इस दसवें स्थानक को सुरक्षित रखने से अन्य स्थानक भी सुरक्षित रहते हैं और ब्रह्मचर्य व्रत को किसी प्रकार की आँच नहीं आ सकती।

[२] ढाल गा० १-५ :

ब्रह्मचर्य की रक्षा के दसवें समाधि स्थानक का स्वरूप इस प्रकार है कि ब्रह्मचारी को शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन्द्रियों के इन विषयों में राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। इस स्वरूप का आधार सूत्र के निम्न वाक्य हैं —

सद्दे रुवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पचविहे कामगुणे, निच्चसो परिवज्जए॥

उत्त० १६ १०

—ब्रह्मचारी शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—इन्द्रियों के इन पाँच प्रकार के विषयों को सदा के लिए छोड़ दे।

विसयेसु मणुन्नुसु पेम नाभिनिवेसए।
अणिच्च तेसिं विन्नाय परिणामं पोग्गलाण य॥
पोग्गलाण परीणामं तेसिं नच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो विहरे सीईभूयेण अप्पणा॥

दश० ८ ५९ ६०

—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—पुद्गलों के इन परिणामो को अनित्य जानकर ब्रह्मचारी मनोज्ञ विषयों में राग भाव न करे। वह अपनी आत्मा को शीतल कर, तृष्णा रहित हो जीवन-यापन करे।

प्रस्तुत गाथा १ से ५ में जिन भावों का विश्लेषण है उनका शास्त्रीय आधार इस प्रकार है

ण सक्का ण सोउं सद्दा सोयविसयमागता
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग सूत्र

—कान में पड़े हुए शब्दों न सुनना सम्भव नहीं। किन्तु कान में पड़े हुए प्रिय शब्दों के प्रति राग और अप्रिय शब्दों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

ण सक्का रूवमदट्ठुं चक्खुविसयमागय
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—[illegible] पड़े हुए रूपों को न देखना सम्भव नहीं किन्तु प्रिय रूपों के प्रति राग और अप्रिय रूपों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

ण सक्का [illegible] [illegible]
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए

—आचारांग

—नाक में आई हुई गंध को न सूंघना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय गन्ध के प्रति राग और अप्रिय गंध के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

णो सक्का रसमस्साउं जीहाविसयमागयं
रागदोसा उ जे तत्थ,ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—जिह्वा के सम्पर्क में आए हुए रसों का स्वाद न लेना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय रस के प्रति राग और अप्रिय रस के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

णो सक्का फासमवेदेउ फासविसयमागय,
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए।

—आचारांग

—शरीर के स्पर्श में आए हुए स्पर्शों का अनुभव न करना सम्भव नहीं। भिक्षु प्रिय स्पर्शों के प्रति राग और अप्रिय स्पर्शों के प्रति द्वेष करना छोड़ दे।

स्वामीजी कहते हैं शब्द रूप आदि विषयों के प्रति उपर्युक्त निरपेक्ष भाव ही ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का दसवा स्थानक अथवा सुदृढ़ परकोटा है।

[३] ढाल गाथा ६-७ :

गाथा १ से ५ में जो भाव आये हैं उन भावों का सार सक्षेप में इस गाथा में प्रस्तुत हुआ है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श दो तरह के होते हैं। अच्छे बुरे शब्द रूपादि के प्रति राग द्वेष न करना समभाव या वीतरागता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है

चक्खुस्स रूवं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ २२

—रूप चक्षु ग्राह्य है। रूप चक्षु का विषय है। प्रिय रूप राग का हेतु है और अप्रिय रूप द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

सोयस्स सद्दं गहणं वयंति, तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ ३५

—शब्द श्रोत्र ग्राह्य है। शब्द कान का विषय है। प्रिय शब्द राग का हेतु है और अप्रिय शब्द द्वेष का। जो इन दोनों में समभाव रखता है वह वीतराग है।

घाणस्स गंधं गहणं वयंति तं रागहेउं तु मणुन्नमाहु।
तं दोसहेउं अमणुन्नमाहु समो य जो तेसु स वीयरागो॥

—उत्त० ३२ ४८

—स्पर्श काम ग्राह्य है। स्पर्श शरीर का विषय है। प्रिय स्पर्श राग का हेतु है और अप्रिय स्पर्श द्वेप का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

मणस्स भाव गहणं वयंति त रागहेउ तु मणुन्नमाहु।
त दोसहेउ अमणुन्नमाहु, समो य जो तेसु स वीयरागो॥ —उत्त० ३२ ८७

—भाव मन ग्राह्य है। भाव मन का विपय है। प्रिय भाव राग का हेतु है ओर अप्रिय भाव द्वेप का। जो इन दोनों में समभाव रखता है, वह वीतराग है।

स्वामीजी कहते हैं कि शील रूपी रत्न ऐसे समभाव या वीतरागता रूपी कोट में ही सुरक्षित रह सकता है। यह वताया जा चुका है कि शील व्रत किस तरह सब व्रतों में महान् है। शील एक महामूल्यवान रत्न है जिसकी रक्षा के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता है। इसीलिए भगवान् ने विषयों के प्रति समभाव रूपी इस कोट को ब्रह्मचर्य की समाधि का दसवा स्थानक वतलाया है।

[४] ढाल गाथा ८-११ :

आठवीं गाथा में यह वताया गया है कि यह कोट किस प्रकार भंग होता है और इसके भग होने से ब्रह्मचारी को क्या हानि होती है। स्वामीजी कहते हैं जो शब्दादि विषयों में रागादि रखता है वह इस कोट को खडित करता है। कोट के भंग होने से वाड़ें भी चकनाचूर हो जाती हैं और उनके विनाश से ब्रह्मचर्य रूपी शस्य विनष्ट होता है। शील रूपी रत्न की रक्षा करनी हो तो कोट को सुरक्षित रखने का हर प्रयत्न करना चाहिये। कोट के अखडित रहने से सब विघ्न दूर हो जाते हैं, शील अखड रहता है और इससे अविचल मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आगम में कहा है —

एविदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।
ते चेव थोव पि कयाइ दुक्खं न वीयरागस्स करेंति किंचि॥ —उत्त० ३२ १००

—इन्द्रियों के और मन के विषय रागी मनुष्य को ही दु ख के हेतु होते हैं। ये विषय वीतराग को कदाचित् किंचित् मात्र—थोड़ा भी दु ख नहीं पहुंचा सकते।

सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरम्परेण।
न लिप्पई भवमज्झे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं॥
—उत्त० ३२ ४७

—शब्द रूप, गध रस, स्पर्श और भाव के विषयों से विरक्त पुरुष शोक रहित होता है। वह इस ससार में वसता हुआ भी दुःख समूह की परम्परा से उसी तरह लिप्त नहीं होता जिस तरह पुष्करिणी का पलाश जल से।

स वीयरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरण खणेनं।
तहेव ज दंसणमावरेइ ज चन्तराय पकरेइ कम्म॥ —उत्त० ३२ १०८

—जो वीतराग है वह सव तरह से कृतकृत्य है। वह क्षणमात्र में ज्ञानावरणीय कर्म का क्षय कर देता है और इसी तरह से जो दर्शन को ढंकता है उस दर्शनावरणीय और विघ्न करता है उस अन्तराय कर्म का भी क्षय कर डालता है।

सव्वं तओ जाणइ पासए य अनाहो होइ निरतराए।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे॥
—उत्त० ३२ १०९

—तदनन्तर वह आत्मा सब कुछ जानती देखती है तथा मोह और अन्तराय से सर्वथा रहित हो जाती है। फिर आस्रवों से रहित ध्यान और [illegible] से युक्त वह विशुद्ध आत्मा आयु समाप्त होने पर मोक्ष को प्राप्त होता है।

सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को ज बाहई सयय जन्तुमेय।
दीहामय विप्पमुक्को पसत्थो तो होइ अच्चन्त सुही कयत्थो॥
—उत्त० ३२ ११०

—[illegible] है। [illegible] वह [illegible] आत्मा अत्यन्त प्रशस्त [illegible] है

[५] ढाल गा० १२ :

स्वामीजी की रचना मुख्यतः उत्तराध्ययन के आधार पर है। उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन परिशिष्ट में दे दिया गया है। देखिए परिशिष्ट।

परिशिष्ट–क

कथा और दृष्टान्त

नेमिनाथ और राजीमती '

[इसका सम्वन्ध ढाल १ दोहा १२ (पृ० ३) के साथ है।]

मिथिला नगरी मे उग्रसेन नामक एक उच्चवंशीय राजा राज्य करते थे। इनके धारिणी नाम की राणी थी। इनके एक पुत्र था, जिसका नाम कंस था और एक पुत्री थी, जिसका नाम राजीमती था। राजीमती अत्यन्त सुशील, सुन्दर और सर्व लक्षणों से सम्पन्न राजकन्या थी। उसकी कान्ति विद्युत की तरह देदीप्यमान थी।

उस समय शौर्यपुर नामक नगर मे वसुदेव, समुद्र विजय वगैरह दश दशार्ह (यादव) भाई रहते थे। सवसे छोटे वसुदेव के रोहिणी और देवकी नामक दो राणियाँ थीं। प्रत्येक राणी के एक-एक राजकुमार था। कुमारो के नाम क्रमश राम (वलभद्र) और केशव (कृष्ण थे।

राजा समुद्रविजय की पत्नि का नाम शिवा था। शिवा की कूख से एक महा भाग्यवान और यशस्वी पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम अरिष्टनेमि रक्खा गया।

अरिष्टनेमि जव काल पाकर युवा हुए तो इनके लिए केशव (कृष्ण) ने राजीमती की मांग का प्रस्ताव राजा उग्रसेन के पास भेजा।

अरिष्टनेमि शौर्य-वीर्य आदि सव गुणों से सम्पन्न थे। उनका स्वर वहुत सुन्दर था। उनका शरीर सर्व शुभ लक्षण और चिह्नों से युक्त था। शरीर-सौष्ठव और आकृति उत्तम कोटि के थे। उनका वर्ण श्याम था। पेट मछली के आकार-सा सुन्दर था।

ऐसे सर्व गुण सम्पन्न राजकुमार के लिए राजीमती की मांग को सुनकर राजा उग्रसेन के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने कृष्ण को कहला भेजा—"यदि अरिष्टनेमि विवाह के लिए मेरे घर पर पधारें, तो राजीमती का पाणिग्रहण उनके साथ कर सकता हूं।"

कृष्ण ने यह वात मंजूर की और विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

नियत दिन आने पर कुमार अरिष्टनेमि को उत्तम औषधियों से स्नान कराया गया। अनेक कौतुक और मांगलिक कार्य किए गए। उत्तम वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया। वासुदेव के सव से वड़े गन्धहस्ती पर उनको विठाया गया। उनके सिर पर उत्तम छत्र शोभित था। दोनों ओर चवर डोलाए जा रहे थे। यादव वंशी क्षत्रियों से वे घिरे हुए थे। हाथी, घोडे, रथ और पायदलो की चतुरंगिणी सेना उनके साथ थी। भिन्न-भिन्न वाजिन्त्रों के दिव्य और गगनस्पर्शी शब्दों से आकाश गुंजायमान हो रहा था।

इस प्रकार सर्व प्रकार की रिद्धि और सिद्धि के साथ यादव-कुलभूषण अरिष्टनेमि अपने भवन से अग्रसर हुए।

अभी वरात राजा उग्रसेन के यहाँ नहीं पहुँची थी कि रास्ते मे कुमार अरिष्टनेमि ने पींजरों और वाड़ों मे भरे हुए और भय से कांपते हुए दुःखित प्राणियों को देखा। यह देखकर उन्होंने अपने सारथी से पूछा 'सुख के कामी इन प्राणियों को इन वाडों और पींजरों मे क्यों रोक रक्खा है ?'

इस पर सारथी ने जवाव दिया 'ये पशु वड़े भाग्यशाली हैं, आप के विवाहोत्सव मे आए हुए वरातीं लोगों की दावत के लिए ये हैं।'

सारथी के मुख से उस हिंसापूर्ण प्रयोजन की बात सुन कर जीवों के प्रति दयावृत्ति—अनुकम्पा रखने महामना अरिष्टनेमि सोचने लगे .

"यदि मेरे ही कारण से ये सब पशु मारे जाय तो यह मेरे लिए इस लोक या परलोक मे कल्याणकारी नह सकता।"

यह विचार कर यशस्वी अरिष्टनेमि ने अपने कान के कुण्डल, कण्ठ-सूत्र और सब आभूषण उतार डाले सारथी को सम्हला दिए और वहीं से वापिस द्वारिका को लौट आए। द्वारिका से वे रैवतक पर्वत पर गए और एक उद्यान मे अपने ही हाथ से अपने केशो को लोचकर—उपाड कर उन्होंने साधु प्रव्रज्या अंगीकार की।

उस समय वासुदेव ने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया "हे दमेश्वर। आप अपने इच्छित मनोरथ को शीघ्र तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षमा और निर्लोभता द्वारा अपनी उन्नति करें।"

इसके बाद राम, केशव तथा इतर यादव और नगरजन अरिष्टनेमि को वंदन कर द्वारिका आए।

इधर जब राजकन्या राजिमती को यह मालूम हुआ कि अरिष्टनेमि ने एकाएक दीक्षा ले ली है तो उसकी स हँसी और खुशी जाती रही और वह शोक-विह्वल हो उठी। माता-पिता ने उसे बहुत समझाया और किसी अन्य य वर से विवाह करने का आश्वासन दिया परन्तु राजिमती इससे सहमत न हुई। उसने विचार किया—"उन्होंने (अरि नेमि ने) मुझे त्याग दिया—युवा होने पर भी मेरे प्रति जरा भी मोह नहीं किया। धन्य है उनको। मेरे जीवन धिक्कार है कि मै अब भी उनके प्रति मोह रखती हू। अब मुझे इस संसार मे रहकर क्या करना है? मेरे लिए भी य श्रेयस्कर है कि मैं दीक्षा ले लू।"

ऐसा दृढ विचार कर राजीमती ने कागसी—कंघी से संवारे हुए अपने भंवर के से काले केशो को उपाड डाल तथा सर्व इन्द्रियों को जीत कर रुण्ड-मुण्ड हो दीक्षा के लिए तैयार हुई। राजीमती को कृष्ण ने आशीर्वाद दिया "हे कन्य इस भयंकर संसार-सागर से तू शीघ्र तर"। राजीमती ने प्रव्रज्या ली।

★

क० ॥ २

कंकणी का दृष्टान्त ¹

कथा—३ :

आम्र फल [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ६ की टि० ५ (पृ० ७) के साथ है ।]

एक राजा था। आम्रफल के अत्यधिक सेवन से उसे विशूचिका रोग हुआ। राजा ने वडे-बड़े चिकित्सक बुलाकर अपनी चिकित्सा करवाई। उसका रोग शात हुआ। तब वैद्यों ने राजा से कहा—"राजन्। अब आप आम्र फल न खायें। अगर आपने पुन. आम्र फल का सेवन किया तो फिर यही असाध्य रोग होगा।" राजा ने चिकित्सको की वात मान ली।

कई दिनों के वाद राजा मंत्री को साथ लेकर घूमने के लिए निकला। धूप के कारण रास्ते मे उसे थकावट महसूस होने लगी। तब उसने मंत्री से कहा—"मैं थक गया हूँ। अत. कहीं विश्राम के लिए ठहरना चाहिये।" पास ही फल से लदा हुआ एक आम्र वृक्ष था। राजा ने उसकी छाया मे बैठने के लिए मंत्री से कहा। मंत्री बोला—"राजन्। आप को आम्र वृक्ष की छाया मे भी नहीं बैठना चाहिए। कारण, आप की बीमारी के लिए यह कुपथ्य है। मंत्री के बार-बार कहने पर भी राजा नहीं माना और वह आम्र वृक्ष की छाया मे बैठ गया। शीतल हवा बह रही थी। राजा थका हुआ था। बोला "थोडा लेटकर विश्राम कर लूँ।" राजा लेटकर विश्राम करने लगा। उसकी आँखें एकटक होकर आम्र फलों को देखने लगीं। मंत्री का कलेजा फटने लगा। वह बोला . "महाराज। आम्र फलों की ओर देखना वर्जित है।" राजा बोला—"खाना मना है या देखना भी ? क्या देखने से भी कभी अनर्थ हुआ है ?" इतने मे हवा के वेग से आमों की एक डाल नीचे राजा की पलथी मे आ पडी। राजा ने आम उठा लिया। बोला "ये फल कितने प्रिय थे मुझ को एक दिन। आज इन्हें खा नहीं सकता तो सूघकर तो तृप्त होऊँ।" राजा आमों को बारबार सूघने लगा। मंत्री बोला · "महाराज। आम सूघना वर्जित है।" राजा हँसा "सूघने से खाया थोड़े ही खाता है ?" थोडी देर वाद राजा बोला . "आमो की सुगन्ध बडी मीठी है। इनका स्वाद कैसा है—चखकर देखता हू।" मंत्री ने राजा को ऐसा न करने का अनुरोध किया। राजा ने कहा—"मंत्री। मैं खाऊँगा नहीं, किन्तु, थोड़ा जीभ पर रखकर इसका स्वाद लेना चाहता हू।" फल को काट कर उस का थोडा भाग उसने अपने मुह मे रख लिया। फल बडा मधुर एवं स्वादिष्ट था। राजा का मन नहीं माना और उसने समूचा फल खा लिया।

फल के खाने से उसे पुन पुरानी असाध्य बिमारी हो गई। उसने बहुत चिकित्सा करवाई किन्तु उस का कुछ भी फल नहीं निकला। उसकी बीमारी बढती गई और वह मर गया।

जिस तरह तुच्छ आम्र फल के लालच मे आकर राजा ने सारा साम्राज्य एव जीवन खो दिया, उसी प्रकार मनुष्य मानुषिक भोगों के लोभ मे फँस महान् सुखों को खो देता है।

✶

कथा—१

चूल्हे का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य जन्म की दुर्लभता पर पहला दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

दक्षिण भारत के मध्य समृद्धिशाली नगर कपिलपुर के राजा ब्रह्म अपनी प्रजावत्सलता के लिए सुविख्यात थे। उनके मंत्रियों में सर्वगुणसम्पन्न धनु को अपने विलक्षण बुद्धि के कारण सर्वप्रथम स्थान प्राप्त था। मधुर वचन, अनुपम रूप एवं स्वर्गीय सौन्दर्य की अधिष्ठातृ रानी चूलणी राजा के विशिष्ट प्रेम की पात्री थी। काशी, गजपुर, कौशल एवं चम्पा के नरेश राजा के अभिन्न मित्रों में थे। राजा ब्रह्म और रानी चूलणी का दाम्पत्य-जीवन सुखमय था। ऐसे सुखमय अवसर पर उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। सौभाग्य या दुर्भाग्य से ब्रह्मदत्त पांच वर्ष का ही होने पाया था कि उसके पिता काल-धर्म को प्राप्त हुए। राजा ब्रह्म की अन्त्येष्ठिक्रिया के अवसर पर उनके चारों अभिन्न स्नेही उपस्थित थे। सब के सामने यह विकट समस्या थी कि राज्य का संचालन किस प्रकार किया जाये।

पञ्चवर्षीय शिशु ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया गया और दिवंगत आत्मा के हितचिन्तकों के विचार से कौशल नरेश दीर्घ को अभिभावकस्वरूप राज्य की सुरक्षा-व्यवस्था का दायित्व सौंपा गया। कालक्रम में राजा दीर्घ और रानी में अनुचित सम्बन्ध हो गया। इधर कुमार ब्रह्मदत्त में भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान का पूर्णत विकास हो चुका था। वह रानी चूलणी और दीर्घ के सम्बन्ध से सुपरिचित हो चुका था और एक दिन उसने संकेत द्वारा परोक्ष रूप में दीर्घ को भी अपनी जानकारी की सूचना दे दी। कुमार के इस ज्ञान से दोनों अत्यन्त ही आतंकित हुए। सुख में बाधा समझ कर रानी ने कुमार की हत्या का षड्यंत्र किया। इस षड्यंत्र का पता वयोवृद्ध मंत्री धनु को मिल गया एवं कुमार के रक्षार्थ उसने अपने पुत्र वरधनु को साथ कर दिया। वरधनु की सहायता से कुमार का बाल भी बाका नहीं होने पाया और षड्यंत्र की जाल से मुक्त होकर वह अन्यत्र निकल पड़ा। इसी बीच कुमार ब्रह्मदत्त और मंत्रीपुत्र वरधनु का साथ छूट गया।

जंगलों एवं कन्दराओं की ठोकरें खाते-खाते कुमार ब्रह्मदत्त की अवस्था विपन्न हो चली थी। अन्न-जल के अभाव में उसका युवा शरीर कृशित होने लगा। ऐसी कारुणिक अवस्था में वह एक ग्राम में पहुंचा, जहां के वृद्ध ब्राह्मण ने उसकी काफी आवभगत की। ब्राह्मण के स्वागत-सत्कार से प्रसन्न होकर ब्रह्मदत्त ने उसे अपनी राजधानी में आने का आमंत्रण दिया। कालान्तर में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सम्राट् बना।

कथा—५ :

पासा का दृष्टान्त [१]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दूसरा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

सौराष्ट्र देश के चाणिक्य गांव मे चणिक-चणेश्वरी ब्राह्मण-दम्पत्ति रहती थी। उनके घर दन्तयुक्त पुत्रोत्पत्ति हुई जिसे अपशकुन मानकर उन्होंने नवजात शिशु के दांतो को घिस दिया। ऋषियो से जब उन्होने वच्चे का भाग्यफल जानने की जिज्ञासा की तो पता चला कि अगर उसके दांत न घिसे जाते तो वह राजा होता किन्तु अब वह बिंबातरित राजा होगा। इस वच्चे का नाम चाणक्य रखा गया और यौवनावस्था प्राप्त होने पर माता-पिताने इसका विवाह उत्तम कुल मे कर दिया।

एक दिन चाणक्य की पत्नी अपने भाई के विवाह मे सम्मिलित होने के निमित्त पीहर गई। वहाँ महिलाओ ने निर्धनता के कारण उसका अनादर किया एवं उसकी मान-मर्यादा की धज्जियाँ उडा दी। वह शीघ्र ही अपने घर लौट आई। उसके म्लान मुखमंडल को देखकर उसके पति चाणक्य ने उदासी का कारण बताने पर जोर दिया। जब चाणक्य को यह विदित हुआ कि उसकी निर्धनता के कारण उसकी पत्नी का अपमान हुआ, तो उसने प्रचुर धनोपार्जन का संकल्प किया। इसी क्रम मे वह राजा नन्द के दरबार मे पहुचा। नन्द की दासियो ने यहाँ उसका घोर अपमान किया। अपमान के प्रतिशोध की अग्नि निर्धन ब्राह्मण के शरीर मे प्रज्वलित हो उठी और उसने नन्दवंश को समूल नष्ट करने की प्रतिज्ञा की।

पृथ्वी का पर्यटन करते हुए चाणक्य मयूरपोषकों के गाव मे पहुचा। वहाँ एक मयूरपोषक की पत्नी को चन्द्र को पी लेने का दोहला हुआ। चाणक्य ने येन् केन प्रकारेण उसका दोहला तो पूर्ण करा दिया, लेकिन यह वचन ले लिया कि उसे जो पुत्र पैदा होगा उसे वह चाणक्य के हवाले कर देगी। इसी शिशु का नाम चन्द्रगुप्त रखा गया। होनहार बिरवान के होत चिकने पात। चन्द्रगुप्त बचपन से ही पराक्रमशील निकला। इधर चाणक्य ने भी तपस्या द्वारा स्वर्णसिद्धि प्राप्त की। लौट कर आने पर चाणक्य ने देखा कि चन्द्रगुप्त मे चक्रवर्त्ती के समस्त लक्षण विद्यमान है। उसने चन्द्रगुप्त को साथ लेकर नन्द राजा पर चढाई कर दी। लेकिन प्रथम बार उसे मुहकी खानी पडी। चाणक्य अपने धुन और प्रतिज्ञा का पक्का था। उसने हिमवंत पर्वत के राजा पर्वतक से प्रीति की और उसकी सहायता चन्द्रगुप्त को दिलाकर नन्दराजा पर पुन आक्रमण करवा दिया। इस बार राजा नन्द की सेना के पाँव उखड गए और राजमहल पर चन्द्रगुप्त का विजयकेतु लहराने लगा।

चाणक्य चन्द्रगुप्त का प्रधान मत्री बना। प्रजावत्सल चन्द्रगुप्त ने प्रजा के अनुरोध पर समस्त करों को माफ कर दिया। अब समस्या यह उत्पन्न हुई कि राजकोष की पूर्ति किस प्रकार हो। चाणक्य ने अपने इष्टदेव की आराधना के द्वारा इस समस्या का समाधान ढूट निकाला। देव-कृपा से उसे दो पासे प्राप्त हुए। उसने समस्त व्यापारियों को आमंत्रित किया और राजकोष से बहुमूल्य रत्न निकाल कर दावपर लगाने लगा। परिणाम यह निकला कि धनी व्यापारियों के धन राजकोष मे आ गये।

चाणक्य के पासे पर विजय प्राप्त करना यद्यपि कठिन है लेकिन, संयोगवश सम्भव है कि कोई व्यक्ति विजय भी प्राप्त कर ले, और खोया हुआ धन जुआरी व्यापारियो को वापस भी मिल जावे किन्तु एक बार हाथ से निकला हुआ मनुष्य-जन्म पुन प्राप्त करना दुर्लभ ही है

कथा—६ :

धान्य का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर तीसरा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

भरतक्षेत्र में जितने प्रकार के धान्य होते हैं, उन सर्व प्रकार के सर्व धान्यों को सम्मिश्रित कर उसमे एक सेर सरसों के दाने मिलाकर एक बार किसी देव ने एक शतवर्षीया वृद्धा से, जिसका शरीर जर्जर, नेत्रों की ज्योति मंद एवं क्रियाशक्ति विनष्ट हो चुकी थी, कहा—"हे वृद्धा। इस समस्त प्रकार के धान्यों को चुन चुनकर क्रमानुसार बिलग कर दो और उनमे एक सेर सरसों के जो दाने डाले गये हैं, उन्हें एकत्रित कर लो।"

एक तो शतवर्षीया वृद्धा, फिर शरीर काय करने मे सर्वथा असमर्थ, आंखों मे रोशनी नहीं, हाथ-पाव शिथिल और कंपित, और भरत क्षेत्र के सब प्रकार के सर्व धान्यों का ढिग, उसके धान्यों को अलग करना, और उसमे से सरसों के दानों को अलग करना। यह उस वृद्धा के लिये असम्भव है। फिर भी कदाचित उस वृद्धा को सफलता भी मिल सकती है लेकिन एक बार खो देने के बाद पुन मनुष्य-जन्म की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है।

कथा—७ :

जुए का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर चौथा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

कथा—८ :

रत्न का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर पाँचवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

किसी नगर मे एक महान् धनवान एवं समृद्धिशाली रत्न-पारखी वणिक था। बहुमूल्य रत्नों का संग्रह करना उसका प्रधान कार्य था। वह संग्रहीत रत्नो को कभी बेचता नहीं था। उसके पाँच गुणवान पुत्र थे। पुत्रो की इच्छा थी कि दुगने तीगुने मूल्य पर इन रत्नो को बेचकर अपार धनराशि प्राप्त की जाये। किन्तु, अपने पिता के आगे इनकी एक न चलती थी। एक बार संयोगवश वह वृद्ध नगर से कहीं बाहर चला गया। उसके पुत्र तो ऐसे अवसर की बाट जोह ही रहे थे। उन्होंने अपने पिता द्वारा अर्जित सभी रत्नों को दूर देश से आए व्यापारियों को ऊँचे मूल्य पर बेचकर काफी धन प्राप्त कर लिया। वृद्ध वणिक जब लौटा तो रत्न नहीं पाकर बडा ही क्रुद्ध हुआ। उसने अपने पुत्रो को यह आज्ञा दी कि जिस प्रकार भी हो, वे उन रत्नो को वापस ले आएँ। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य करते हुए उसके पाँच पुत्र रत्नो की तलाश मे निकले। तबतक वे सारे रत्न विभिन्न व्यापारियो द्वारा विभिन्न देशो के विभिन्न व्यक्तियो के हाथ बेचे जा चुके थे। रत्नों का पाना दुर्लभ हुआ। दैव-संयोग से वे खोये रत्न मिल भी जायें, लेकिन, खोया हुआ मनुष्य-जन्म पाना दुर्लभ ही है।

कथा—९ :

स्वप्न का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर छठा दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

द्यूत-व्यसन के कारण पाटलिपुत्र से निष्कासित राजकुमार मगलदेव घूमते घूमते उज्जयिनी नगरी मे पहुचा। कुशल वीणा-वादन एवं मधुर-संगीत से उसने उज्जयिनी के नागरिकों को मुग्ध कर लिया। उसी नगरी मे रूप-लावण्य-गर्विता देवदत्ता वेश्या रहती थी। पारस्परिक कला के आकर्षण से दोनो मे आसक्ति हो गई। मगलदेव देवदत्ता के यहाँ ही रहने लगा। लेकिन देवदत्ता की मा ने मंगलदेव को निधन समझ उसे घर से निकाल दिया। फिर भटकता हुआ, कई दिनों का उपवास व्रतधारी मंगलदेव अटवी पारकर एक गाव मे पहुचा। वहाँ भिक्षा मे उसे उडद के बाकले मिले। उन बाकलो को स्वय न ग्रहण कर उसने तालाब के किनारे ध्यान लगानेवाले साधु को पारणा के निमित्त दे दिया। मगलदेव के इस कार्य से पास की देवी बहुत ही प्रसन्न हुई और उन्होंने उसे वरदान मागने को कहा। मंगलदेव ने कहा—'मुझे देवदत्ता गणिका सहित सहस्र हस्तियुक्त राज्य प्राप्त हो।' देवी से प्रत्युत्तर मिला 'ऐसा ही होगा।'

रात्रिकाल मे मगलदेव उस तपस्वी की कुटिया मे ही सो गया। कुटिया मे तपस्वी का शिष्य भी शयन कर रहा था। मगलदेव एव ऋषि-शिष्य दोनो ने स्वप्न मे चन्द्रमा को अपने मुह मे प्रवेश करते देखा। तपस्वी के समक्ष जाकर शिष्यने स्वप्नफल जानने की जिज्ञासा की। तपस्वी ने कहा— 'आज तुम्हें भिक्षा मे घी और शक्कर का रोट मिलेगा।' शिष्य को जब स्वप्नफल सत्य हुआ, वह बडा ही प्रसन्न हुआ। इधर मगलदेव एक स्वप्न-विशेषज्ञ के पास गया जिसने उसे बताया कि एक सप्ताह मे उसे एक बहुत बडा राज्य मिलेगा। सातवे दिन नगर का सन्तानविहीन राजा कालधर्म को प्राप्त

१—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

२—उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३ गा० १ की नेमिचन्द्रीय टीका के आधार पर।

हुआ। वहाँ के नगरवासियों ने मंगलदेव को अपना राजा बनाया। देवदत्ता पटरानी के रूप मे राजमहल मे आई। इस प्रकार मंगलदेव का स्वप्न सत्य निकला।

तपस्वी के शिष्य को जब मंगलदेव के राजा होने का समाचार ज्ञात हुआ, उसने नियमित रूप से कुटिया मे शयन कर पुन उस स्वप्न की प्राप्ति की अभिलाषा की, लेकिन उसे पुन वह स्वप्न नहीं दीखा। स्यात् ऋषि-शिष्य को स्वप्न दर्शन हो भी जाए, लेकिन खोये मनुष्य-जीवन को पुन. पाना दुर्लभ है।

★

कथा—१०

राधावेध का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर सातवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

इन्द्रपुर मे राजा इन्द्रदेव के २२ पुत्र थे। इसके बावजूद राजा ने अपने प्रधान की पुत्री पर मोहित हो, उससे भी विवाह कर लिया। लेकिन दोनों का प्रेम-सबंध अस्थिर रहा। प्रधान की पुत्री पिता के पास रहने लगी। कुछ दिनों के बाद राजा जब बाहर जा रहा था, झरोखे पर खड़ी एक सुन्दरी पर उसकी दृष्टि पड़ी। जिज्ञासा करने पर उसे ज्ञात हुआ कि सुन्दरी अन्य कोई नहीं बल्कि उसीकी परित्यक्ता रानी थी। राजा काम-भावना को संवरण नहीं कर सका और उस रात्रि को अपने प्रधान के यहाँ ही ठहर गया। शुभमुहूर्त मे दोनों के सहवास से पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम सुरेन्द्रदत्त रखा गया। २२ राजपुत्रों के साथ ही सुरेन्द्रदत्त ने भी एक ही आचार्य के यहाँ शिक्षा प्राप्त की।

कथा—११ :

कच्छप का दृष्टान्त [1]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर आठवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक हजार योजन प्रमाणवाले एक तालाब मे एक बहुत बडा कच्छप अपने परिवार सहित रहता था। तालाब के जलपर सेवाल आच्छादित थे। एक रात्रि को एक फल तालाब मे गिरा जिससे सेवाल मे छिद्र हो गया। गगनमंडल मे चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओ से प्रकाशमान थे। नक्षत्र सहित चन्द्र को देखकर कच्छप को महान् विस्मय हुआ। उसने अपने परिवार के सदस्यों को भी चन्द्रदर्शन कराना चाहा, इसलिए जल के अन्दर उन्हें बुलाने गया। जबतक वह कुटुम्बियों को लेकर ऊपर लौटा तबतक हवा के झोंके से पानी पर फिर सेवाल छा गए। कच्छप को पुन. चन्द्रदर्शन नहीं हुए और कुटुम्ब सहित निराश होना पडा। जिस प्रकार उस कच्छप के लिए पुन चन्द्रदर्शन दुर्लभ हुआ उसी प्रकार मानव देहधारी प्राणियों को दुबारा मनुष्य जन्म पाना भी दुर्लभ है।

कथा—१२ .

युग का दृष्टान्त [2]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर नवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

यदि विश्व के सबसे बडे समुद्र के पूर्व भाग मे कोई देवता धूसरा डाले और पश्चिमी छोर पर उसी समुद्र मे सामेला डाले तो उस धूसरे के छिद्र मे सामेले का प्रवेश मुश्किल है। कदाचित् संयोगवश उनका सम्बन्ध मिल भी जाये लेकिन खोया हुआ मनुष्य-जीवन मिलना अत्त्यन्त दुर्लभ है।

कथा—१३

परमाणु का दृष्टान्त [3]

(मनुष्य भव की दुर्लभता पर दसवाँ दृष्टान्त)

[इसका सम्बन्ध ढाल १ दोहा ७ (पृ० ४) के साथ है]

एक बार एक देवता ने पत्थर की एक दीवार को अपने वज्र के प्रहार से चूरचूर कर दिया और फिर उस समस्त चूर्ण को एक पर्वत शिखर के ऊपर चढकर हवा में उड़ा दिया। यदि किसी व्यक्ति को इन परमाणुओं को फिर से एकत्र करने का कार्य दिया जाय तो यह करना असम्भव है। इसी प्रकार एक बार मनुष्य जीवन पाकर खोदेने के बाद उसे फिर से पाना अत्यत ही दुर्लभ है।

ढाल—१३

सिंह गुफावासी यति

[इसका संबंध ढाल २ गाथा ७ (पृ० १३) के साथ है]

पाटलिपुत्र नगर में नन्द राजा का प्रधान मंत्री शकडाल था। उसकी भार्या का नाम लाछन देवी था। इससे उसको दो पुत्र हुए। बड़े का नाम स्थूलिभद्र था और छोटे का नाम श्रीयक। श्रीयक नंद राजा के यहाँ अंगरक्षक के रूप में काम करता था। वह राजा का अत्यन्त विश्वासपात्र था। स्थूलिभद्र बडा बुद्धिशाली था किन्तु वह कोशा नामकी एक गणिका के प्रेम में फंस गया। यहाँ तक कि अपने घर को छोडकर वह उस गणिका के घर में ही रहने लगा। इस प्रकार प्रायः बारह वर्ष निकल गये। स्थूलिभद्र ने गणिका के सहवास में प्रचुर धन खोया।

घटनावश राजा के कोप के कारण शकडाल-मंत्री मार डाला गया। राजा नंद ने मंत्री-पद ग्रहण के लिए स्थूलिभद्र को बुला भेजा। जब उसने आकर देखा कि उसका पिता, मंत्री शकडाल मारा गया तो वह बडा खिन्न हुआ। वह सोचने लगा— मैं कितना अभागा हूँ कि वेश्या के मोह के कारण मुझे पिता की मृत्यु की घटना तक का पता नहीं चला। उनकी सेवा सुश्रुषा करना तो दूर रहा अंतिम समय में मैं उनके दर्शन तक नहीं कर सका। धिक्कार है मेरे जीवन को।" इस प्रकार सोच करते-करते स्थूलिभद्र का हृदय संसार से उदासीन हो गया। मंत्री-पद स्वीकार न कर, वह संभूति विजय नामक आचार्य के पास गया और मुनित्व धारण कर लिया।

जब यह खबर कोशा गणिका के पास पहुँची, उसका हृदय दुःख से भग्न हो गया। अब उसके लिए धीरज के सिवा कोई दूसरा चारा नहीं था।

इधर कोशा उन्हें विचलित करना चाहती थी और उधर मुनिवर स्थूलिभद्र उसे प्रतिवोधित करना चाहते थे। जव-जव वह उनके पास जाती, वे उसे विविध उपदेश देते '—

"विषय-सुख चाहे कितने ही दीर्घ समय तक के लिए भोगने को मिल जाय, आखिर एक न एक दिन उनका अन्त अवश्य होता है। ऐसे नाशवान विषयों को मनुष्य खुद क्यो नहीं छोडता ? विषय जब अपने आप छूटते है, तो मनको अत्यन्त परिताप होता है, परन्तु यदि उनको स्वयं ही प्रसन्नता पूर्वक त्याग दिया जाता है, तो मोक्ष-सुख की प्राप्ति होती है।"

" धर्म-कार्य से वढकर कोई दूसरा श्रेष्ठ कार्य नहीं है। प्राणी-हिंसा से वढकर कोई दूसरा जघन्य कार्य नहीं है। प्रेम, राग, मोह से वढकर कोई बन्धन नहीं और वोधि (सम्यक्त्व)-लाभ से विशेष कोई लाभ नहीं है।"

मुनि स्थूलिभद्र के उपदेश से कोशा को अन्तर प्रकाश मिला। उनकी अद्भुत जितेन्द्रियता को देखकर उसका हृदय पवित्र भावनाओं से भर गया। अपने भोगासक्त जीवन के प्रति उसे वडी घृणा हुई। वह महान् अनुताप करने लगी। उसने मुनि से विनयपूर्वक क्षमा मांगी तथा सम्यक्त्व और वारह व्रत अंगीकार कर वह श्राविका हुई। उसने नियम किया—"राजा के हुक्म से आये हुए पुरुष के सिवाय मैं अन्य किसी पुरुष से शरीर-सम्बन्ध नहीं करूंगी"।

इस प्रकार व्रत और प्रत्याख्यान कर कोशा गणिका उत्तम श्राविका जीवन विताने लगी।

चातुर्मास समाप्त होनेपर मुनिवर स्थूलिभद्र ने वहा से विहार किया। समय पाकर राजा ने कोशा के पास एक रथिक को भेजा। वह वाण-संधान विद्या मे वडा निपुण था। अपनी कुशलता दिखलाने के लिए उसने झरोखे मे वैठे-वैठे ही वाण चलाने शुरू किये और उनका एक ऐसा तांता लगा दिया कि उनके सहारे से उसने दूर के आम्र वृक्ष की फल सहित डालियों को तोड-तोड कर उसे कोशा के घर तक खींच लिया।

इधर कोशा ने भी अपनी कला दिखलाने के लिए आंगन मे सरसो का ढेर करवाया, उस पर एक सुई टिकाई और एक पुष्प रखकर नयनाभिराम नृत्य करना शुरू किया। नृत्य को देखकर रथिक चकित हो गया। उसने प्रशंसा करते हुए कोशा से कहा—"तुमने वडा अनोखा काम किया है"।

यह सुनकर कोशा वोली—"न तो वाण-विद्या से दूर वैठे आम की लूव तोड लाना ही कोई अनोखा काम है और न सरसों के ढेर पर सुई रखकर और उस पर फूल रखकर नाचना ही। वास्तव मे अनोखा काम तो वह है जो महा श्रमण स्थूलिभद्र मुनि ने किया।

"वे प्रमदा-रूपी वन मे निशंक विहार करते रहे, फिर भी मोह प्राप्त होकर भटके नहीं।

"अग्नि मे प्रवेश करने पर भी जिन्हें आंच नहीं लगी, खड्ग की धार पर चलने पर भी जो छिद नहीं गए, काले नाग के विल के पास वास करने पर भी जो काटे नहीं गए और काल के घर मे वास करने पर भी जिन्हें दाग नहीं लगा, ऐसे असिधारा व्रत को निभाने वाले, नर-पुगव स्थूलिभद्र तो एक ही है। धन्य है उन्हें।'

"भोग के सभी अनुकूल साधन उन्हें प्राप्त थे। पूर्व परिचित वेश्या और वह भी अनुकूल चलनेवाली, षट्रस युक्त भोजन, सुन्दर महल, युवावस्था, सुन्दर शरीर और वर्षा ऋतु—इनके योग होने पर भी जिन्होंने असीम मनोबल का परिचय देते हुए काम-राग को पूर्ण रूप से जीता और भोग रूपी कीचड मे फँसी हुई मुझ जैसी गणिका को अपने उच्चादर्श और उपदेश के प्रभाव से प्रति बोधित किया, उन कुशल महान आत्मा स्थूलिभद्र मुनि को मैं नमस्कार करती हूं।

"कामदेव! तू ने नंदीषेण, रथनेमि और आर्द्रकुमार मुनीश्वर की तरह ही स्थूलिभद्र मुनि को समझा होगा और सोचा होगा कि ये भी उनके ही साथी होंगे, परन्तु तू ने यह नहीं जाना कि ये मुनीश्वर तो संग्राम मे तुम्हें परास्त कर नेमिनाथ, जम्बु मुनि और सुदर्शन सेठ की श्रेणी मे आसीन होंगे।

'हम तो भगवान् नेमिनाथ से भी बढ़कर योद्धा मुनि स्थूलिभद्र को मानते हैं। भगवान् नेमिनाथ ने तो गिरनार दुर्ग का आश्रय लेकर मोह को जीता, परन्तु, इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखनेवाले स्थूलिभद्र मुनि ने तो साक्षात् मोह के घर में प्रवेश कर उसको जीता।

'पर्वत पर, गुफा में, वन में या उसी प्रकार अन्य किसी एकान्त स्थान में रहकर इन्द्रियों को वश में करने वाले हजारों हैं परन्तु अत्यन्त विलासपूर्ण भवन में, लावण्यवती युवती के समीप में रहकर, इन्द्रियों को वश में रखनेवाले तो शकडाल-नन्दन स्थूलिभद्र एक ही हुए।"

इस प्रकार स्तुति कर कोशा ने स्थूलिभद्र मुनि की सारी कथा रथिक को सुनायी।

स्तुति-वचनों से रथिक को प्रतिबोध प्राप्त हुआ और स्थूलिभद्र के पास जा उसने मुनित्व धारण किया।

(२)

वर्षा-ऋतु समाप्त होने पर चातुर्मास के लिए गये हुए साधु वापस लौटे। आचार्य संभूति ने प्रत्येक शिष्य का परोचित शब्दों में अभिवादन किया और कठिन काम पूरा कर आने के लिए बधाई दी। बाद में स्थूलिभद्र भी आये। जब उन्होंने प्रवेश किया तो आचार्य उनके स्वागत के लिए खड़े हो गये और "कठिन से कठिन करनी—कार्य करनेवाले तथा 'महात्मा' आदि अनन्त प्रशंसात्मक सम्बोधनों से उनका अभिवादन किया। यह देखकर सिंह गुफावासी मुनि के दिल में ईर्ष्या का संचार हुआ। वह विचारने लगा—वेश्या के यहाँ षट्‌रस खाकर रहना इतना क्या कठिन है कि स्थूलिभद्र का ऐसा अनन्य सम्मान ?"

देखते देखते दूसरा चातुर्मास आगया। जिस साधु ने गत चातुर्मास के अवसर पर सिंह की गुफा के सामने तपस्या करने का निश्चय किया था, उसने कोशा के यहाँ चातुर्मास करने की इच्छा प्रगट की। आचार्य वास्तविक कठिनाई को जानते थे, इसलिए उन्होंने अपनी ओर से अनुमति नहीं दी। परन्तु, शिष्य के अत्यन्त आग्रह को देखकर, लाभ न होगा यह जानते हुए भी आशा से, बाधा नहीं दी। मुनि विहार कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए पाटलिपुत्र नगर में पहुँचे एवं कोशा से यथा नियम आज्ञा प्राप्त कर उसकी चित्रशाला में ठहरे।

मुनि अपने को सम्पूर्ण जितेन्द्रिय समझता था। अपने मनोबल पर उसे आवश्यकता से अधिक भरोसा था। वह अपने को अजेय समझता था। परन्तु कोशा के स्वाभाविक शरीर-सौंदर्य को देखकर वह पहली ही रात्रि में विषय-विह्वल हो गया और कोशा से विषय-भोग की प्रार्थना करने लगा।

कोशा ने गंभीर स्वर मे उत्तर दिया—"हे मुनि। इस रत्न-कम्बल को गंदे नाले मे फेंक देने से आपको इतना कष्ट हुआ, परन्तु आप तो अनुपम चारित्र-रत्न को गॅवाकर अपनी आत्मा को नरक मे फेंक रहे है, क्या इसका भी आपको फिक्र है? आप जितनी वडी गलती करने जा रहे है, उतनी तो मैने नहीं की।"

"ज्येष्ठ व्रत - ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना पर्वत के भार को वहन करना है। उसे वहन करने मे अत्यन्त उद्यमी मुनि भी युवती के संसर्ग से द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से यतित्व से भ्रष्ट हो जाते हैं।"

"चाहे कोई कायोत्सर्गधारी हो, चाहे मौनी, चाहे कोई मुण्डित मस्तक वाला हो, चाहे कोई वल्कल के वस्त्र पहिनने वाला हो अथवा चाहे कोई अनेक प्रकार के तप करनेवाला हो—यदि वह मैथुन की प्रार्थना—कामना करनेवाला है, तो चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो, वह मुझे प्रिय नहीं।"

जो अकुलीन के संसर्ग रूप आपदा मे पडने पर भी, और स्त्री के आमंत्रित करने पर भी, अकार्य कुकृत्य की ओर नहीं वढता, उसी का पढना, गुनना, जानना और आत्मस्वरूप का चिन्तन करना प्रमाण समझना चाहिए।"

"वही पुरुष धन्य है, वही पुरुष साधु है, वही पुरुष नमस्कार के योग्य है जो अकार्य से निवृत्त है और असि-धार सदृश—खड्ग की धार पर चलने जैसे कठिन व्रत—चतुर्थ व्रत का स्थूलिभद्र मुनि की तरह धीरता पूर्वक पालन करता है।"

कोशा की इन सारगर्भित वातों को सुनकर मुनि की आँखें खुलीं। तुमुल अंधकार मे आलोक हुआ। कोशा के प्रति मुनि का हृदय कृतज्ञता से भर आया। वह वोला '—"कोशा तू धन्य है। तूने मुझे भव-कूप से वचा लिया। अव मैं पाप से आत्मा को हटाता हूँ। तुमसे मैं क्षमा चाहता हू।"

कोशा वोली—"मुनि। मैने आपको संयम मे स्थिर करने के लिए ही यह सव किया है। मे श्राविका हू। हे मुनि। अव आचार्य के पास शीघ्र जाकर अपने दुष्कृत्य का प्रायश्चित्त अंगीकार करें और भविष्य मे गुणवान् के प्रति ईर्ष्या-भाव न रखें।"

मुनि आचार्य के पास लौटे। अवज्ञा के लिए क्षमा-याचना की। अपने दुष्कृत्य को निन्दा करते हुए प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हुए।

कोशा गणिका होकर भी उत्तम श्राविका निकली। वह ब्रह्मचर्य व्रत मे दृढ रही और उसके वल से चलचित्त मुनि को भी उसने फिर से संयम मे दृढ़ कर दिया।

★

कुलबालुडा

[इसका सम्बन्ध ढाल २ गाथा ८ (पृष्ठ १३) के साथ है]

आचार्य के समस्त गुणों से युक्त एक आचार्य थे। उनके अनेक शिष्य थे जिनमें एक अविनीत शिष्य भी था। वह सदैव आचार्य के दोषों की ही खोज किया करता था। आचार्य उसके आत्म-सुधार के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते और अन्य शिष्यों के साथ-साथ उसे भी ज्ञानाभ्यास करवाते थे।

एक समय आचार्य शिष्य-परिवार के साथ विहार कर रहे थे। बीच में पर्वत को पार करने के समय कुछ शिष्य पीछे रह गये और कुछ आगे बढ़ गये। आचार्य केवल अकेले ही पर्वत से नीचे उतर रहे थे। पीछे अविनीत शिष्य आ रहा था। उसने आचार्य को पर्वत से नीचे उतरते हुए देखा। आचार्य को अकेला जानकर उसने उनकी हत्या करने का विचार कर लिया। इस विचार से उसने एक बड़ा पत्थर पहाड़ पर से नीचे लुढ़काया। पत्थर की गड़गड़ाहट सुनकर आचार्य ने पीछे मुड़कर देखा तो मालूम हुआ कि कुपात्र शिष्य ने उनकी हत्या के लिए पत्थर लुढ़काया था। उसी समय उन्होंने अपने दोनों पाँव फैला दिये। पत्थर दोनों पाँव के बीच से निकल गया। आचार्य के प्राण बच गए। शीघ्रता से चलकर वे अपने शिष्यसमूह में मिल गये। उन्होंने सारी बात शिष्यों से कही। यह बात सुनकर सभी अविनीत शिष्य का तिरस्कार करने लगे, किन्तु उसने तो आचार्य को ही दोषी बताया और अपना सारा अपराध उन्हीं के सिर पर डाल दिया।

वहुत समझाया और कहा—"पिताजी ने स्वयं अपने हाथ से हार और हाथी को दे दिया तव हमे उसे मांगने का क्या अधिकार है?" स्त्री का हठ जवर्दस्त होता है। उसने राजा की एक नहीं सुनी। अपने आग्रह पर दृढ रही। अन्त मे कोणिक को रानी की वात माननी पडी।

कोणिक राजा ने हल-विहल कुमार को कहला भेजा—"हार और हाथी तो राज्य की शोभा है, अत. वे मेरे पास ही रहेंगे। उन्हें राज्य के कोष मे हाजिर किया जाये।" उत्तर मे हल-विहल कुमार ने कहलाया—"अगर हमे राज्य का हिस्सा मिल जाय तो हम हार और हाथी को देने के लिए तैयार है, अन्यथा नहीं।" कोणिक ने कहा—"मेरे राज्य का सूई जितना हिस्सा भी नहीं मिलेगा और तुमको हार और हाथी देना पडेगा।"

हल-विहल कुमार ने देखा कि यहाँ रहने से न हार-हाथी ही रहेगा और न राज्य का ही हिस्सा मिलेगा। ऐसा सोचकर दोनों ही अपने नाना चेटक राजा के पास चले गये।

जव राजा कोणिक को यह मालूम हुआ तो उसने राजा चेटक को दूत के द्वारा यह कहला भेजा—"हार और हाथी के साथ हल–विहल कुमार को मेरे पास भेज दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।" चेटक ने उत्तर मे कहला भेजा—"चेटक किसी भी मूल्य पर शरणागत की रक्षा करेगा। वह हल-विहल को नहीं भेज सकता। युद्ध के लिए किया गया आह्वान स्वीकार्य है।"

कोणिक राजा ने अपने ग्यारह भाइयों के साथ विशाल चतुरंगिणी सेना को लेकर विशाला नगरी पर चढाई कर दी। इधर चेटक भी नौ मल्ली और नौ लिच्छवी, इस तरह १८ देशों के राजाओं की सहायता लेकर कोणिक का सामना करने के लिए तैयार था। परस्पर युद्ध चालू हो गया। चेटक ने कोणिक के दस भाइयों को अपने शक्तिशाली वाणों से मार दिया। दो दिनों मे १ करोड ८० लाख सेना का संहार हो गया।

कोणिक घवडा गया और उसने अपने पूर्व-भव के मित्र चमरेन्द्र को याद किया। चमरेन्द्र के प्रकट होने पर कोणिक ने उसे अपनी रक्षा के लिए कहा और चेटक को किसी भी उपाय से मार डालने की वात कही। चमरेन्द्र ने कहा—"चेटक मेरा धर्म मित्र है। अत मैं उसकी हत्या नहीं करवा सकता, किन्तु तुम्हारी रक्षा कर सकता हूं।" ऐसा कह चमरेन्द्र ने उसे वज्रकोट दिया। कोणिक उसे पहनकर युद्ध करने लगा।

चेटक राजा जो वाण मारता था इन्द्र के प्रभाव से वह कोणिक को नहीं लगता था। चेटक के वाणों की निष्फलता देख सेना घवडा गई और उसमे भगदड मच गई। चेटक भी घवडाकर नगर मे घुस गया और नगर के फाटक वन्द करवा दिये।

कोणिक ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं विशाला नगरी मे गदहे से हल चलाऊंगा। उसने नगरी को सेना से घेर लिया। वह वहुत दिनो तक घेरा डाले रहा, पर कोट को तोडने का भरसक प्रयत्न करने पर भी वह उसे भग्न नहीं कर सका। इससे वह वहुत आकुल-व्याकुल होने लगा।

नैमित्तिक ने वताया कि जव कुलवालुडा मागधिका नाम की वेश्या से भ्रष्ट होगा तव चेटक की विशाला नगरी कोणिक के अधीन हो सकती है।

कोणिक ने मागधिका वेश्या को बुलाकर कुलवालुडा को वश मे करने का आदेश दिया। [illegible] आज्ञा पाकर मागधिका कुलवालुडा की कृत्रिम श्राविका वन उसके पास आने-जाने लगी।

एक दिन कुलवालुडा साधु [illegible] मागधिका वेश्या के अनुरोध से उसके घर भिक्षा के लिए गया। वेश्या ने पहले ही साधु के आहार मे औषधि मिला रखी थी। उस आहार को लेकर साधु स्वस्थान आया और उसने वह आहार खा लिया। औषधि के कारण उसे दस्त पर दस्त लगने लगे और वह वेहोश हो गया।

। मागविका साधु के स्थान में जा उसकी परिचर्या करने लगी। उसने साधु के वस्त्रों एवं शरीर को
।। साधु की बेहोशी को मिटाने के लिए वह उसके अंग-प्रत्यङ्ग को मसलने लगी। साधु को होश
समीप एक नारी को बैठी हुई देख कर वह बोला—"तुम यहाँ किस लिए बैठी हो?" वेश्या ने कहा—
मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए थे। आपका शरीर और वस्त्र मल-मूत्र से भर गया था। ऐसी अवस्था में
ना मेरा कर्तव्य था। यही सोचकर मैंने आपके वस्त्रों एवं शरीर को साफ कर दिया और आपकी बेहोशी
हाथ और पैर मसलने लगी। अब आपको होश हुआ है आप मुझसे किसी भी प्रकार का संकोच
। महापुरुष हैं, मैं आपकी सेवा से घृणा कैसे कर सकती हूं? आप जब तक स्वस्थ न हो जाय तब तक
ना चाहती हूं। अपनी सेवा से मुझे वंचित न रखें।" इस प्रकार मागविका ने मधुर वचनों एवं हाव-
लुडा साधु के चित्त को मोह लिया। वेश्या के संग से साधु भ्रष्ट हो गया। उसने अपने हाव-भावों
अपने वश में कर लिया। कुलवालुडा अपने तप से भ्रष्ट होकर मागविका वेश्या से भोग भोगने लगा।
कहा—"अब आपको कमा कर लाना चाहिए।" तब उसने ज्योतिषी का धंधा शुरू कर दिया।
भी कुलवालुडा एक दिन कोणिक राजा के पास गया। कोणिक ने उसे पूछा—"बताओ कौन-सा उपाय
नगरी मेरे अधीन हो सकती है?" तब उसने निमित्त शास्त्र से बताया कि विशाला नगरी में जो स्तंभ गड़ा
में गड़ा है। अगर उस स्तंभ को उखाड़ दिया जाय तो नगरी तुम्हारे अधीन हो सकती है।
लुडा विशाला नगरी में घूमता हुआ लोगों से यह कहने लगा कि उस स्तम्भ का अब समय हो गया
इ देने से नगर का संकट दूर हो सकता है। लोगों ने उसपर विश्वास कर लिया और स्तंभ को उखाड़ना

कोणिक से कह दिया कि जब ये लोग स्तंभ को उखाड़ने लगें तब अपनी सेना को वहाँ से हटा कर दूर ले
से अचानक हमला बोल देना। कोणिक ने वैसा ही किया।
। नगर-वासियों को यह विश्वास हो गया कि स्तंभ को मूल से उखाड़ देने से कोणिक की सेना हट गई।
पाकर कोणिक ने पुनः हमला बोल दिया और विशाला नगरी का पतन हो गया। कोणिक ने अपनी
र विशाला नगरी में गदहे से हल चलाया।
आराधना कर चेटक देवलोक गया। हल-विहल कुमारों ने दीक्षा ले ली। हाथी अग्नि-कुण्ड में पड़कर
लवालुडा मर कर नरक में गया।

*

मल्लि [1]

[इसका सम्वन्ध ढाल ३ गा० ७ (पृ० १९) के साथ है]

विदेह की राजधानी मिथिला मे कुम्भ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम प्रभावती था। उसके मल्लदिन्न नाम का एक राजकुमार और मल्लि नाम की एक पुत्री थी।

मल्लि का सौंदर्य अनुपम था। उसके केश काले थे। नेत्र अत्यन्त सुन्दर थे। विम्ब फल की तरह उसके अधर लाल थे। उसके दाँतों की पँक्तियाँ श्वेत थीं। उसका शरीर श्रेष्ठ कमल के गर्भ की कान्तिवाला था। उसका श्वासोच्छ्वास विकस्वर कमल की तरह सुगन्धित था।

देखते-देखते मल्लिकुमारी वाल्यावस्था से मुक्त हुई एवं रूप मे, यौवन मे, लावण्य मे, अत्यन्त उत्कृष्ट शरीरवाली हो गयी।

उस समय अंग नाम का एक जनपद था। उसमे चंपा नाम की नगरी थी। वहाँ राजा चन्द्रच्छाय राज्य करता था। उस नगरी मे वहुत से नौ-वणिक् (नौका द्वारा व्यापार करनेवाले) रहते थे जो समृद्धिशाली और अपरिभूत थे। वे वार-वार लवण-समुद्र की यात्रा करते थे। उनमे अर्हन्नक नामक एक श्रमणोपासक था।

एक वार समुद्र यात्रा से लौटते समय अर्हन्नकादि नौ-यात्रिक दक्षिण दिशा मे स्थित मिथिला नगरी पहुचे। उन्होंने उद्यान मे अपना पडाव डाला। वहुमूल्य उपहार एवं कुण्डल युगल लेकर वहाँ के राजा कुम्भ की सेवा मे पहुचे और हाथ जोडकर विनय पूर्वक उन्होंने वह भेंट महाराजा को प्रदान की।

महाराजा कुम्भ ने मल्लिकुमारी को वुला दिव्य कुण्डल उसे पहना दिया। इसके वाद उन्होंने अर्हन्नादिक वणिकों का वहुत सम्मान किया। महसूल माफकर उन्हें रहने के लिए एक वडा आवास दे दिया। वहाँ कुछ दिन व्यापार करने के वाद उन्होंने अपने जहाजों मे चार प्रकार का किराना भरकर समुद्र-मार्ग से चंपानगरी की ओर प्रस्थान कर दिया।

चम्पा नगरी मे पहुचने पर उन्होने वहुमूल्य कुण्डल युगल वहाँ के महाराजा चन्द्रच्छाय को भेंट किया। अंगराज चन्द्रच्छाय ने भेंट को स्वीकार कर अर्हन्नकादि श्रावकों से पूछा—"तुम लोग अनेकानेक ग्राम-नगरों मे घूमते हो। वार-वार लवण समुद्र की यात्रा करते हो। वताओ, ऐसा कोई आश्चर्य है जिसे तुमने पहली वार देखा हो।" अर्हन्नक श्रमणोपासक वोला—"हम लोग इस वार व्यापारार्थ मिथिला नगरी भी गये थे। वहाँ हम लोगों ने कुम्भ महाराज को दिव्य-कुण्डल-युगल भेंट की। महाराजा ने अपनी पुत्री मल्लिकुमारी को वुलाकर वे दिव्य कुण्डल उसे पहना दिये। मल्लिकुमारी को हमने वहाँ एक आश्चर्य के रूप मे देखा। विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी जितनी सुन्दर है उतनी सुन्दर देवकन्याए भी नहीं देखी जाती।"

महाराज चन्द्रच्छाय ने अर्हन्नकादि व्यापारियों का सत्कार सम्मान कर उन्हें विदा किया।

व्यापारियों के मुख से मल्लिकुमारी की ऐसी प्रशंसा सुनकर महाराज चन्द्रच्छाय उसपर अनुरक्त हो गये। [illegible] को बुलाकर कहा—"तुम मिथिला नगरी जाओ और जाकर कुम्भराजा से मल्लिकुमारी को मेरी भार्या के रूप मे मांगो। और अगर कन्या के वदले मे वे मेरे राज्य की भी माग करे, तो स्वीकार कर लेना" महाराजा का सन्देश लेकर दूत मिथिला पहुचा।

[1] [illegible]

उस समय कोशल जनपद मे साकेतपुर नाम का नगर था। वहाँ इक्ष्वाकु वंश के प्रतिबुद्धि नाम के राजा र करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। राजा के प्रधान मंत्री का नाम सुबुद्धि था। वह साम, दाम, दण्ड ३ भेद नीति मे कुशल और राज्य धुरा का शुभ चिन्तक था। उस नगर के ईशान कोण मे एक विशाल नाग गृह था।

एक बार नाग महोत्सव का दिन आया। महारानी पद्मावती ने राजा प्रतिबुद्धि से निवेदन किया—"स्वा कल नागपूजा का दिन है। आपकी इच्छा से उसे मनाना चाहती हूँ। उसमे आपको भी साथ जाना होगा।"

राजाने पद्मावती देवी की प्रार्थना स्वीकार की। इसके बाद महारानी ने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर कह "तुम माली को बुलाकर कहो कि कल पद्मावती देवी नागपूजा करेगी। अतः जल-थल मे उत्पन्न होनेवाले विकस्वर, पंच पुष्पों एवं एक श्रीदाम महाकाण्ड को नागगृह मे रखो। जल-थल मे उत्पन्न विकस्वर पंचवर्णी पुष्पों को विविध प्रका सजाकर एक विशाल पुष्प-मंडप बनाओ। उसमे फूलो के अनेक प्रकार के हंस, मृग, मयूर, क्रौंच, सारस, चक्रवाक, मै कोयल, दूहामृग, वृषभ, घोडा, मनुष्य, मगर, पक्षी, सर्प, किन्नर, मृग, अष्टापद, चमरी गाय, हाथी, वनलता एवं पद्मल के चित्रों को सजाओ। उस पुष्पमंडप के मध्य भाग मे सुगन्धित पदार्थ रखो एवं उसमे श्रीदामकाण्ड लटकाओ अ पद्मावती देवी की प्रतीक्षा करते हुए रहो।" कौटुम्बिक पुरुषो ने वैसा ही किया।

प्रात महारानी की आज्ञानुसार सारे नगर की सफाई की गई, सुगन्धित जल सारे नगर मे छिडका गया।

महारानी ने स्नान किया एवं सर्व वस्त्रालंकारों से विभूषित हो धार्मिक यान पर बैठी। नगर के मध्य होती वह पुष्करणी के पास आई। पुष्करणी मे प्रवेश कर महारानी ने स्नान किया और गीली साडी पहने ही कमल पुष्पों ग्रहण कर पुष्करणी से निकल कर नागगृह मे आई। वहाँ उसने सर्वप्रथम लोमहस्तक से नागप्रतिमा का प्रमार्जन किया अ उसकी पूजा की। फिर महाराजा की प्रतीक्षा करने लगी।

इधर प्रतिबुद्धि महाराज ने भी स्नान किया। फिर सर्व अलंकार पहनकर सुबुद्धि प्रधान के साथ हाथी पर बैठ जहाँ नागगृह था, वहाँ आये। हाथी से नीचे उतरकर सुबुद्धि प्रधान के साथ नागगृह मे प्रवेश किया। दोनों ने नागप्रति को प्रणाम किया। नागगृह से निकलकर वे पुष्प-मंडप मे आये और श्रीदामकाण्ड को देखा। उसकी रचना को देख महाराजा विस्मित हुए और अमात्य से कहा—"सुबुद्धि। तुम मेरे दूत के रूप मे अनेक ग्राम-नगरो मे घूमे हो। राज महाराजाओ के घर मे प्रवेश किया है। कहो, आज तुमने पद्मावती देवी का जैसा श्रीदामकाण्ड देखा, वैसा अन्यत्र भ कहीं देखा है ?"

सुबुद्धि बोला—"स्वामी। एक दिन आपके दूत के रूप मे मैं मिथिला नगरी गया था। वहाँ विदेहराज की पुत्र प्रभावती की आत्मजा, मल्लिकुमारी का संवत्सर प्रतिलेखन महोत्सव था। उस दिन मैंने पहले-पहल जो श्रीदाम काण्ड देखा, पद्मावती देवी का यह श्री दामकाण्ड उसके लाखवें भाग की भी बराबरी नहीं कर सकता। महाराज ने पूछा— "वह विदेह राजकन्या मल्लिकुमारी रूप मे कसी है ?" मन्त्री ने कहा—'स्वामी। विदेह राजा की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमार सुप्रतिष्ठित, कूर्मोन्नत और चारुचरणा है। वह रूप और लावण्य मे अत्यन्त सम्पन्न तथा वर्णनीय है।"

मन्त्री के मुख से मल्लिकुमारी के रूप की प्रशसा सुनकर महाराज प्रतिबुद्धि ने हर्षित होकर दूत बुलाकर कहा— "तू मिथिला राजधानी जा। वहाँ विदेहराज की मल्लि नाम की श्रेष्ठ कन्या है। मेरी भार्या के रूप मे उसकी मँगनी कर। अगर इसके लिए मुझे समस्त राज्य भी देना पड़े तो स्वीकार कर लेना।"

इसके बाद उस दूत ने चार घटा वाले अश्वरथ पर आरूढ होकर अपने अनेक सुभटो के साथ मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

उस समय कुणाल नाम का एक जनपद था, जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी। वहाँ रुप्पी राजा का शासन था।

धारणी उसकी रानी थी तथा सुबाहु उसकी कन्या। वह रूप, यौवन और लावण्य मे उत्कृष्ट थी। उसका शरीर उत्कृष्ट था। सुबाहु कन्या के चातुर्मासिक स्नान महोत्सव का दिन आया जानकर महाराज ने कौटुम्बिक पुरुषो को बुलाकर आज्ञा दी—"कल सुबाहु कुमारी का चातुर्मासिक स्नान है। इसलिए जल-थल मे उत्पन्न होनेवाले पंचवर्णीय पुष्पो का मण्डप बनाओ और उसमे श्रीदामकाण्ड लटकाओ।"

कौटुम्बिक पुरुषों ने वैसा ही किया।

महाराजा ने स्वर्णकारों को बुलाकर कहा—"शीघ्र ही राजमार्ग के बीच पुष्प-मण्डप मे विविध प्रकार के पाँच वर्णों के चावलों से नगर का चित्र आलेखित करो और उसके मध्य भाग मे बाजोट रखो।"

स्वर्णकारों ने महाराज की आज्ञा का पालन किया।

इसके बाद महाराजा गन्ध हस्ति पर आरूढ हो कोरंट पुष्पो से सजे हुए छत्र-चँवर को धारण कर, चतुरंगिणी सेना से सुसज्जित हो, राजकुमारी सुबाहु को आगे बैठाकर नगर के मध्य होते हुए पुष्प-मण्डप मे पहुँचे। वहाँ पहुँचकर महाराजा हाथी से नीचे उतरे और पूर्व दिशा की ओर मुँहकर सिंहासन पर आसीन हुए।

अंत पुर की स्त्रियों ने सुबाहु कन्या को पाट पर बैठाकर सोने और चाँदी के कलशों से नहलाया। फिर उसे सर्व वस्त्रालंकारों से सुसज्जित कर पिता को नमस्कार करने के लिए भेजा। राजकुमारी ने पिता के चरणो मे नमस्कार किया। पिता ने उसे अपनी गोद मे बिठा लिया। आलंकारों से सज्जित पुत्री के रूप-यौवन को देखकर महाराजा विस्मित हुए। अपने मंत्री वर्षधर को बुलाकर वे बोले—"मंत्री! तुम अनेक ग्राम, नगर तथा राजा-महाराजाओं के पास कार्यवश जाते हो। यह बताओ कि आज सुबाहु कुमारी का जैसा चार्तुमासिक स्नान महोत्सव हुआ है, वैसा पहले भी कहीं देखा है?"

मंत्री ने कहा—"स्वामी! मैं आपके कार्य के लिए दूत बनकर किसी समय मिथिला नगरी गया था। वहाँ कुम्भ राजा की पुत्री, प्रभावती देवी की आत्मजा, मल्लिनामकी राजकुमारी का स्नान-महोत्सव देखा। उस स्नान-महोत्सव के सामने सुबाहुकन्या का स्नान-महोत्सव लाखवें हिस्से की भी बराबरी नहीं कर सकता।" इसके बाद मंत्री ने मल्लिकुमारी के रूप का वर्णन किया।

मंत्री के मुख से मल्लिकुमारी की प्रशंसा सुनकर राजा उसकी ओर आकर्षित हो गया और राजकुमारी की मंगनी के लिए अपना दूत कुम्भ राजा के पास मिथिला भेजा।

उस समय काशी नामक जनपद मे वाराणसी नाम की नगरी थी। वहाँ शंख नामक राजा का राज्य था।

एक बार मल्लिकुमारी के दिव्य कुण्डल युगल का संधि भाग टूट गया। महाराजा ने नगर के समस्त स्वर्णकारों को बुलाकर कुण्डल युगल को जोडने की आज्ञा दी।

स्वर्णकारों ने बहुत प्रयत्न किया, पर वे कुंडल को जोडने में असमर्थ रहे। तब क्रुद्ध महाराजा ने उन समस्त स्वर्णकारों को देश निकाले का आदेश दिया। स्वर्णकार काशी देश की राजधानी वाराणसी पहुँचे। वहाँ के राजा को बहुमूल्य उपहार भेंटकर कहने लगे "स्वामी! हमलोगों को मिथिला नगर के कुंभ राजा ने देश निष्कासन की आज्ञा दी है। वहाँ से निर्वासित होकर हमलोग यहाँ आये हैं। हमलोग आपकी छत्र-छाया में निर्भय होकर सुखपूर्वक रहने की इच्छा करते हैं।"

शंख राजा बोला—"मल्लिकुमारी कैसी है ?" स्वर्णकारों ने कहा—"स्वामी। दूसरी ऐसी कोई देवकन्या या नाग कन्या भी नहीं जो मल्लिकुमारी के रूप की बराबरी कर सके।"

महाराज शंख मल्लि कुमारी के प्रति आसक्त हो गया। उसने अपने दूत को बुलाकर कहा—"तुम शीघ्र ही मिथिला पहुंच कर मेरी भार्या के रूप मे मल्लि कुमारी की मांग करो। अगर उसके लिए राज्य भी देना पड़े तो भी मेरी ओर से स्वीकार करना।"

महाराजा की आज्ञा पाकर दूत ने मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

मिथिला के कुम्भ राजा का पुत्र मल्लदिन्न था। उसने अपने उद्यान मे एक सभा-भवन का निर्माण कराया। एक बार नगर के समस्त चित्रकारों को बुलाकर उसने अपने सभा-भवन को चित्रित करने की आज्ञा दी। चित्रकारों ने राजकुमार की आज्ञा शिरोधार्य कर काम शुरू किया। उन चित्रकारों मे एक चित्रकार को ऐसी लब्धि थी कि वह किसी भी पदार्थ का एक भाग देखकर उस सम्पूर्ण पदार्थ का यथावत् चित्र अंकित कर सकता था।

एक दिन उस चित्रकार ने पर्दे के छिद्र से मल्लिकुमारी का अंगूठा देखकर विचार किया—'मुझे इसका सम्पूर्ण चित्र बना लेना चाहिए।" ऐसा सोचकर उसने मल्लिकुमारी का यथायथ चित्र बना डाला।

उसके बाद चित्रकारों ने भावभंगिमापूर्ण अनेक सुन्दर चित्रों से सभा भवन को चित्रित किया और युवराज की आज्ञा पूरी कर दी।

युवराज ने चित्रकारों का खूब सत्कार-सम्मान किया तथा जीविका के योग्य प्रीतिदान देकर उन्हें विदा किया।

मल्लदिन्न कुमार स्नान कर, वस्त्राभूषण से सुसज्जित हो, धायमाता के साथ चित्रशाला मे आया और वहां अनेक हाव-भाव वाली स्त्रियों के चित्रों को देखने लगा। चित्र देखते-देखते अकस्मात् उसकी दृष्टि मल्लि कुमारी के चित्र-पर पड़ी। चित्र को ही साक्षात् मल्लि कुमारी समझकर वह लज्जित हुआ और धीरे-धीरे पीछे हटने लगा। यह देखकर उसकी धायमाता कहने लगी—'पुत्र। तुम लज्जित होकर पीछे क्यों सरकने लगे हो ?" मल्लदिन्न ने धात्रीमाता से कहा—"हे माता। मेरी बडी बहन, जो देव, गुरु के समान है उससे लज्जित होना ही चाहिए। उसके रहते हुए चित्रशाला मे प्रवेश करना क्या मेरे लिए योग्य है ?" तब धायमाता ने कहा "पुत्र। यह मल्लिकुमारी नहीं बल्कि उसका चित्र है।"

यह सुनकर राजकुमार कुपित हो बोला—'कौन ऐसा अप्रार्थित का प्रार्थी एवं लज्जारहित चित्रकार है, जिसने मेरी देव गुरु तुल्य ज्येष्ठ भगिनी का चित्र बनाया ?" ऐसा कहकर उसने चित्रकार के वध की आज्ञा दे दी।

जब चित्रकारों को यह मालूम हुआ तो उन्होंने राजकुमार से बहुत अनुनय-विनय किया और चित्रकार का वध न करने की प्रार्थना की। चित्रकारों की प्रार्थना पर राजकुमार ने चित्रकार के वध के बदले उस की दो अंगुष्ठ एव कनिष्ठ अंगुली को छेदने और निर्वासन की आज्ञा दे दी।

चित्रकार मिथिला से निर्वासित होकर हस्तिनापुर गया। वहां उसने मल्लिकुमारी का एक चित्र बनाया और उस चित्रपट को साथ मे लेकर महाराजा अदीनशत्रु के पास आ, अभिवादन कर, बहुमूल्य उपहार के साथ वह चित्रपट उन्हें भेंट किया। फिर बोला—'स्वामी। मिथिला नरेश ने अपने देश से मुझे निष्कासित कर दिया है। मैं आपकी छत्रछाया मे सुखपूर्वक रहना चाहता हूं।'

महाराज ने पूछा—'तुझे मिथिला नरेश ने देश निकाले की आज्ञा क्यों दी ?" चित्रकार ने घटना का समस्त वृत्तान्त सुनाया। घटना सुनकर महाराज ने पूछा—'वह मल्लिकुमारी कैसी है ?" तब उसने चित्रपट दिखाते हुए मल्लि-कुमारी के रूप की अतीव प्रशंसा की। मल्लिकुमारी के रूप की प्रशंसा सुनकर महाराज मुग्ध हो गये और उन्होंने अपने दूत को बुलाकर आज्ञा दी—"तुम मिथिला नगरी जाओ और भार्या के रूप में मल्लिकुमारी की मंगनी करो।"

दूत ने महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

तत्कालीन पाचाल देश की राजधानी कापिल्यपुर थी। वहाँ का राजा जितशत्रु था। उसकी धारणी-प्रमुख हजार रानियाँ थीं।

एक समय चोक्षा नामकी परिव्राजिका मिथिला नगरी मे आई। वह ऋग्वेद आदि षष्ठी तंत्र की ज्ञाता थी। वह दान-धर्म, शौच-धर्म, तीर्थाभिषेक-धर्म की प्ररूपणा किया करती थी।

एक दिन वह मल्लिकुमारी के पास आकर शुचि-धर्म का उपदेश करने लगी। उसने वताया कि उसके धर्मानुसार अपवित्र वस्तु की शुद्धि जल और मिट्टी से होती है। मल्लिकुमारी ने कहा "परिव्राजिके। रुधिर से लिप्त वस्त्र को रुधिर से धोने पर क्या उसकी शुद्धि हो सकती है?" इस पर परिव्राजिका ने कहा—"नहीं।" मल्ली वोली—"इसी प्रकार हिंसा से हिंसा की (पाप स्थानों की) शुद्धि नहीं हो सकती।" मल्लिकुमारी का युक्तिपूर्ण वचन सुनकर चोक्षा परिव्राजिका निरुत्तर हो गई। इसपर मल्लिकुमारी की दासियों ने उसका परिहास किया। कुछ ने गला पकडकर उसको वाहर निकाल दिया।

चोक्षा परिव्राजिका क्रोधित हो मिथिला छोडकर अपनी शिष्याओं के साथ शुचि-धर्म का उपदेश करती हुई कापिल्यपुर आई। एक दिन वह वहाँ के महाराजा के महल मे गई और वहाँ जाकर उसने दान धर्म, शुचि-धर्म एवं तीर्थाभिषेक-धर्म का प्रतिपादन किया।

महाराजा अपने अन्तपुर की रानियों के रूप-सौन्दर्य से विस्मित थे। महाराजा ने पूछा—"परिव्राजिके। तुम अनेक ग्राम-नगरों मे घूमती हो, राजा-महाराजा, सेठ-साहूकारो के मकानो मे प्रवेश करती हो। मेरे जंसा अन्तपुर तुमने कहीं देखा है?" परिव्राजिका ने कहा—"राजन्। आप कूपमंडूक प्रतीत होते हैं। आपने दूसरो की पुत्र-वधुओं, भार्याओं, पुत्रियों को नहीं देखा, इसीलिए ऐसा कहते हैं। मैंने मिथिला नगर के विदेहराज की श्रेष्ठ कन्या मल्लिकुमारी का जो रूप देखा है वसा रूप किसी देवकुमारी या नागकन्या का भी नहीं।"

मल्लि के रूप की प्रशसा सुनकर कापिल्यपुर के महाराज ने भी मल्लिकुमारी की मंगनी के लिए मिथिला नगर को दूत भेजा।

राजदूतो ने आकर अपने-अपने स्वामियो की मॉग कुभ राजा के सामने पेश की। राजा कुभ ने सबके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

विवाह के लिए आये हुए प्रस्तावो की वात मल्लि के पास पहुची। उसने विचार किया, हो न हो ये राजा क्रोध के आवेश मे उसके पिता पर चढाई किये विना नहीं रहेंगे। यह सोचकर, कामान्ध हुए इन राजाओं को शान्त कर सुमार्ग पर लाने के लिए, उसने एक युक्ति सोच निकाली।

अपने महल मे एक सुन्दर विशाल भवन मे उसने अपनी एक मूर्ति बनावकर रखवाई। वह मूर्ति सोने की बनी हुई थी। वह भीतर से पोली एव सिर पर पेचदार ढक्कन से ढकी हुई थी। देखने मे वह मूर्ति इतनी सुन्दर थी मानो साक्षात मल्लि ही आकर खडी हो।

राजकुमारी नित्यप्रति इस मूर्त्ति के पेट मे सुगन्धित खाद्य-पदार्थ डालने लगी। ऐसा करते-करते जब वह मूर्ति भीतर से सम्पूर्ण भर गई तो मल्लि ने उसे ढक्कन से मजबूती के साथ ढक दिया।

दूसरी ओर इस नर संहारकारी महा भयंकर युद्ध को देखकर मल्लि ने अपने पिता से विनती की—"मेरे एक खूखार लडाई को बढाने की जरूरत नहीं है। अगर आप एक बार इन सब राजाओ को मेरे पास आने दें तो मैं समझा कर निश्चय ही शान्ति स्थापित करवा दूँ।"

राजा कुभ ने अपने दूतों के द्वारा मल्लि का सन्देश राजाओं के पास भेज दिया। यह सन्देश मिलते ही राजा ने संतुष्ट होकर अपनी-अपनी सेनाओ को रण-क्षेत्र से हटा लिया। उनके आने पर, जिस कमरे मे मल्लि की सुवर्ण म अवस्थित थी, उसीमे उनको अलग-अलग बैठाया गया।

राजाओ ने इस मूर्त्ति को ही साक्षात् मल्लि समझा और उसके सौंदर्य को देखकर और भी अधिक मोहित हो ग बाद मे वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजकुमारी मल्लि जब उस कमरे मे आई, तभी उनको होश हुआ कि यह मल्लि न परन्तु उसकी मूर्त्ति मात्र है। वहाँ आकर राजकुमारी मल्लि ने बैठने के पहले मूर्त्ति के ढक्कन को हटा दिया। ढक्कन करते ही मूर्त्ति के भीतर से निकलती हुई तीव्र दुर्गन्ध से समस्त कमरा एकदम भर गया। राजा लोग घबडा उठे और सब अपनी-अपनी नाक बन्द कर ली।

राजाओं को ऐसा करते देख मल्लि नम्र भाव से बोली—"हे राजाओ! तुम लोगो ने अपनी नाकें क्यो बन्द ली ? जिस मूर्त्ति के सौंदर्य को देखकर तुम मुग्ध हो गये थे उसी मूर्त्ति मे से यह दुर्गन्ध निकल रही है। यह मे सुन्दर दिखाई देनेवाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्टा आदि घृणोत्पादक वस्तुओ से भरा प है। शरीर मे जानेवाली अच्छी से अच्छी सुगन्धवाली और स्वादिष्ट वस्तुएँ भी दुर्गन्धयुक्त विष्टा बन कर बाहर निकल है। तब फिर इस दुर्गन्ध से भरे हुए और विष्टा के भाण्डार-रूप इस शरीर के बाह्य सौदर्य पर कौन विवेकी पुरुष मु होगा ?"

मल्लि की मार्मिक बातों को सुनकर सब के सब राजा लज्जित हुए और अधोगति के मार्ग से बचानेवाली म का आभार मानते हुए कहने लगे—"हे देवानुप्रिये! तू जो कहती है, वह बिलकुल ठीक है। हमलोग अपनी भूल के कार अत्यन्त पछता रहे हैं।"

इसके बाद मल्लि ने फिर उनसे कहा —"हे राजाओ! मनुष्य के काम-सुख ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीर पर ही अवलम्बि है। शरीर का यह बाहरी सौंदर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है तब उसकी काति बिग जाती है, चमडी निस्तेज होकर ढीली पड जाती है, मुख से लार टपकने लगती है और सारा शरीर थर-थर कांपने लग है। हे देवानुप्रियो! ऐसे शरीर से उत्पन्न होनेवाले काम-सुखों मे कौन आसक्ति रखेगा और कौन उनमे मोहित होगा ?

हे राजाओ! मुझे ऐसे काम-सुखों मे जरा भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखो को त्याग कर मैं दीक्षा लेन चाहती हूँ। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, सयम पालन द्वारा, चित्त मे रही हुई काम, क्रोध, मोह आदि असद्वृत्तियों न निर्मूल करने का मैने निश्चय कर लिया है। इस सम्बन्ध मे तुमलोगो के क्या विचार है, सो मुझे बताओ ?"

यह बात सुनकर राजाओं ने बहुत नम्र भाव से उत्तर दिया—हे देवानुप्रिये! तुम्हारा कहना ठीक है। हम लो भी तुम्हारी ही तरह काम-सुख छोडकर प्रव्रज्या लेने के लिए तयार है।"

मल्लि ने उनके विचारों की सराहना की और उन्हें एकबार अपनी-अपनी राजधानी मे जाकर अपने-अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर तथा दीक्षा के लिए उनकी अनुमति लेकर वापस आने के लिए कहा।

यह निश्चय हो जाने पर मल्लि सब राजाओ को लेकर अपने पिता के पास आई। वहाँ पर सब राजाओं ने अपने अपराध के लिए कुम्भ राजा से क्षमा मांगी। कुम्भ राजा ने भी उनका यथेष्ट सत्कार किया और सबको अपनी अपनी राजधानी की ओर विदा किया।

राजाओं के चले जाने के बाद मल्लि ने प्रव्रज्या ली। राजकुमारी होने पर भी वह ग्राम-ग्राम विहार करने ल
और भिक्षा मे मिले हुए रूखे-सूखे अन्न द्वारा अपना निर्वाह करने लगी। मल्लि की इस दिनचर्या को देखकर दूसरी अने
स्त्रियों ने भी उसके पास दीक्षा लेकर साधु-मार्ग अङ्गीकार किया।

वे सब राजा लोग भी अपनी-अपनी राजधानी मे जाकर अपने पुत्रों को राज्य-भार सौंपकर वापस मल्लि के पा
आए और प्रव्रजित हुए।

मल्लि तीर्थंकर हुई और प्राणियों के उत्कर्ष के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगी। उपरोक्त छ राजा भी उस
आजीवन सहचारी रहे।

इस प्रकार मगध देश मे विहार करती हुई मल्लि ने अपना अन्तिम जीवन विहार मे आए हुए सम्मेत पर्वत प
विताया और अजरामरता का मार्ग साधा।

मल्लि का जीवन विकास की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए स्त्री-जीवन का एक अनुपम चित्र है।

दूसरी ओर इस नर संहारकारी महा भयंकर युद्ध को देखकर मल्लि ने अपने पिता से विनती की—"मेरे लिए एक खूनी लडाई को बढ़ाने की जरूरत नहीं है। अगर आप एक बार इन सब राजाओं को मेरे पास आने दें तो मैं उन्हें समझा कर निश्चय ही शान्ति स्थापित करवा दूँ।"

राजा कुंभ ने अपने दूतों के द्वारा मल्लि का सन्देश राजाओं के पास भेज दिया। यह सन्देश मिलते ही राजाओं ने सतुष्ट होकर अपनी-अपनी सेनाओं को रण-क्षेत्र से हटा लिया। उनके आने पर, जिस कमरे में मल्लि की सुवर्ण मूर्त्ति अवस्थित थी, उसीमें उनको अलग-अलग बैठाया गया।

राजाओं ने उस मूर्त्ति को ही साक्षात् मल्लि समझा और उसके सौंदर्य को देखकर और भी अधिक मोहित हो गए। बाद में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर राजकुमारी मल्लि जब उस कमरे में आई, तभी उनको होश हुआ कि यह मल्लि नहीं परन्तु उसकी मूर्त्ति मात्र है। वहाँ आकर राजकुमारी मल्लि ने बैठने के पहले मूर्त्ति के ढक्कन को हटा दिया। ढक्कन दूर करते ही मूर्त्ति के भीतर से निकलती हुई तीव्र दुर्गन्ध से समस्त कमरा एकदम भर गया। राजा लोग घबडा उठे और सब ने अपनी-अपनी नाक बन्द कर ली।

राजाओं को ऐसा करते देख मल्लि नम्र भाव से बोली—"हे राजाओ ! तुम लोगों ने अपनी नाकें क्यों बन्द कर ली ? जिस मूर्त्ति के सौंदर्य को देखकर तुम मुग्ध हो गये थे उसी मूर्त्ति में से यह दुर्गन्ध निकल रही है। यह मेरा सुन्दर दिखाई देनेवाला शरीर भी इसी तरह लोही, रुधिर, थूक, मूत्र और विष्टा आदि घृणोत्पादक वस्तुओं से भरा पडा है। शरीर में जानेवाली अच्छी से अच्छी सुगन्धवाली और स्वादिष्ट वस्तुएँ भी दुर्गन्धयुक्त विष्टा बन कर बाहर निकलती हैं। तब फिर इस दुर्गन्ध से भरे हुए और विष्टा के भाण्डार-रूप इस शरीर के बाह्य सौंदय पर कौन विवेकी पुरुष मुग्ध होगा ?'

मल्लि की मार्मिक बातों को सुनकर सब के सब राजा लज्जित हुए और अधोगति के मार्ग से बचानेवाली मल्लि का आभार मानते हुए कहने लगे— हे देवानुप्रिये ! तू जो कहती है, वह बिलकुल ठीक है। हमलोग अपनी भूल के कारण असन्त पछता रहे हैं।"

इसके बाद मल्लि ने फिर उनसे कहा — हे राजाओ ! मनुष्य के काम-सुख ऐसे दुर्गन्धयुक्त शरीर पर ही अवलम्बित हैं। शरीर का यह बाहरी सौंदर्य भी स्थायी नहीं है। जब यह शरीर जरा से अभिभूत होता है तब उसकी कांति बिगड जाती है, चमडी निस्तेज होकर ढीली पड जाती है, मुख से लार टपकने लगती है और सारा शरीर थर-थर काँपने लगता है। हे देवानुप्रियो ! ऐसे शरीर से उत्पन्न होनेवाले काम-सुखों में कौन आसक्ति रखेगा और कौन उनमें मोहित होगा ?"

हे राजाओ ! मुझे ऐसे काम-सुखों में जरा भी आसक्ति नहीं है। इन सब सुखों को त्याग कर मैं दीक्षा लेना चाहती हूँ। आजीवन ब्रह्मचारिणी रहकर, संयम पालन द्वारा, चित्त में रही हुई काम, क्रोध, मोह आदि असद्वृत्तियों को निर्मूल करने का मैंने निश्चय कर लिया है। इस सम्बन्ध में तुमलोगों के क्या विचार है, सो मुझे बताओ ?"

यह बात सुनकर राजाओं ने बहुत नम्र भाव से उत्तर दिया—हे देवानुप्रिये ! तुम्हारा कहना ठीक है। हम लोग भी तुम्हारी ही तरह काम-सुख छोड़कर प्रव्रज्या लेने के लिए तैयार है।'

मल्लि ने उनके विचारों की सराहना की और उन्हें एकबार अपनी-अपनी राजधानी में जाकर अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार सौंपकर तथा दीक्षा के लिए उनकी अनुमति लेकर वापस आने के लिए कहा

यह निश्चय हो जाने पर मल्लि सब राजाओं को लेकर अपने पिता के पास आई वहाँ पर सब राजाओं ने अपने अपराध के लिए कुम्भ राजा से क्षमा माँगी। कुम्भ राजा ने भी उनका यथेष्ट सत्कार किया और सबको अपनी [illegible] राजधानी की ओर विदा किया

राजाओं के चले जाने के बाद मल्लि ने प्रव्रज्या ली। राजकुमारी होने पर भी वह ग्राम-ग्राम विहार करने लगी और भिक्षा मे मिले हुए रूखे-सूखे अन्न द्वारा अपना निर्वाह करने लगी। मल्लि की इस दिनचर्या को देखकर दूसरी अनेक स्त्रियों ने भी उसके पास दीक्षा लेकर साधु-मार्ग अङ्गीकार किया।

वे सब राजा लोग भी अपनी-अपनी राजधानी मे जाकर अपने पुत्रो को राज्य-भार सौंपकर वापस मल्लि के पास आए और प्रव्रजित हुए।

मल्लि तीर्थंकर हुई और प्राणियो के उत्कर्ष के लिए अधिकाधिक प्रयत्न करने लगी। उपरोक्त छ राजा भी उसके आजीवन सहचारी रहे।

इस प्रकार मगध देश मे विहार करती हुई मल्लि ने अपना अन्तिम जीवन विहार मे आए हुए सम्मेत पर्वत पर बिताया और अजरामरता का मार्ग साधा।

मल्लि का जीवन विकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए स्त्री-जीवन का एक अनुपम चित्र है।

कथा—१७ :

महारानी मृगावती

[इसका संवन्ध ढाल ३ गाथा ८ (पृ० १९) के साथ है]

कोशाम्बी नगरी मे शतानिक नाम के राजा राज्य करते थे। रूप-लावण्य-सम्पन्ना मृगावती उनकी पटरानी थी। वह भगवान् महावीर की परम उपासिका थी।

एक समय एक दक्ष चित्रकार राजसभा मे आया। महाराजा ने उसकी चित्रकला पर प्रसन्न होकर उसे चित्रशाला को चित्रित करने का काम सौंपा। चित्रकारी करते हुए चित्रकार की दृष्टि पर्दे के अन्दर की महारानी मृगावती के अँगूठे पर पडी। केवल अँगूठे को देखकर उसने महारानी मृगावती का सम्पूर्ण चित्र बना लिया। चित्रशाला को सुन्दर चित्रों से चित्रित करने का कार्य पूरा हुआ। एकबार महाराजा स्वयं चित्रकारी को देखने के लिए चित्रशाला मे आये। वहाँ मृगावती के चित्र को देखा। मृगावती के जंघा पर काला तिल चित्रित देखकर महाराजा का मन शंका-ग्रस्त हो गया। वे बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होंने चित्रकार के शिरोच्छेद का आदेश दिया। चित्रकार के बहुत अनुनय-विनय करने पर और देव-वरदान की बात करने पर महाराजा ने उसका अंगूठा कटवाकर उसके देश-निकाले का आदेश दे दिया।

क्रुद्ध चित्रकार ने वहाँ से निकल कर महारानी मृगावती का पुन वैसा ही चित्र बनाया और अवन्ति के महाराजा चण्डप्रद्योतन को भेंट किया। चण्डप्रद्योतन अपूर्व सुन्दरी मृगावती के चित्र को देख, उसपर आसक्त हो गया।

चण्डप्रद्योतन ने शतानिक के पास दूत भेजकर मृगावती की माँग की। महाराजा शतानिक ने इस घृणित माँग को ठुकरा दिया और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। चण्डप्रद्योतन ने जब यह समाचार सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी सेना सजाकर शतानिक पर चढाई करने के लिए रवाना हो गया। इधर शतानिक ने भी युद्ध की तैयारी कर ली। अंतत दोनों पक्षों मे भयंकर युद्ध हुआ। महाराजा शतानिक की मृत्यु अतिसार हो जाने से हो गई। मृगावती विधवा हो गई। सारी कोशाम्बी मे शोक छा गया।

शतानिक की मृत्यु से चण्डप्रद्योतन अत्यन्त प्रसन्न हुआ। शतानिक के एक पुत्र था। उसका नाम था उदायन किन्तु राजकुमार की उम्र छोटी थी। शोक के बारह दिन व्यतीत होनेपर महारानी मृगावती ने मंत्रियों को बुलाकर पुन युद्ध की तैयारी के लिए राय माँगी। मंत्रियों ने कहा—"महारानी जी। चण्डप्रद्योतन बहुत दुष्ट है। उसकी विशाल सेना के सामने हम ज्यादा दिन ठहर नहीं सकते। चण्डप्रद्योतन को हमे अन्य उपाय से ही जीतना चाहिए।" तब विदुषी महारानी ने एक उपाय सोचा। अपने खास दूत को बुलाकर मंत्रियों की सलाह से चण्डप्रद्योतन को महारानी ने कहला भेजा—"महारानी मृगावती आपके प्रस्ताव को स्वीकार करती हैं किन्तु उनकी] एक शर्त्त है। पति की मृत्यु से वे शोक-विह्वल हैं। उनका पुत्र भी अभी बालक है। शोक से निवृत्त होने के बाद महारानी आपसे अपने पुत्र का राज्याभिषेक कराना चाहती हैं। अत बाहरी शत्रुओं से बचने के लिए तथा राजकुमार की सुरक्षा के लिए एक दृढ किला बनवा दें और नगरी को धन-धान्य से पूरित कर राजपुत्र को राजगद्दी पर बैठा दें। इसके बाद महारानी आपकी आज्ञा का पालन करने को तैयार रहेंगी।"

दूत से महारानी का सन्देश सुनकर चण्डप्रद्योतन बहुत प्रसन्न हुआ। महारानी की इच्छानुसार उसने एक दृढ दुर्ग बना दिया एव उसको धन-धान्य से पूरित कर दिया। पुत्र के राज्याभिषेक के बहाने युद्ध की समग्र तैयारी कर महारानी ने किले के फाटक बन्द करवा दिए।

इधर चण्डप्रद्योतन ने दूत से पुन. कहलवा भेजा कि महारानी अपनी की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार उसके महल मे चली आवे। जब दूत कोशाम्बी आया और उसने युद्ध की पूण तैयारी देखी तो वह वापस चला आया और राजा को खबर दी कि वहाँ तो युद्ध की तैयारियाँ हो रही है। किले के फाटक बन्द करवा दिये गये है। महारानी प्रस्ताव स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं।

जब चण्डप्रद्योतन ते यह सुना तो वह बहुत क्रुद्ध हुआ और अपनी विशाल सेना सजाकर कोशाम्बी को पूर्ण रूप से विध्वस्त करने की प्रतिज्ञा कर वहाँ पहुचा और नगरी को सेनाओ से घेर लिया।

इधर श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए कोशाम्बी नगरी के बाहर उद्यान मे ठहरे। मृगावती को जब यह ज्ञात हुआ तब उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने अपनी सेना को युद्ध बन्द कर देने का आदेश दिया। कोशाम्बी के दरवाजे खुलवा दिये और सबको निर्भीक होकर भगवान् के दर्शन करने का आदेश दिया। महारानी मृगावती अपने समस्त नगरवासियो के साथ भगवान् महावीर के समवशरण मे पहुँची। राजा चण्डप्रद्योतन ने भी जब भगवान् के पदार्पण की खबर सुनी तो उन्होंने भी युद्ध बन्द करने का आदेश दिया और वे भी भगवान् के समवशरण मे पहुँचे।

भगवान् महावीर की वाणी सुनकर चण्डप्रद्योतन का विषय मद उतरा और वह अपने किये हुए कार्यों का पश्चाताप करने लगा। इधर महारानी मृगावती ने भगवान् से निवेदन किया—"भगवन्। मैं आप से प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती हू। चण्डप्रद्योतन महाराज मुझे आज्ञा प्रदान करें।" मृगावती के इस वचन से चण्डप्रद्योतन बडा प्रभावित हुआ। वह बोला—"देवी। तुम धन्य हो। तुम्हारा जीवन धन्य है। मैं आज से प्रतिज्ञा करता हू कि उदायन मेरा छोटा भाई रहेगा। मैं उसके राज्य-संरक्षण की जिम्मेवारी लेता हूं।"

महारानी मृगावती ने उदायन का राज्याभिषेक करवाकर आर्या चन्दनबाला के पास दीक्षा धारण की। महाराजा चण्डप्रद्योतन की आठ रानियों ने भी पति की आज्ञा ले भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की। चण्डप्रद्योतन ने महासती मृगावती को नमस्कार किया और अपराध की क्षमा-याचना कर अपनी राजधानी को लौट गया।

कथा—१८ :

द्रौपदी [१]

[इसका संबन्ध ढाल ३ गा० १० (पृ० २०) के साथ है]

एक दिन पाण्डुराज पाँच पाण्डव, कुन्ती देवी, द्रौपदी देवी, तथा अंतःपुर के अन्य परिवार से संपरिवृत हो सिंहासन पर बैठे हुए थे। उस समय कच्छुल्ल नारद, जो देखने में तो अति भद्र और विनीत लगते थे, पर अंतरत कलुषहृदयी थे, विद्या के सहारे आकाश में उडते हुए, आकाश का उल्लंघन करते हुए, सहस्रों ग्राम, आकर, नगर, खेट, कर्बट, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन और सम्बाधन द्वारा शोभित और व्याप्त मेदिनी तल—वसुधा को देखते हुए हस्तिनापुर पहुचे और अत्यधिक वेग से पाण्डुराज के भवन में उतरे।

नारद को आते देखकर पाण्डुराज ने पाँच पाण्डव और कुन्ती देवी सहित आसन से उठ सात-आठ कदम सम्मुख जा, तीन वार आदक्षिण-प्रदक्षिणा कर वन्दन-नमस्कार किया और महापुरुष के योग्य आसन से उन्हें उपमंत्रित किया।

नारद जल के छींटे दे, दर्भ बिछा, आसन डाल, उस पर बैठे और पाण्डु राजा से उसके राज्य यावत् अन्तःपुर सम्बन्धी कुशल-समाचार पूछने लगे।

पाण्डुराज कुन्ती देवी और पाँच पाण्डवों के साथ नारद का आदर-सत्कार कर उनकी पर्युपासना करने लगे। केवल द्रौपदी ने नारद को असंयत, अविरत, अप्रतिहतप्रत्याख्यातपापकर्मा जान, न तो उनका आदर किया, न उनका सम्मान किया, न खडी हुई और न उनकी पर्युपासना की।

नारद सोचने लगे—"द्रौपदी अपने रूप-लावण्य के कारण और पाँच पाण्डवों को अपने पति-रूप में पाकर गर्विष्ठा हो गई है और इसी कारण मेरा आदर नहीं करती। अतः इसका अप्रिय करना ही मेरी समझ से श्रेयस्कर होगा।" ऐसा विचार, पाण्डुराज से पूछकर, आकाशगामिनी विद्या का स्मरण कर उत्कृष्ट विद्याधर की गति से आकाश-मार्ग में चलने लगे और लवण-समुद्र के बीचोंबीच से पूर्व दिशा की ओर मुखकर आगे बढने लगे।

उस समय धातकी खण्डद्वीप की पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरतक्षेत्र में अमरकंका नाम की राजधानी थी। वहाँ पद्मनाभ नाम का एक राजा था। एक दिन वह अपनी सात सौ देवियों से संपरिवृत हो अंतःपुर में सिंहासन पर बैठा था। उसी समय नारद उडते उडते सीधे उसके राजभवन में आकर उतरे। पद्मनाभ राजा ने उनका आदर-सत्कार किया, अर्घ्य से उनकी पूजा की और उन्हें आसन से उपमंत्रित किया। नारद ने कुशल समाचार पूछे।

राजा पद्मनाभ अपनी रानियों के परिवार के प्रति विस्मयोन्मुख हो नारद से पूछने लगा "हे देवानुप्रिय! आप अनेक ग्राम यावत् घरों में प्रवेश करते हैं। क्या आपने जैसा मेरी रानियों का परिवार है वैसा अन्यत्र भी पहिले कहीं देखा है?" नारद पद्मनाभ की बात सुन किंचित् हँसकर बोले—"पद्मनाभ! तू कूप मण्डूक के सदृश है। देवानुप्रिय! जम्बुद्वीप के भारतवर्ष में हस्तिनापुर नामक नगर है। वहाँ द्रुपद राजा की पुत्री, चुलना देवी की आत्मजा, पाण्डुराज की पुत्रवधू और पाँच पाण्डवों की पत्नी द्रौपदी देवी है। वह रूप, लावण्य में उत्कृष्ट है। तेरा रानी समूह उसके छेदे हुए पग के अंगूठे के सौवें हिस्से की बराबरी करने योग्य भी नहीं है।

इसके बाद पद्मनाभ राजा से पूछ, नारद वहाँ से चल पडे।

नारद से प्रशंसा सुन पद्मनाभ राजा द्रौपदी के रूप, यौवन, लावण्य में मूर्च्छित, गृद्ध, लुब्ध हो, उसकी प्राप्ति

१—नायाधम्मकहाओ १, १६ के आधार पर।

के लिए आतुर हो गया। उसने इष्ट देवता का स्मरण किया। देव सुप्त द्रौपदी को पद्मनाभ राजा की अशोक वाटिका मे उठा लाया।

पद्मनाभ द्रौपदी को सोच करते देख बोला—"देवानुप्रिये। तुम मन के संकल्पों से आहत न बनो। किसी प्रकार की चिन्ता न करो। मेरे साथ विपुल काम भोग भोगती हुई रहो।" इस पर द्रौपदी ने कहा—"मैं छ. मास कृष्ण वासुदेव की राह देखूँगी। अगर वे नहीं आयेंगे तो मैं आपकी इच्छा के अनुसार वर्तूंगी।"

अब द्रौपदी छठ-छठ का तप करती हुई कन्याओ के अन्तपुर मे रहने लगी।

पाण्डु राजा जब किसी भी तरह द्रौपदी का पता नहीं लगा सके तब कुन्ती देवी को कृष्ण वासुदेव के पास द्रौपदी का पता लगाने के लिए भेजा। कुन्ती देवी पाण्डु राजा की आज्ञा प्राप्त कर हाथी पर आरूढ हो द्वारवती पहुँचीं और उद्यान मे ठहरीं। जब कौटुम्बिक पुरुषो द्वारा कृष्ण वासुदेव को कुन्ती के आगमन का समाचार मिला तो वे स्वयं कुन्ती से मिलने उद्यान मे गये। कुन्ती देवी को नमस्कार कर उसे साथ ले अपने आवास आये। भोजन हो चुकने के पश्चात् कृष्ण ने कुन्ती देवी से उसके आने का प्रयोजन पूछा। कुन्ती बोली "पुत्र। युधिष्ठिर के साथ द्रौपदी सुख पूर्वक सो रही थी। जागने पर वह दिखाई नहीं दी। न जाने किस देव, दानव, किंपुरुष, गंधर्व ने उसका अपहरण किया है। पुत्र। म चाहती हू तुम स्वय द्रौपदी देवी की मार्गणा—गवेपणा करो, अन्यथा उसका पता लगाना संभव नहीं। कृष्ण बोले· "पितृभगिनी। मैं द्रौपदी देवी का पता लगाऊंगा। उसके श्रुति, क्षति, प्रवृत्ति का पता लगते ही वह जहां कहीं भी हो उसको मैं स्वयं अपने हाथो ले आऊँगा। इस प्रकार कुन्ती देवी को आश्वासन दे उसको आदर सत्कार पूर्वक विदा किया। कृष्ण ने अपने सेवको को द्रौपदी का पता लगाने के लिए चारो ओर भेज दिया।

एक दिन कृष्ण वासुदेव अपनी रानियो के साथ बैठे हुए थे इतने मे कच्छुल्ल नारद वहां आये। कृष्ण ने उनसे पूछा "आप अनेक स्थानों मे जाते है। क्या आपने कहीं द्रौपदी की भी बात सुनी?" नारद बोले—"देवानुप्रिय। एक बार मैं धातकी खण्ड के पूर्व दिशा के मध्य दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र मे अमरकंका राजधानी मे गया था। वहा पद्मनाभ राजा के राज भवन मे मैंने द्रौपदी को देखा।" कृष्ण बोले—"लगता है यह आप देवानुप्रिय का ही कर्म है।" कृष्ण के ऐसा कहने पर कच्छुल्ल नारद आकाश मार्ग से चल दिये।

कृष्ण ने दूत बुलाकर उसे कहा . "तुम हस्तिनापुर जाकर राजा पाण्डु से निवेदन करो 'द्रौपदी देवी का पता लग गया है। पांचो पाण्डव चतुरंगिणी सेना से संपरिवृत हो पूर्व की दिशा के वेतालिक समुद्र के तीर पर पहुचे और वहां मेरी बाट जोहते हुए रहें।

कृष्ण वासुदेव ५६ हजार योद्धाओ को साथ वेतालिक समुद्र के किनारे पर पाण्डवों से मिले और वहीं स्कंधावार—छावनी स्थापित की।

कृष्ण ने अपनी समस्त सेना को विसर्जित किया और आप स्वयं पाच पाण्डवों सहित छ रथों मे बैठ लवण समुद्र के बीचोबीच होते हुए आगे बढे और जहा अमरकका राजधानी थी जहा नगरी का अग्र उद्यान था वहा रथ को ठहराया। फिर अपने दारुक नामक सारथी को बुलाकर बोले "जाओ अमरकका के महाराज पद्मनाभ से कहो, तुमने कृष्ण वासुदेव की बहन द्रौपदी का अपहरण किया है। यह बहुत बुरा किया फिर भी अगर जीवित रहना चाहते हो तो द्रौपदी को कृष्ण वासुदेव के हाथों मे सौंप दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ

सारथी कृष्ण वासुदेव की आज्ञानुसार पद्मनाभ के पास पहुचा और हाथ जोड उसे जय विजय [illegible] से [illegible] कृष्ण वासुदेव का सन्देश कह सुनाया।

पद्मनाभ सारथी द्वारा सुनाये गये सन्देश से अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और [illegible] कहा— मैं कृष्ण वासुदेव को

द्रौपदी नहीं दूँगा। मैं स्वयं युद्ध के लिए सज्जित होकर आ रहा हू।" ऐसा कह उसने सारथी का अपमान कर उसे पिछले द्वार से निकाल बाहर किया।

दारुक ने वापस आ सारी बात कृष्ण से कही। कृष्ण वासुदेव ने शस्त्र सज्ज हो युद्ध के लिए प्रस्थान कर दिया। उधर पद्मनाभ भी अपनी चतुरंगी सेना के साथ युद्ध भूमि मे आया। दोनो मे भयंकर संग्राम हुआ। संग्राम मे पद्मनाभ की सेना कृष्ण के सामने नहीं टिक सकी। वह हारकर चारो ओर भागने लगी। पद्मनाभ सामर्थ्य हीन हो गया। अपने को असमर्थ जान वह शीघ्रता से अमरकंका राजधानी की ओर भागा और उसने नगर मे प्रवेश कर नगर के फाटक बन्द करवा दिये।

कृष्ण वासुदेव ने उसका पीछा किया और नगर के दरवाजों को तोड अन्दर घुसे। महा शब्द के साथ उनके पाद प्रहार से नगर के प्राकार, गोपुर अट्टालिकाएँ, चरिय तोरण आदि सब गिर पडे। पद्मनाभ के श्रेष्ठ महल भी चारो ओर से विशीर्ण हो, पृथ्वी पर धँस पड़े।

पद्मनाभ राजा भयभीत होगया और द्रौपदी देवी के पास आ उसके चरणो मे गिर पडा।

द्रौपदी बोली · "क्या तुम अब जान गये कि कृष्ण वासुदेव जैसे उत्तम पुरुष के साथ अप्रिय करके मुझे यहाँ लाने का क्या नतीजा है? खैर अब भी तुम शीघ्र जाओ, स्नान कर गीले वस्त्र पहन, वस्त्र का एक पल्ला खुला छोड, अंतपुर की रानियों आदि के साथ प्रधान श्रेष्ठ रत्नो की भेट साथ ले मुझे आगे रख कृष्ण वासुदेव को हाथ जोड उनके चरण मे पड, उनकी शरण ग्रहण करो।"

पद्मनाभ द्रौपदी के कथानुसार कृष्ण वासुदेव के शरणागत हुआ। वह हाथ जोड पैरो मे गिर कर बोला "हे देवानुप्रिय। मैं आपकी ऋद्धि से लेकर अपार पराक्रम को देख चुका। मैं आपसे क्षमा याचना करता हू। मुझे क्षमा करें। म पुन ऐसा काम नहीं करूंगा।" ऐसा कह हाथ जोड उसने कृष्ण वासुदेव को द्रौपदी देवी को सौंप दिया। कृष्ण बोले— हे अप्रार्थित की प्रार्थना करने वाले पद्मनाभ! क्या तू नहीं जानता कि तू मेरी बहन द्रौपदी को यहाँ ले आया है? फिर भी अब तुझे भय करने की जरूरत नहीं।"

कृष्ण द्रौपदी के साथ रथ पर आरूढ़ हो, जहाँ पाचो पाण्डव थे वहाँ आये और अपने हाथो से द्रौपदी को पाँच पाण्डवों को सौंप दिया।

कथा—१९ :

सम्भूत-चक्रवर्त्ती [1]

[इसका सम्वन्ध ढाल ४ गाथा ८ (पृ० २४) के साथ है]

वाराणसी नगरी मे भूदत्त नामका चाण्डाल रहता था। उसके दो पुत्र थे। एक का नाम था चित्त और दूसरे का सम्भूति। वहाँ शंख नाम के राजा राज्य करते थे। उनके नमूची नाम का प्रधान था। किसी अपराध के कारण शंखराजा ने नमूची के प्राण-वध का हुक्म दिया और उसे वध के लिए भूदत्त चाण्डाल को सौंप दिया। नमूची के अधिक अनुनय-विनय करने पर भूदत्त चाण्डाल के दिल मे करुणा आई और उसने कहा—"मैं तुझे तभी मुक्त कर सकता हू जब तू मेरे दोनो पुत्रों को, जो भूमिगत है, पढाना स्वीकार करेगा। नमूची ने भूदत्त की वात स्वीकार कर ली और दोनों को पढाने लगा। कालान्तर मे नमूची ने दोनों पुत्रो को विविध कलाओ मे प्रवीण कर दिया।

एक दिन नमूची ने चाण्डाल की पत्नी से व्यभिचार किया। जब दोनो पुत्रो को यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने कहा—"आप यहाँ से भाग जाइए अन्यथा यह वात हमारे पिता को मालूम हुई तो वे आपको मार डालेंगे।" नमूची वहाँ से भाग कर हस्तिनापुर आया और वहाँ के चक्रवर्त्ती महाराजा सनतकुमार का प्रधान मंत्री वन गया।

इधर दोनों ही चाण्डाल-पुत्र नगर मे गायन करने लगे। उनके मधुर गान से स्त्री-पुरुष मुग्ध होने लगे। अनेक युवतियाँ उनके पास आने लगीं। यहाँ तक की स्पर्शास्पर्श का भी विचार नहीं रहा। इससे नगर के प्रतिष्ठित लोगो ने राजा से शिकायत की। तब राजा ने उन्हें नगर से वाहर निकलवा दिया। इस तरह अपमानित हो उन्होंने अपघात करने का निश्चय किया। वे अपघात करने के लिए पहाडी पर चढे। वहाँ पहले ही कोई मुनि तप कर रहे थे। उन्होंने दोनों चाण्डाल-पुत्रों को अपघात करते देख उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर उन्होंने वहीं दीक्षा स्वीकार की और उग्र तप करने लगे।

एक समय वे विचरते-विचरते हस्तिनापुर आये। किसी समय 'मास खमन' के पारण के दिन वे भिक्षार्थ नगर मे भ्रमण कर रहे थे। भ्रमण करते हुए मुनिवरो को नमूची ने देखा और पहचान लिया।

अपनी पोल खुल जायगी इस भय से नमूची ने दोनो मुनियों को अपने सेवकों से मार-पीट कर उन्हें बाहर निकाल दिया। वहाँ से अपमानित होकर दोनो मुनियो ने अनशन कर लिया। तप के प्रभाव से सम्भूति मुनि को तेजोलेश्या उत्पन्न हुई। क्रोध के आवेश मे मुनि ने लब्धि के प्रभाव से सारे नगर को धूम्र-बादलों से भर दिया। धूम्र से सारे नगर को आच्छादित देखकर नगर की सारी जनता एवं सनतकुमार चक्रवर्त्ती भयभीत हुए। सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी रानी श्रीदेवी को साथ ले मुनि से क्षमा-याचना के लिए नगर के बाहर आये और मुनिवरों से बार-बार क्षमा-याचना करने लगे। श्रीदेवी ने भी मस्तक नवाकर मुनिवरो के चरण-स्पर्श किये। श्रीदेवी के सुन्दर केशों के [illegible] स्पर्श से सम्भूति का मन विचलित हो गया। श्रीदेवी के अपूर्व रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उन्होंने 'निदान' किया— अगर मेरी तपस्या का फल मिले तो दूसरे भव मे मैं चक्रवर्ती बनूं। अन्त मे वे बिना आलोचना के आयु पूर्ण कर देवलोक गये।

वहाँ से च्यवकर सम्भूति का जीव ब्रह्मदत्त चक्रवर्त्ती बना। निदान के कारण वह धर्म-आराधना नहीं कर सका और काम-भोगों मे आसक्त बना। वह मर कर सातवीं नरक मे गया।

१—उत्तराध्ययन [illegible]

राजीमती और रथनेमि

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा ९ (पृ० ३०) के साथ है।]

दीक्षा लेने के बाद राजीमती एक बार रैवतक पर्वत की ओर जा रही थी। राह मे मुसलधार वर्षा होने से राजीमती के वस्त्र भींग गए और उसने पास ही की एक अन्धेरी गुफा मे आश्रय लिया। वहाँ एकान्त समझ कर राजीमती ने अपने समस्त वस्त्र उतार डाले और सूखने के लिए फैला दिए।

समुद्रविजय के पुत्र और अरिष्टनेमि के छोटे भाई रथनेमि प्रव्रजित होकर उसी गुफा मे ध्यान कर रहे थे। राजीमती को सम्पूर्ण नग्न अवस्था मे देखकर उनका मन चलित हो गया। इतने मे एकाएक राजीमती की भी दृष्टि उनपर पडी। उन्हें देखते ही राजीमती सहमी। वह भयभीत होकर कांपने लगी और बाहुओ से अपने अगो को गोपन करती हुई जमीन पर बैठ गई।

राजीमती को भयभीत देखकर काम-विह्वल रथनेमि बोले—"हे सुरूपे। हे चारुभाषिणी। मैं रथनेमि हूँ। हे सुतनु। तू मुझे अंगीकार कर। तुझे जरा भी संकोच करने की जरूरत नहीं। आओ। हम लोग भोग भोगे। यह मनुष्य-भव बार-बार दुर्लभ है। भोग भोगने के पश्चात् हम लोग फिर जिन-मार्ग ग्रहण करेंगे।"

राजीमती ने देखा कि रथनेमि का मनोबल टूट गया है और वे वासना से हार चुके हैं, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी और अपने बचाव का रास्ता करने लगी। संयम और व्रतों मे दृढ होती हुई तथा अपनी जाति, शील और कुल की लज्जा रखती हुई वह रथनेमि से बोली

"भले ही तू रूप मे वैश्रमण सदृश हो, भोगलीला मे नल कुबेर हो या साक्षात् इन्द्र हो तो भी मै तुम्हारी इच्छा नहीं करती।"

"अगंधन कुल मे उत्पन्न हुए सर्प झलझलाती अग्नि मे जलकर मरना पसन्द करते हैं परन्तु वमन किए हुए विष को वापस पीने की इच्छा नहीं करते।"

'हे कामी। वमन की हुई वस्तु को खाकर तू जीवित रहना चाहता है। इससे तो तुम्हारा मर जाना अच्छा है। धिक्कार है तुम्हारे नाम को।"

'मैं भोगराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ और तू अन्धकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। हमलोगों को गन्धन कुल के सर्प की तरह नहीं होना चाहिए। अपने उत्तम कुल की ओर ध्यान देकर संयम मे दृढ रहना चाहिए।"

"अगर स्त्रियों को देख-देखकर तू इस तरह प्रेम—राग किया करेगा तो हवा मे हिलते हुए हाड वृक्ष की तरह चित्त-समाधि को खो बैठेगा?"

जैसे ग्वाला गायों को चराने पर भी उनका मालिक नहीं हो जाता और न भण्डारी धन की रक्षा करने से उसका मालिक होता है वैसे ही तू केवल वेष की रक्षा करने से साधुत्व का अधिकारी नहीं हो सकेगा। इसलिए तू संभल और संयम मे स्थिर हो।'

"जो मनुष्य सदैव विषयों के वश हो, पग-पग पर विषादयुक्त शिथिल हो जाता है, और काम-राग का निवारण नहीं करता, वह श्रामण्य का पालन किस तरह कर सकता है?

"जो वस्त्र, गंध, अलंकार स्त्री और शयन आदि भोग-पदार्थों का [illegible] मे उनके अभाव मे सेवन नहीं करता,

वह त्यागी नहीं कहलाता। सच्चा त्यागी तो वह है जो मनोहर और कान्त भोगो के सुलभ होने पर भी उन्हे पीठ दिखाता है—उनका सेवन नहीं करता।"

"यदि समभाव पूर्वक विचरते हुए भी कदाचित् मन बाहर निकल जाय तो यह विचार कर कि यह मेरी नहीं है और न मैं उसका हूं, मुमुक्षु विषय-राग को दूर करे।"

"आत्मा को कसो, सुकुमारता का त्याग करो, वासनाओ को जीतो, संयम के प्रति द्वेष-भाव को छिन्न करो, विषयो के प्रति राग-भाव का उच्छेद करो। ऐसा करने से शीघ्र ही सुखी बनोगे।"

"साध्वी राजीमती के ये मर्मस्पर्शी शब्द सुनकर, जैसे अंकुश से हाथी रास्ते पर आ जाता है वैसे ही रथनेमि का मन स्थिर होगया।

रथनेमि मन, वचन और काया से सुसंयमी और जितेन्द्रिय बने और व्रतो की रक्षा करते हुए जीवन पर्यन्त शुद्ध श्रमणत्व का पालन करते रहे।

इस प्रकार जीवन बिताते हुए दोनो ने उग्र तप किया और दोनो केवली बने और सर्व कर्मों का अन्त कर उत्तम सिद्ध गति को पहुचे।

जिस प्रकार पुरुष-श्रेष्ठ रथनेमि विषयों से वापस हटे, उसी प्रकार बुद्धिमान, पण्डित और विचक्षण पुरुष विषयो से सदा दूर रहें और कभी विषय-वासना से पीडित भी हो तो मन को वापस खींचे।

कथा २१ .

रूपीराय

[इसका सम्बन्ध ढाल ५ गाथा १० [पृ० ३१] से है]

वसन्तपुर नगर मे रूपी नाम की एक राजकुमारी राज्य करती थी। वह पुरुष वेश मे रहती थी इसलिए लोग भी उसे पुरुष ही समझते थे।

एक समय कोई श्रेष्ठीपुत्र विवाह करने के लिए वसन्तपुर आया। विवाह होने के बाद वहां की रीति के अनुसार, वह भेट देने के लिए रूपीराय के पास पहुचा। राजकुमारी उस अत्यन्त रूपवान श्रेष्ठीपुत्र को देखकर मुग्ध हो गई। उसे एकान्त मे बुलाकर परस्पर प्रेम करने का प्रस्ताव रखा। श्रेष्ठीपुत्र को पर-स्त्री का त्याग था। राजकुमारी की यह बात सुनकर वह स्तब्ध रह गया। मन मे सोचने लगा— अगर मै राजकुमारी के प्रस्ताव को मान लेता हू तो मेरा त्याग भंग हो जाता है। अगर नहीं मानता हूँ तो इसका परिणाम मेरे लिए भयकर भी हो सकता है।" कुछ समय तक वह इसी प्रकार सोचता रहा और कोई बहाना बनाकर घर चला आया। घर जाकर उसने इस विषय पर खूब सोचा। अन्त मे अपने व्रत की रक्षा के लिए उसे एक ही मार्ग दीखा, वह था [illegible]।

ले ली। रूपी राजकुमारी साध्वी हो गई। रूपी साध्वी का मन सदैव श्रेष्ठीपुत्र मे लगा रहता था। अत वह किसी न किसी वहाने श्रेष्ठीपुत्र के पास आती और उन्हे खूब आसक्त-भाव से देखती। रूपी साध्वी के वार-वार देखते रहने से श्रेष्ठीपुत्र का भी मन उसके प्रति आसक्त हो गया और वह भी अत्यन्त आसक्ति से रूपी साध्वी को देखने लगा। इस प्रकार परस्पर एक दूसरो को आसक्ति-पूर्ण नेत्रो से देखने के कारण दोनो चक्षु-कुशील हो गये।

एक दिन दोनो को इस प्रकार आसक्तिपूर्ण नेत्रों से देखते हुए अन्य मुनियो ने देख लिया और उनसे पूछा—क्या तुम दोनो का एक दूसरे के प्रति अनुराग है ? रूपी साध्वी ने अरिहन्त भगवान् की सौगन्ध खाकर कहा—'इसके प्रति मेरी कोई आसक्ति नहीं ?" श्रेष्ठीपुत्र ने भी इनकार कर दिया। दोनो ने अपने पाप-भाव को छिपाने के लिए बहुत बडा झूठ वोलकर वहुत कम उपार्जन किये। मृत्यु के समय दोनो ने अपने पाप की आलोचना नही की। विना आलोचना किये मरकर अनन्त संसारी वने। इस प्रकार रूपीराय चक्षु-कुशील वनकर करोडो भवो मे भटका और अनन्त दु ख पाया। रूपीराय करोडो भव-भ्रमण करती हुई पुन नट कन्या वनी। श्रेष्ठीपुत्र मर कर वसन्तपुर नगर के सागरदत्त श्रेष्ठी के घर जन्मा जिसका नाम एलाची कुमार रखा गया। आगे की कथा के लिए एलाचीपुत्र की कथा देखिये।

कथा—२१ :

एलाचीपुत्र

[इसका सम्वन्ध ढाल ५ गाथा ११ (पृ० ३१) के साथ है]

इलावर्धन एक रमणीय नगर था। वहाँ धनदत्त नामक एक धनाढ्य सेठ रहता था। धारणी उसकी पतिपरायणा पत्नी थी। अनेक मनौतियों के पश्चात् धनदत्त के यहाँ पुत्ररत्न का जन्म हुआ। उसका नाम रखा गया एलाचीपुत्र। उसकी वुद्धि वडी तीव्र थी। इसलिए उसने अल्पकाल मे ही समस्त कलाओं मे दक्षता प्राप्त कर ली।

एक समय उस नगर मे नटों का दल आया। वह दल अभिनय-कला मे वहुत कुशल था। नगर के मध्य भाग मे एक वहुत वडा मैदान था। उसी मैदान मे वांस गाड कर वे नगरवासियो को अपनी नाट्य-कला दिखाने लगे। दर्शको की भीड लग गई। नगरनिवासियो के साथ एलाचीकुमार भी नाटक देखने के लिए वहाँ पहुच गया। उस नट के साथ उसकी एक पुत्री थी। वह अतीव सुन्दर थी। उस नाटक मे वह भी पार्ट अदा कर रही थी। उस अनन्य सुन्दरी नट-कन्या के रूप, यौवन व कला को देखकर एलाची कुमार मुग्ध हो गया। उसने मन मे प्रतिज्ञा करली— यदि मै विवाह करूँगा तो उसीके साथ करूँगा, अन्यथा नहीं। नाटक समाप्त हो गया। लोग अपने स्थानों पर जाने लगे, किन्तु एलाची कुमार वहीं रह गया। मित्रों के वहुत समझाने पर वह घर आया और उसने अपने मित्रों के द्वारा अपने पिता को कहला भेजा— मै तभी अन्न-जल स्वीकार करूँगा, जब मेरा विवाह नट-कन्या के साथ होना निश्चित हो जाय।" पिता ने पुत्र को वहुत समझाया लेकिन उसने एक भी वात नहीं मानी। अन्तत उसके पिता ने नट को बुलाया और उससे कहा— "मेरा पुत्र तुम्हारी कन्या से विवाह करना चाहता है। तुम उसकी शादी मेरे लडके के साथ मे कर दो। इसके वदले मे मैं तुम्हे इतना अधिक धन दूँगा कि तुम्हारी सारी दरिद्रता दूर हो जायगी।"

नट ने कहा— सेठ ! मैं अपनी पुत्री को वेचना नहीं चाहता। अगर वह मेरी पुत्री से विवाह करना चाहता है, तो वह स्वय नट बने तथा नाट्य-कला मे प्रवीण होकर, राजा को प्रसन्न कर धन प्राप्त करे, तो मैं अपनी पुत्री उसे दूं

सकता हूँ। एलाची कुमार ने यह बात स्वीकार कर ली। वह नटी के लिये माता-पिता, धन-दौलत आदि का त्याग क
नटी के साथ हो गया। उसने सुन्दर वस्त्रो को त्याग कर एक कच्छ पहन लिया। गले मे ढोल डाला, पीठ प
वस्त्रादिक की गठरी लटका ली, एक कन्धे पर बाँस रखा और दूसरे कन्धे पर सामान की काँवर। इस तरह व
नट के वेश मे उस दल के साथ गाँव-गाँव मे भटकने लगा। नटों के साथ उसने अल्पकाल मे ही नाट्य-कला मे कुशलत
प्राप्त कर ली। इधर उस नट की पुत्री भी उसका सौन्दर्य व त्याग देख कर मन ही मन उसपर मुग्ध हो रही थी
परन्तु माता-पिता की आज्ञा प्राप्त किये बिना अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती थी।

कुछ दिनों के बाद नट ने जब देखा कि एलाची कुमार नाट्य-कला मे प्रवीण हो तो गया है, उसने कहा—"अ
आप समस्त नाटक मण्डली व साज-सामान लेकर बेनातट नगर जाइये और वहाँ के राजा को प्रसन्न कर अधिक से अधि
धन ले आइये। उस धन से मैं अपने जाति-बन्धुओं को सन्तुष्ट कर अपनी पुत्री के साथ आपका विवाह कर दूँगा।"

नटराज के ये वचन सुनकर एलाची कुमार बडा प्रसन्न हुआ और वह उसी दिन नट-पुत्री के साथ नाटक-मण्डल
को लेकर बेनातट नगर की ओर रवाना हुआ।

बेनातट पहुँचते ही सर्वप्रथम उसने राजा से मुलाकात की तथा उनसे नाटक देखने की प्रार्थना की। राजा
उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। राजा के महल के सामने एक बहुत बडा मैदान था। वहीं पर खेल दिखाना निश्चि
हुआ। राजा द्वारा आश्वासन पाकर एलाची ने नाटक दिखाने की तैयारी कर ली। उसने मैदान मे बाँस गाडकर चार
ओर रस्सियाँ बाँध दीं। राजा भी अपने मंत्री व स्वजनों के साथ खेल देखने के लिये सिंहासन पर बैठ गया।

यथा समय एलाची ने खेल दिखाना शुरू किया। उसने सर्वप्रथम उस बाँस पर एक तख्ता रखवाया। उस तख्
के मध्य भाग मे एक कील गडी हुई थी। उसने उस कील पर सुपारी रखी। इसके बाद दोनों पैरो मे घूँघर बाँध, खडाउ
पहन, एक हाथ मे तलवार व दूसरे हाथ मे ढाल लेकर, वह उस बाँस पर चढा। वहाँ उस सुपारी पर अपनी नाभि रखक
कुम्हार की चाक की तरह चारों ओर घूमने लगा। घूमते समय वह तलवार व ढाल के भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल भ
दिखाता जाता था। इधर नट-कन्या भी सुन्दर वस्त्रो से सज्जित हो मधुर गीत गाती हुई नृत्य कर रही थी। उसके अन्
साथी तरह-तरह के बाजे व ढोल बजाकर नाटक मे रग ला रहे थे। जनता नाटक देखकर मुग्ध हो रही थी। वाह! वाह
के उत्साहवर्द्धक शब्द समवेत जनता के मुख से निकल रहे थे। इधर राजा नटी के हाव-भाव, व रूप यौवन तथा कल
को देखकर मुग्ध हो गया और सोचने लगा—"यदि यह नटी मेरे अन्तःपुर मे आ जाय, तो मेरा जीवन धन्य हो जाय
किन्तु इस नट के जीवित रहते मेरी अभिलाषा पूरी कैसे हो सकती है? इस नट-कन्या के बिना तो मेरा जीना ही व्यर्थ है
इसे तो किसी न किसी उपाय से प्राप्त करना ही होगा। हाँ! यदि यह नट खेल दिखाते-दिखाते बाँस से गिर कर मर
जाय तो यह नटी मुझे आसानी से मिल सकती है।" अब राजा मन मे यही सोचने लगा कि नट किसी तरह गिरकर म
जाय और मै नटी को प्राप्त कर लूँ।

भी वह नटी के सौंदर्य के कारण बाँस पर चढा तथा उसने नाना प्रकार के खेल दिखाए। इस बार भी दर्शकों को पूर्ण सन्तोष हुआ। खेल समाप्त हुआ। एलाची कुमार ने नीचे उतर कर राजा को प्रणाम किया और इनाम की आशा से सामने खडा होगया। राजा मन मे सोचने लगा—"यह तो इस बार भी कुशल पूर्वक नीचे उतर आया है। मेरी तो इच्छा पूर्ण नहीं हुई। इसके जीवित रहते मैं नटी को कैसे पा सकता हू ? इसलिए इसको पुन. खेल दिखलाने के लिए कहना चाहिए।" इस प्रकार विचार कर राजा ने पूर्ववत् जवाब दिया और फिर से खेल दिखाने का आग्रह किया। राजा के इस प्रकार के वचनों को सुनकर राजा के प्रति लोगों के मन मे शंका उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे कि राजा तो नटी के रूप पर मुग्ध हो गया है और नटराज की मृत्यु चाहता है। इसलिए बार-बार राज्य की चिन्ता का बहाना बना कर खेल दिखाने का आग्रह करता है।

एलाची ने नटी पाने की इच्छा से पुन. खेल दिखाया और कुशल क्षेम पूर्वक नीचे उतर आया।

राजा इससे बहुत लज्जित हुआ। उसकी मन की इच्छा मन मे ही रह गई। वह चिंता मे पड गया—उस नट से क्या कहू और किस बहाने उसे बाँस पर चढाऊँ। अन्त मे उसकी दुर्वासना ने जोर मारा। उसने फिर धृष्टतापूर्वक कहा—"नटराज अभी मुझे पूरा सन्तोष नहीं हुआ है। पुन एक बार तुम्हारा खेल देखना चाहता हू। इस बार तुम्हें अवश्य ही इनाम दूगा।" राजा की बात को सुनकर नटराज निरूत्साहित हो उठा। नटी उसके भाव को ताड गई। उसने पुन एलाची कुमार को उत्साहित किया। अपनी प्रियतमा का प्रोत्साहन पाकर वह पुन बाँस पर चढा और तरह-तरह के खेल दिखाने लगा।

ठीक इसी समय कोई तपस्वी मुनिराज आहार के लिए पास के किसी धनिक सेठ के घर पहुचे। सेठ की पत्नी अत्यन्त रूपवती थी। वह उस समय घर मे अकेली थी। वह श्राविका थी, इसलिए मुनिराज को आते देखकर कुछ कदम आगे बढकर उसने उनका स्वागत किया और बड़े आदर पूर्वक अन्दर ले आई। मोदक का थाल अन्दर से लाकर साधु को बडी श्रद्धा पूर्वक दान करने लगी। मुनिराज बडे समतावान थे। मुनि की दृष्टि नीचे की ओर थी। उन्होंने भूलकर भी अपनी नजर ऊपर नहीं की। इस दृश्य को देखकर एलाची कुमार के हृदय पर बडा गहरा प्रभाव पडा। वह अपने मन मे कहने लगा,—"अहो! अप्सरा के समान रूपवती रमणी हाथ मे लड्डुओं का थाल लेकर अकेली सामने खडी है, फिर भी धन्य हैं ये मुनिराज जो आँख उठाकर भी उसके सामने नहीं देखते। ये भी एक मानव हैं जिनका हृदय सुन्दर रमणी को देखकर व एकान्त मे पाकर भी विचलित नहीं होता और मैं भी एक मनुष्य हूं, जो स्त्री के लिए वैभव त्यागकर दर-दर की ठोकरें खा रहा हू। यदि इस वक्त मैं गिर पडूं और नटी का ध्यान करते हुए मर जाऊं तो मुझे मर कर अवश्य दुर्गति का द्वार देखना पड़ेगा।"

इधर राजा के मन मे भी सद् विचार आये और उसको भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। राजा की रानी व नटी के भी परिणाम शुद्ध होने लगे और ससार-स्वरूप को विचार करते-करते उन्हें भी केवलज्ञान प्राप्त हुआ। इन केवलियों का उपदेश पाकर अनेक लोगों ने श्रावक-व्रत, साधु-व्रत स्वीकार किये और अन्त मे सिद्ध गति को प्राप्त कर अनन्त सुखी बने।

★

मणिरथ-मदनरेखा [1]

[इसका सबध ढाल ५ गाथा १३ (पृ० ३१) के साथ है]

अवंति जनपद मे सुदर्शन नामक एक नगर था। वहाँ मणिरथ नामक राजा था। युगबाहु नामक उसका एक छोटा भाई युवराज था। युगबाहु की पत्नी मदनरेखा थी। वह अतीव सुन्दर और परम-श्राविका थी। एक दिन मणिरथ की दृष्टि मदनरेखा पर पडी। उसके अनिंद्य रूप-लावण्य को देखकर वह मुग्ध हो गया। उसका रूप उसके मस्तिष्क मे चक्कर काटने लगा। उसने उसके प्रेम को किसी भी मूल्य पर प्राप्त करने का निश्चय किया। इस विचार से उसने मदनरेखा के घर बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषण भेजना शुरू किया। वह भी विशुद्ध भाव से जेठ की भेजी हुई नाना प्रकार की बहुमूल्य सामग्रियो को स्वीकार कर लेती। उसे यह भान तक नहीं था कि मणिरथ जो वस्तुएं भेजता है, उसके पीछे उसकी कुत्सित वासना काम कर रही है।

मदनरेखा विशुद्ध भावना से ही उन वस्तुओं को अंगीकार करती थी, किन्तु मणिरथ समझने लगा कि वह भी उससे प्यार करने लगी है।

एक दिन मौका पाकर उसने दासी के द्वारा मदनरेखा को कहलाया—"मालव सम्राट् मणिरथ तुमसे प्रेम करता है। वह तुम्हारे रूप-यौवन पर अपना समस्त साम्राज्य तुम्हारे चरणों मे रखने को तैयार है। तुम्हें जो सुख चाहिए वह युगबाहु से नहीं मिलता। वह सुख तुम मणिरथ की हृदय साम्राज्ञी बनने पर प्राप्त कर सकोगी।"

यह सन्देश सुनकर मदनरेखा स्तब्ध हो गई। मणिरथ की स्वार्थपर्ण घृणित भावना का अब उसे पता लगा। उसने दासी से कहा—"दुष्टे। आज तूने ऐसी बात कही है। यदि भविष्य मे ऐसा कहा तो तेरी जीभ निकलवा दूंगी। जा। मणिरथ से कह दे कि मदनरेखा तुम्हारे इस छोटे से साम्राज्य से तो क्या, बल्कि तीन लोकों के वैभव से भी अपने शील-व्रत से विचलित नहीं हो सकती। आप सम्राट् है। आपके लिए ऐसी अनीति शोभा नहीं देती। आपसे प्रेम तो दूर रहा बल्कि वह आप को देखना भी पाप समझती है।"

दासी ने वहाँ से मणिरथ के पास आकर सर्व वृत्तान्त कह सुनाया। मणिरथ अपनी असफलता पर मन ही मन झुंझलाने लगा। उसने सोचा—युगबाहु के रहते मदनरेखा का प्रेम पाना असभव है। अत इस कांटे को हटाकर ही मैं मदनरेखा के प्रेम को प्राप्त कर सकता हू। इस तरह कामुक-भावना के वशीभूत होकर वह अपने भाई की हत्या का अवसर ढूंढने लगा।

देखकर वह घबडा गई। उसने अपने आप को सँभाला, और सोचा—"यह समय शोक करने का नहीं है। जो भावी था वह हो गया। अब मेरा कर्तव्य है कि मैं पतिदेव को धैर्य दू। उनका शरीर समाधि पूर्वक छूटे, ऐसा प्रयत्न करूँ।" युगबाहु के सिर को अपनी गोद मे लेकर वह उन्हे समझाने लगी। उसने पति को उस भाई के प्रति द्वेष व पत्नी के प्रति मोह न रखने का उपदेश दिया। युगबाहु पर पत्नी के उपदेशो का असर हुआ। शान्तभाव से समाधिपूर्वक देह का विसर्जन कर वह देवलोक मे उत्पन्न हुआ।

मदनरेखा ने सोचा—"अब इस राज्य मे रहना खतरे से खाली नहीं है। मणिरथ मुझ पर बलात्कार करने का प्रयत्न कर सकता है। वह मुझे भ्रष्ट करने का प्रयत्न करेगा। इससे अच्छा होगा कि कहीं दूर चली जाऊँ।" ऐसा सोचकर वह वहाँ से निकल पडी। वह गर्भवती थी। रास्ते मे उसे घोर वन का सामना करना पडा, जहाँ आदमी की छाया तक का भी निशान नहीं था। वह एक वृक्ष के नीचे आराम करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे प्रसव पीडा होने लगी और पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उस नवजात शिशु को कोमल पत्तो पर सुला, उसकी उँगली मे अपने नाम की मुद्रा डाल कर, वह अशुचि निवारणार्थ नदी किनारे पहुंची। उधर एक मदोन्मत्त हाथी ने मदनरेखा को सूँड मे पकड कर आकाश मे उछाल दिया। आकाश मार्ग से एक मणिप्रभ नामक विद्याधर अपने विमान मे बैठा चला जा रहा था। अनिंद्य सुन्दरी मदनरेखा को देख, उसने उसको अपने विमान मे बैठा लिया। उसके रूप को देखकर वह मुग्ध हो गया। वह विमान को वापस लौटाने लगा। मदनरेखा ने पूछा—"आप तो इधर जा रहे थे। आपने विमान को वापस क्यों लौटाया?" देव ने कहा—"मै अपने पिता, जो साधु हैं, उनके दर्शन करने जा रहा था, किन्तु तुम जैसी रूप यौवनसम्पन्ना, रूपवती स्त्री को पाकर मै वापस लौट रहा हू। तुम्हे घर पहुँचा कर मै वापस चला जाऊँगा।" मदनरेखा ने कहा—"मै भी साधु दर्शन की इच्छा रखती हू। अत मुझे भी दर्शन करवा दीजिये।" मणिप्रभा ने स्वीकार कर लिया और अपना विमान घुमा दिया। थोडे समय मे ही वह विमान मणिचूड मुनि के पास पहुँचा। मुनि मणिचूड ने उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर मणिप्रभ ने मदनरेखा के प्रति अपनी भावना बदल दी और उसे अपनी बहिन की तरह देखने लगा। मुनि से मदनरेखा ने पूछा—"मै जंगल मे अपने पुत्र को छोड कर आई उसका क्या हुआ?" मुनि ने कहा—"उसको मिथिला के पद्मरथ राजा, जो घूमने के लिये आये थे, ले गये है।" यह सुन कर मदनरेखा निश्चिन्त हो गई और दीक्षा लेकर उसने आत्म-कल्याण किया।

राजकुमार अरणक

[इसका सवन्ध ढाल ५ गाथा १४ (पृ० ३१) के साथ है]

एक समय भगवान् ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए किसी बड़े नगर मे पहुँचे। भगवान् का आगमन सुनकर नगर की जनता उनकी वाणी सुनने के लिये उद्यान मे पहुची। वहाँ का राजा अपनी रानी व राजकुमार अरणक को लेकर भगवान् के समवशरण मे पहुचा। भगवान् ने महती सभा मे उपदेश दिया। उनका उपदेश सुनकर राजा व राजकुमार अरणक के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न हो गया और उन्होने समस्त राज्य का परित्याग कर भगवान् के पास दीक्षा ले ली। पिता-पुत्र ने स्थिवरों की सेवा मे रहकर सूत्रो का अध्ययन किया। अव भगवान् की आज्ञा से पिता-पुत्र स्वतंत्र रूप से विहार करते हुए संयम की आराधना करने लगे। पिता अपने छोटे लाडले पुत्र अरणक को कभी भी भिक्षा के लिए वाहर नहीं भेजता था। वह स्वत गोचरी लाकर वालमुनि की सेवा किया करता था। उसे किसी भी वात का कष्ट न हो, उसका वह पूरा-पूरा ध्यान रखता था। कुछ समय पश्चात् अरणक मुनि के पिता का स्वर्गवास हो गया और वे अव अकेले हो गये। जव तक तो पिता की छत्र-छाया मे उन्हें किसी भी प्रकार के कष्ट का भान नहीं हुआ था, लेकिन अव उन्हे कडकडाती धूप मे आहार के लिये नंगे पैर जाना पडता था।

एक दिन वे तेज धूप मे आहार के लिए निकले। पैर जल रहे थे। लू जोरों से चल रही थी। सूर्य की किरणें आग उगल रही थीं। साधु अरणक धूप से घवरा गया और विश्राम के लिए एक भव्य प्रसाद की छाया मे खडा हो गया। प्यास के कारण गला सूख रहा था। उस प्रासाद की खिडकी मे एक युवा स्त्री बैठी थी। उसके अंग-अंग से यौवन व मादकता फूट रही थी। उसका पति परदेश गया हुआ था। इसलिए वह काम-बाण से पीडित थी। अरणक मुनि की अलौकिक सुन्दरता को देख कर वह मुग्ध हो गई। उसने दासी के द्वारा मुनि को अपने महल मे बुला लिया और हाव-भाव व नयन-कटाक्षों से मुनि को अपने वश मे कर लिया। मुनि उसी सुन्दरी के यहाँ रहने लगे।

अरणक मुनि गृहस्थ वन गया और उसके साथ सुखोपभोग करते हुए जीवन-यापन करने लगा। इधर साधुओं मे अरणक की खोज होने लगी। लेकिन उसका कहीं भी पता न लगा। अरणक के गायब होने की खबर उसकी माता तक पहुंची। माता घबडा गई और अपने पुत्र की खोज के लिए निकल पडी। वह गांव गांव की धूल छानने लगी। जगह-जगह पूछती फिरती कि कहीं किसी ने उसके प्यारे पुत्र को देखा है क्या? बुढापे के कारण शरीर शिथिल हो रहा था। आंखो से कम दिखाई देता था, फिर भी दिल मे उत्साह था कि कहीं मिल जायगा। आखिर मातृ-स्नेह के कारण वह पागल सी हो गयी थी। 'अरणक अरणक' पुकारती वह एक विशाल-भवन के नीचे धूप से घबरा कर खडी हो गई। ऊपर खिडकी मे अरणक अपनी प्रेयसी से बातें कर रहा था। 'अरणक' अरणक की आवाज अचानक उसके कानों मे पडी। आवाज चिरपरिचित सी मालूम दे रही थी। उसने नीचे की ओर नजर कर देखा तो आश्चर्य चकित हो गया। वह आवाज और किसी की न होकर उसकी माता की ही थी। उसे अचानक महल के नीचे देखकर वह नीचे आया और [illegible] से उसके चरणों मे गिर पडा। पुत्र को देखकर माता के हृदय का कोई ठिकाना न रहा। स्नेह से उसने पुत्र के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा— बेटा! तू कहाँ चला गया था? [illegible] [illegible] माता के [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ने उसने [illegible] [illegible] न रहा— [illegible]

की आँखों से आंसू बहने लगे। माता ने आंसू पोंछते हुए, पुत्र से कहा—"बेटा। मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि चारित्र पालन करना तलवार की धार पर चलने के समान है। चारित्र बडा भारी रत्न है। तूने उसे मिट्टी मे मिला दिया। हाथ मे आया हुआ चिन्तामणि रत्न गवां बैठा।"

माता के वचन अरणक के हृदय मे तीर की तरह चुभ गये। उसे बडी ग्लानि हुई। वह मन ही मन अपने आपको धिक्कारने लगा। माता ने पुत्र को अपराध अनुभव करते देख तथा पश्चाताप की भट्ठी मे सुलगते देखकर कहा—'बेटा जो होना था सो हो गया। अब पाप के बदले प्रायश्चित्त करो ताकि तुम्हारी आत्मा पुनः उज्ज्वल बन सके।" माता ने पुत्र को पुनः गुरुदेव की सेवा मे उपस्थित किया। गुरुदेव ने उसे फिर से दीक्षित किया। अरणक ने पुन दीक्षा लेकर अपने जीवन को धन्य बना दिया।

एक दिन अरणक ने गुरुदेव से कहा—"हे गुरुदेव। जिस धूप ने मेरा पतन किया, उसीसे मैं अपनी आत्मा का उत्थान करना चाहता हूं।" ऐसा कहकर उसने ग्रीष्म ऋतु की कड़कड़ाती धूप मे जलती हुई शिलापट्ट पर अपनी देह रख अनशन कर लिया और समभाव से अपनी आत्मा को भावित करता हुआ समाधि-मरण कर देवलोक को प्राप्त हुआ।

कथा—२५ .

जिनरिख-जिनपाल '

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १० (पृ० ४१) के साथ है]

चम्पानगरी मे माकन्दी नामका सार्थवाह रहता था। उसके जिनरिख और जिनपाल नामक दो पुत्र थे। उन दोनों भाइयों ने ग्यारह बार लवण समुद्र मे यात्रा कर बहुत-सा धन कमाया। माता-पिता के मना करने पर भी वे दोनों समुद्र मे बारहवीं बार यात्रा करने के लिए रवाना हुए। समुद्र के बीच मे जहाज तूफान से नष्ट हो गया। जहाज की टूटी हुई पतवार उन दोनों भाइयों के हाथ लगी। उस पर बैठ कर दोनों तैरते हुए रत्न द्वीप मे जा पहुंचे। उस द्वीप की स्वामिनी रयणा देवी ने उन्हें देखा। वह कहने लगी 'तुम दोनों मेरे साथ काम भोगों को भोगते हुए यहीं रहो, अन्यथा मैं तुम्हें मार दूंगी।" इस प्रकार देवी के भयप्रद वचनों को सुनकर दोनों भाइयों ने उसकी बात स्वीकार कर ली और उसके साथ काम भोग भोगते हुए रहने लगे।

एक समय लवण समुद्र के अधिष्ठायक सुस्थित देव ने रयणा देवी को लवण समुद्र की इक्कीस बार परिक्रमा करके तृण, पर्ण, काष्ठ, कचरा, अशुचि आदि को साफ करने की आज्ञा दी। उस देवी ने दोनों भाइयों से कहा—देवानुप्रियो। जब तक मैं वापस लौटकर आऊं तबतक तुम यहीं पर आनन्द पूर्वक रहो। यदि इच्छा हो तो पूर्व और उत्तर दिशा के वनखण्ड मे जा सकते हो, किन्तु दक्षिण दिशा की तरफ मत जाना। वहा पर एक भयंकर विषधर सर्प रहता है, जो तुम्हारा विनाश कर डालेगा।" यह कह देवी चली गई।

दोनों भाई पूर्व, पश्चिम, उत्तर दिशा के वन खण्डों मे घूमते रहे। एक दिन उनकी दक्षिण दिशा की तरफ भी जाने की इच्छा हुई और वे दोनों उस दिशा की ओर निकल पडे। कुछ दूर जानेपर उस दिशा से भयंकर दुर्गन्ध आने

१—ज्ञाता सूत्र ९ वें अध्ययन के आधार पर

लगी। उन्होंने आगे जाकर देखा तो सैकडो मनुष्यो की हड्डियाँ एवं खोपडियो का ढेर लगा हुआ था। पास मे शूली पर लटकता हुआ एक पुरुष कराह रहा था। यह हाल देख दोनो भाई घवरा गये और शूली पर लटकते हुए पुरुष से सारा वृत्तान्त पूछा। उसने कहा—"मैं भी तुम्हारी ही तरह जहाज के टूट जाने पर यहाँ आ पहुँचा था। मैं काकन्दी नगरी का रहनेवाला घोडों का व्यापारी हूं। पहले देवी मेरे साथ भोग भोगती रही। एक समय एक छोटे से अपराध के हो जाने पर कुपित होकर इसने मुझे यह दण्ड दिया है। न मालूम यह देवी तुम्हें किस समय और किस ढंग से मार देगी। इसने पहले भी कई मनुष्यों को मार कर यह हड्डियो का ढेर कर रखा है।" दोनो भाइयो ने जब शूली पर लटकते हुए पुरुष की ये वातें सुनी तो वे त्राण का उपाय पूछने लगे। उस पुरुष ने कहा "पूर्व दिशा के वन खण्ड मे शैलक नामका एक यक्ष रहता है। उसकी पूजा करने से वह प्रसन्न होकर तुम्हें देवी के फन्दे से छुडा देगा।" यह सुनकर दोनों भाई यक्ष के पास आकर उसकी स्तुति करने लगे और देवी के फन्दे से छुटकारा पाने की प्रार्थना करने लगे।

यक्ष उनकी स्तुति से प्रसन्न हुआ और वोला—"तुम निर्भय रहो। मैं तुम्हें इच्छित स्थान पर पहुँचा दूगा। किन्तु मार्ग मे देवी आकर अनेक प्रकार के हाव-भाव करके अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई परिषह-उपसर्ग देगी। यदि तुम उसके कहने मे आकर उस पर आसक्त हो जावोगे तो मै तुम्हें मार्ग मे ही समुद्र मे फेक दूगा।" यक्ष की इस शर्त को दोनो भाइयों ने मान लिया। यक्ष अश्व का रूप वना, दोनों भाइयो को अपनी पीठ पर विठला, आकाश मार्ग से चला।

इतने मे वह देवी आ पहुँची। देवी ने उनको वहाँ न देखा तो अवधि-ज्ञान से जान लिया कि वे दोनो भाई शैलक यक्ष के पीठ पर जा रहे हैं। वह शीघ्र वहाँ आई और अनेक प्रकार के हाव-भाव से अनुकूल प्रतिकूल वचन कहती हुई, करुण विलाप करने लगी। जिनपाल ने उसके वचन पर कोई ध्यान नहीं दिया। किन्तु जिनरिख उसके वचनो मे फॅस गया, वह उस पर मोहित होकर, प्रेम के साथ रयणा देवी को देखने लगा। जिससे यक्ष ने जिनरिख को अपनी पीठ से नीचे फेंक दिया। नीचे गिरते ही जिनरिख को रयणादेवी ने शूली मे पिरो दिया और वहुत कष्ट देकर उसे प्राणरहित करके समुद्र मे फेंक दिया।

जिनपाल देवी के वचनों मे नहीं फॅसा। इसलिए यक्ष ने आनन्द पूर्वक उसको चम्पा नगरी पहुचा दिया। वहाँ पहुच कर जिनपाल अपने माता-पिता से मिला। कई वर्षों तक सासारिक सुखों को भोग कर दीक्षा धारण की। वर्षों तक सयम पालनकर वह सौधर्म देवलोक मे गया, वहाँ से महाविदेह मे जन्म लेकर सिद्ध-पद को प्राप्त करेगा।

★

कथा—२६

विष मिश्रित छाछ

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १३ (पृ० ४२) के साथ है]

चार व्यापारी थे। वे बाहर घूम घूम कर व्यापार करते थे। किसी समय एक गाँव मे पहुचे। वहाँ एक वृद्धा रहती थी। वह बाहर के लोगों को खाना और निवास देती थी और उसीसे वह अपनी आजीविका चलाती थी। वे चारों व्यापारी उसी वृद्धा के यहाँ पहुँचे और रात्रि का निवास भी उसीके यहाँ रक्खा। व्यापारियों को जाने की जल्दी थी, अत सूर्योदय के पूर्व ही भोजन बनाने के लिए कहा। वृद्धा रात्रि मे जल्दी उठी और अन्धेरे मे दही को एक हाँडी मे डाल उसको मथने लगी। जिस बरतन मे वह दही मथ रही थी उसमे पहले ही से एक काला सर्प बैठा हुआ था। बुढिया ने ध्यान नहीं दिया और दही के साथ उसे भी मथ डाला। सारी छाछ विषमयी हो गयी। वृद्धा ने व्यापारियों को भोजन करा उन्हे विषमयी छाछ पीने के लिए दे दी। व्यापारियों ने वह छाछ पी ली और वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

प्रात हुआ। अब बुढिया ने खाने के लिए बर्तन मे से छाछ निकाली और देखा तो उसमे साँप के टुकडे नजर आये। वह स्तब्ध हो गई। सोचा वे बिचारे व्यापारी इस विषमयी छाछ को पीकर अवश्य मर गये होगे। उसे बहुत पश्चाताप हुआ।

कालान्तर मे वे व्यापारी घूमते घूमते पुन उसी गाँव मे उसी वृद्धा के यहाँ आये। वृद्धा ने उनको देखा और बहुत आश्चर्य चकित हो गई। वृद्धा ने कहा—"आप लोग जीवित है, यह जानकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मै तो यह दिन रात सोचती थी कि मेरी गलती से आप लोग अवश्य ही मर गये होगे। किन्तु अचानक आप लोगो को जीवित देखकर मुझे बडा आनन्द हो रहा है।" वृद्धा की बात सुनकर व्यापारी कहने लगे—'माँ जी। आप यह क्या कह रही है? हम लोग आपकी बात का कुछ भी मतलब नहीं समझ सके।" तब वृद्धा ने कहा—'बेटा। आप लोग कुछ दिन पूर्व जब मेरे यहाँ ठहरे थे तब मैने आप को मट्ठा पिलाया था। उसमे एक काला साँप मरा हुआ था। वह छाछ साँप के जहर वाली थी उसे पीकर भी आप जीवित है बस इसी का मुझे आश्चर्य है।" वृद्धा की बाते सुनते ही चारों व्यापारी चौक पडे। सर्प के जहर पीने की बात बार-बार उन्हें याद आने लगी। उनको अपने प्राण सकट मे दिखाई देने लगे। मन की जो स्थिति हुई उससे उनके शरीर मे विष व्याप्त हो गया और वे चारों मृत्यु को प्राप्त हुए।

★

कथा—२७ :

सर्पदंश

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १२ (पृ० ४२) के साथ है]

किसी ग्राम मे दो भाई रहते थे। वे किसान थे। एक दिन वे घास काटने के लिये खेत मे गये। बडा भाई एक वृक्ष की छाया में आराम करने लगा और छोटा घास काटने में लग गया। घास में से एक सर्प निकला और उसने उस छोटे भाई को डॅस लिया। वह घास काटने में इतना तल्लीन था कि उसे इसका कुछ भी पता न चला। बडा भाई वृक्ष के तले से यह दृश्य देख रहा था।

कुछ समय के बाद, घास काट चुकने पर, छोटा भाई भी वृक्ष की छाया मे आराम करने के लिये आया और घास का गट्ठर रखकर बैठ गया। उसके पैर से खून बह रहा था। बड़े भाई ने उससे खून बहने का कारण पूछा। उसने कहा, "भाई। मुझे कुछ भी मालूम नहीं। सम्भव है कि किसी जन्तु ने काट लिया हो, या खरोंच आ गयी हो।" बडे भाई ने सर्पदंश की बात उससे छिपा ली। वे दोनो घर लौट आये और सुखपूर्वक निवास करने लगे।

कालान्तर मे, एक दिन दोनों घर पर बैठे, बडे आनन्द से, गप्पें लडा रहे थे। बातो ही बातो में बडे भाई ने छोटे भाई से सर्पदंश की घटना कही। छोटा भाई घबरा गया और वह बारम्बार सर्प-दंश का स्मरण करने लगा। वह इस घटना से इतना चिन्तित हो गया कि वह मूर्च्छित होकर गिर पडा और तत्क्षण उसकी मृत्यु हो गयी।

जब तक किसान को सर्प-दंश की जानकारी न थी, वह स्वस्थ था, परन्तु ज्योंही उससे सर्प-दंश की बात कही गयी त्योंही उसका शरीर विष से व्याप्त हो गया और वह मृत्यु को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार भुक्त काम भोगों के स्मरण करने से वासना रूपी विष शरीर में व्याप्त हो जाता है और ब्रह्मचर्य का भङ्ग हो जाता है।

कथा—२८ .

भूदेव ब्राह्मण [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा २ (पृ० [illegible]) के साथ है]

एक समय पूर्व परिचित भूदेव नामक ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती से आग्रह किया कि आप जो भोजन करते हैं, वह भोजन एक दिन हमें भी करवाया जाय।

ब्राह्मण का अत्यधिक आग्रह देख चक्रवर्ती ने समस्त ब्राह्मण परिवार को खीर का भोजन करवाया। [illegible] भोजन [illegible] उन्माद बढ़ गया और उसने रात्रि में स्त्री, पुत्री, बहन व माता के साथ अकार्य किया। [illegible] उन्माद उतरा तो [illegible] बहुत पश्चात्ताप हुआ। अतः ब्रह्मचारी को कामोत्तेजक [illegible] भोजन का सेवन नहीं करना चाहिए।

[1] [illegible]

कथा—२९ :

आचार्य मंगू [1]

[इसका सम्बन्ध ढाल ७ गाथा १० (पृ० ४७) के साथ है]

एक समय मंगू नामक आचार्य मथुरा नगर मे पधारे। वहाँ के श्रावक धर्मनिष्ठ एवं मुनियो के प्रति अगाध श्रद्धालु थे। आचार्य मंगू पूर्ण विद्वान थे। उनकी वाणी में सरस्वती निवास करती थी। वे आचार-विचार मे सब तरह से उच्च थे। उन्होंने वहीं रहकर अध्ययन, पठन-पाठन शुरू कर दिया। आचार्य के आचार और व्यवहार से श्रावकगण अत्यन्त प्रभावित थे। वे भक्तिवश उनकी भरपूर सेवा करते और उन्हें नित्य सरस आहार तथा विविध प्रकार के पकवान दिया करते थे। आचार्य मंगू की रस-गृद्धि बढ गई। वे सोचने लगे "अगर मैं अन्य छोटे बडे गावों मे विचरण करूंगा, तो ऐसा सरस आहार प्रतिदिन नहीं मिल सकेगा। यहाँ के श्रावक भी अत्यन्त श्रद्धालु है, मेरी अत्यधिक भक्ति करते है, अत मुझे यहीं रहना चाहिए।" ऐसा सोच वे स्थिर भाव से वहीं रहने लगे। गृहस्थो के साथ उनका परिचय और भी गाढा होता गया। नित्य सरस आहार सेवन से उनकी रस-गृद्धि बढने लगी। वे आचार को, यानी पवित्र साधु-जीवन को, भूल गए। साधु की नित्य क्रियाएँ छोड दीं। उन्हें यह भी अभिमान होने लगा कि मुझे सरस तथा अलभ्य मिष्टान्न रोज मिलते है। इस प्रकार वे रस गौरव से युक्त हो गए। अब वे सरस तथा विषय वर्द्धक आहार प्राप्ति के कारण मूलगुणों मे दोष लगाने लगे। चिरकाल तक सरस आहार का सेवन कर वे बिना आलोचना ही मरकर उसी नगर के यक्षालय मे यक्ष बने।

यक्ष ने विभग ज्ञान से पूर्व-भव देखा और बहुत पश्चाताप करने लगा। उसने सोचा, "मेरी स्वादलोलुपता ने ही आज मेरी ऐसी दुर्गति की है।"

वह यक्ष जब अपने पूर्वभव के शिष्य थंडिल को जाते हुए देखता तब उसे जिह्वा दिखाता। एक दिन साहस कर शिष्य ने यक्ष से पूछा तुम अपनी जिह्वा क्यो बाहर निकाल रहे हो?" यक्ष ने कहा "मैं तुम्हारा आचार्य मगू हूं। जिह्वा-स्वाद मे पडकर मेरी ऐसी दुर्गति हुई है। मैंने परमोच्च जिन-धर्म को पाकर भी रस-गृद्धि के कारण उसकी सम्यक् आराधना नहीं की। यही मेरी दुर्गति का एकमात्र कारण है। अत तुम सब भी परमोच्च जिनधर्म को प्राप्त कर स्वाद लंपट मत बनना। अगर तुम लोग भी जिह्वा के स्वादवश पथ-विचलित हुए तो मेरी तरह ही तुम्हारी भी दुर्गति होगी।" इस प्रकार शिष्यो को रस-गृद्धि का दुष्परिणाम बता वह यक्ष अदृश्य हो गया।

★

१—उपदेशमाला के आधार पर

राजर्षि शैलक [1]

[इसका सम्वन्ध ढाल ७ गाथा ११ (पृ० ४७) के साथ है]

उस समय शैलकपुर नाम का एक नगर था। वहाँ शैलक नाम का राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम पद्मावती और पुत्र का नाम मण्डूक था। उसके पंथक आदि पांच सौ मंत्री थे। वे चारो बुद्धि के निधान एवं राज्यधुरा के चिन्तक थे।

एक समय थावच्चा अनगार एक सहस्र शिष्य परिवार के साथ नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान में पधारे। जनता दर्शन करने को गई। महाराजा शैलक भी अपने पांच सौ मन्त्रियो के साथ दर्शन करने गया। अनगार का उपदेश सुन उसने पांच सौ मंत्रियो के साथ श्रावक के बारह व्रत ग्रहण किये। थावच्चा अनगार ने वहाँ से बाहर जनपद मे विहार कर दिया।

किसी समय थावच्चा अनगार के शिष्य शुक अनगार अपने सहस्र शिष्य परिवार के साथ शैलकपुर नगर पधारे। महाराजा शैलक भी मन्त्रियों के साथ उनका उपदेश सुनने गया। उपदेश सुनने के बाद शैलक महाराजा शुक अनगार से बोला—"भगवन्! मैं अपने पुत्र मण्डूक को राज्यगद्दी पर स्थापित कर आप के पास प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हू।" अनगार बोले—"राजन्! तुम्हें जैसे सुख हो वैसा करो।" महाराजा घर आया और पांच सौ मंत्रियो को बुला प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रगट की। मंत्रियों ने भी महाराजा शैलक के साथ दीक्षा लेने का निश्चय प्रकट किया। पश्चात् महाराजा शैलक ने अपने पुत्र को राजगद्दी पर स्थापित कर पांच सौ मंत्रियों के साथ शुक अनगार के पास दीक्षा ग्रहण की। शैलक राजर्षि ने सामायिकादि अंग उपागो का अध्ययन किया। शुक अनगार ने पांच सौ अनगारों को उन्हें शिष्य के रूप मे दे उन्हें स्वतंत्र विहार करने की आज्ञा दी। शैलक राजर्षि पंथक आदि पांच सौ अनगारों के साथ ग्रामानुग्राम विचरने लगे।

शैलक राजर्षि अंत, प्रांत, तुच्छ, लुक्ष, अरस, विरस, शीत, उष्ण, कालातिक्रान्त, प्रमाणातिक्रान्त आहार का नित्य सेवन करते। प्रकृति से सुकोमल एवं सुखोपचित होने के कारण ऐसे आहार से उनके शरीर मे उज्ज्वल, असह्य वेदना उत्पन्न करने वाले पित्तदाह, कण्डु-खुजली, ज्वर जैसे रोगातंक उत्पन्न हो गये। इससे उनका शरीर सूख गया।

वे ग्रामानुग्राम विचरण करते शैलकपुर नगर के बाहर सुभूमिभाग उद्यान मे पधारे। महाराजा मण्डूक भी अनगार के दर्शन करने के लिए उद्यान मे गया। वहाँ उन्हें वन्दना कर उनकी पर्युपासना करने लगा।

मण्डूक महाराज ने शैलक अनगार के शरीर को अत्यन्त सूखा हुआ एवं रोग से पीड़ित देखा। वह देखकर वह बोला—"भगवन्! मैं आप के शरीर को सरोग देख रहा हू। आपका सारा शरीर सूख गया है, अत मैं आपकी, योग्य चिकित्सकों से, साधु के योग्य औषध भेषज तथा उचित खान-पान द्वारा, चिकित्सा करवाना चाहता हूं। आप मेरी यान-शाला मे पधारें। वहाँ प्रासुक-एषणीय पीठ, फलक, शेय्या, संस्तारक ग्रहण कर ठहरें।" राजर्षि ने राजा की प्रार्थना स्वीकार की और दूसरे दिन प्रात पांच सौ अनगारो के समूह के साथ राजा की यान-शाला मे पधारे। वहाँ यथायोग्य [illegible] पीठ, फलक आदि को ग्रहण कर रहने लगे।

राजा मण्डूक ने चिकित्सकों को बुलाकर शैलक राजर्षि की चिकित्सा करने की आज्ञा दी। चिकित्सकों ने विविध प्रकार की चिकित्सा की। चिकित्सा और अच्छे खान-पान से उनका रोग शान्त हुआ और शरीर पुष्ट हृष्ट-पुष्ट हो गया।

१—ज्ञाता० १.५ के आधार से

रोग के शान्त होने पर भी शैलक राजर्षि विपुल अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य तथा मद्यपान मे मूर्च्छित, गृद्ध एवं तद्रूप अध्यवसाय वाले हो गये। अवसन्न, अवसन्न-विहारी, पार्श्वस्थ, पार्श्वस्थ-विहारी, कुशील, कुशील-विहारी, प्रमत्त, प्रमत्त-विहारी, संसक्त, संसक्त-विहारी एवं ऋतु-बद्ध (शेष काल मे भी पीठ, फलक, शैय्या संस्तारक को भोगने वाले) प्रमादी हो रहने लगे। इस तरह वे जनपद विहार से विहरने मे असमर्थ हो गये।

एक दिन पंथक अनगार के सिवा अन्य ४६६ अनगार एकत्र हो परस्पर इस प्रकार विचार करने लगे निश्चयत शैलक राजर्षि ने राज्य का परित्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण की है। किन्तु वे इस समय विपुल अशन, पान, खाद्य एवं मद्यपान मे आसक्त हो गये हैं। वे जनपद विहार भी नहीं करना चाहते। साधु को इस प्रकार प्रमत्त होकर रहना नहीं कल्पता। अत हमलोगों के लिए, प्रात होने पर शैलक राजर्षि की आज्ञा ले प्रातिहारिक पीठ, फलग आदि को वापिस कर पन्थक अनगार को उनके वैयावृत्य मे रख, विहार करना श्रेयस्कर है। इस प्रकार विचार कर प्रात शैलक की आज्ञा ले ४६६ अनगारों ने वाहर जनपद मे विहार कर दिया।

एक वार शैलक कार्तिक चातुर्मास के दिन विपुल अशन, पान, खाद्य, और स्वाद्य का आहार और भरपूर मद्यपान कर पूर्वाह्न के समय सुखपूर्वक सो गये।

पन्थक अनगार ने चातुर्मासिक कार्योत्सर्ग कर दिवस सम्बन्धी प्रतिक्रमण और चातुर्मासिक प्रतिक्रमण की इच्छा से शैलक राजर्षि को खमाने के लिए अपने मस्तक से उनके चरणो का स्पर्श किया। शैलक पन्थक अनगार के पाद-स्पर्श से अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और बोले—“किस निर्लज्ज ने मेरा पाद-स्पर्श किया है ?”

पन्थक विनय पूर्वक बोला—“भगवन्। मैं पन्थक हू। मैंने चातुर्मासिक प्रतिक्रमण मे आप देवानुप्रिय को खमाने के लिए मस्तक से आपके चरण-स्पर्श किये हैं। आप मुझे क्षमा करें। मैं पुन ऐसा अपराध नहीं करूंगा।”

पन्थक अनगार की बातें सुन शैलक राजर्षि के मन मे इस प्रकार का अध्यवसाय उत्पन्न हुआ—"मैं राज्य का परित्याग कर अनगार बना हू। मुझे अवसन्न-विहारी, पार्श्वस्थ-विहारी बनकर रहना नहीं कल्पता। अत मैं प्रात मण्डूक राजा से पूछकर विहार कर दूगा।”

शैलक राजर्षि ने प्रात पन्थक अनगार को साथ ले विहार कर दिया।

अन्य अनगारो ने जब यह सुना कि शैलक राजर्षि ने जनपद विहार किया है तो वे भी आकर उनसे मिल गये और उनकी पर्युपासना करने लगे।

★

पुण्डरीक-कुण्डरीक कथा [1]

[इसका सम्वन्ध ढाल ९ गाथा ३६ (पृ० ५६) के साथ है]

पूर्व महाविदेह के पुष्पकलावती विजय मे पुण्डरीकिनी नामक नगरी थी। उसमे महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसके पुण्डरीक और कुण्डरीक नाम के दो पुत्र थे। महापद्म ने अपने ज्येष्ठ पुत्र कुण्डरीक को राजगद्दी पर वेठाकर पुण्डरीक को युवराज वनाया और स्वयं धर्मघोष आचार्य से प्रव्रज्या ग्रहण कर तप संयम मे विचरने लगे।

एक समय महापद्म मुनि विचरण करते हुए पुण्डरीक नगर मे पधारे। उनकी वाणी सुनकर पुण्डरीक ने श्रावक के वारह व्रत धारण किये और कुण्डरीक ने दीक्षा ग्रहण कर ली। कुण्डरीक मुनि ग्रामानुग्राम विहार करने लगे। अन्तप्रान्त और रूक्ष आहार करने से उनके शरीर मे दाह ज्वर उत्पन्न हुआ। विहार करते हुए वे पुण्डरीक नगरी पधारे। पुण्डरीक राजा ने मुनि की चिकित्सा करवाई, जिससे पुन स्वस्थ हो गये। उनके स्वस्थ हो जाने पर साथवाले मुनि तो विहार कर गये किन्तु कुण्डरीक वहीं रह गए। उनके आचार-विचार मे शिथिलता आगई। यह देखकर पुण्डरीक राजा ने मुनि को समझाया। वहुत समझाने से मुनि वहाँ से विहार कर गये। कुछ समय तक स्थविरो के साथ विहार करते रहे किन्तु वाद मे शिथिल होकर पुन. अकेले हो गये और विहार करते हुए पुण्डरीक नगर आ गये। राजा ने मुनि को पुन समझाया किन्तु उन्होंने एक भी न सुनी और राजगद्दी लेकर भोग भोगने की इच्छा प्रकट की। पुण्डरीक ने कुण्डरीक के लिए राजगद्दी छोड दी और स्वयं पंच मुष्टि लोचकर प्रव्रज्या ग्रहण की। 'भगवान को वन्दन-नमस्कार के पश्चात ही म आहार पानी ग्रहण करूगा'—ऐसा कठोर अभिग्रह लेकर पुण्डरीक ने वहाँ से विहार किया। ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए भगवान् की सेवा मे पहुचे। उनके पास पहुच उन्होंने पंच महाव्रत ग्रहण किये। स्वाध्याय-ध्यान से निवृत्त होकर पुण्डरीक मुनि आहार के लिए निकले। ऊँच-नीच-मध्यम कुलो मे पर्यटन करते हुए निर्दोप आहार प्राप्त किया। आहार रूक्ष, अन्त प्रान्त होने पर भी उन्होंने उसे शान्त भाव से खाया जिससे उनके शरीर मे दाह-ज्वर की बीमारी हो गई। अर्ध-रात्रि के समय उनके शरीर मे तीव्र वेदना हुई। आत्म-आलोचना तथा प्रतिक्रमण कर उन्होंने संथारा ग्रहण किया। इस तरह वड़े शान्त भाव से उन्होंने देह को छोडा। मरकर वे सर्वार्थसिद्ध विमान मे उत्पन्न हुए। कालान्तर मे महाविदेह क्षेत्र मे जन्म लेकर सिद्ध गति को प्राप्त करेंगे।

उधर राजगद्दी पर वेठकर कुण्डरीक कामभोगो मे आसक्त होकर अति पुष्ट और कामोत्तेजक पदार्थो का अतिमात्रा मे सेवन करने लगा। वह आहार उसे पचा नही। अर्ध रात्रि के समय उसके भी शरीर मे तीव्र वेदना होने लगी। आर्त रौद्र ध्यान पूर्वक मरकर वह सातवीं नरक मे उत्पन्न हुआ। परिमाण से अधिक आहार करनेवाले की ऐसी ही अधोगति होती है। अत परिमाण से अधिक आहार नही करना चाहिए।

★

परिशिष्ट—ख

आगमिक आधार

बम्भचेरसमाहिठाणा

[उत्तराध्ययन अ० १६]

[इस ग्रंथ के प्रणेता आचार्य भिखणजी ने दो स्थलों पर स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि उनकी इस कृति का आधार उत्तराध्ययन का १६ वाँ अध्ययन ब्रह्मचर्यसमाधि स्थानक है। टिप्पणियों में इस अध्ययन के कतिपय अंश यथास्थान सानुवाद दिये गये हैं। पाठकों की जानकारी के लिए समूचा अध्ययन यहाँ उद्धृत किया जाता है।]

सुयं मे आउसं तेणं भगवया एवमक्खायं। इह खलु थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

कयरे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरसमाहिठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा।

इमे खलु ते थेरेहिं भगवन्तेहिं दस बम्भचेरठाणा पन्नत्ता जे भिक्खू सोच्चा निसम्म संजमबहुले संवरबहुले समाहिबहुले गुत्ते गुत्तिन्दिए गुत्तबम्भयारी सया अप्पमत्ते विहरेज्जा। तं जहा—विवित्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। नो इत्थीपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिन्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थिपसुपण्डगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्ता हवइ से निग्गन्थे॥ १॥

नो इत्थीणं कहं कहित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीणं कहं कहेमाणस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिन्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा नो इत्थीणं कहं कहेज्जा॥ २॥

नो इत्थीणं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागयस्स बम्भयारिस्स बम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिन्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीहिं सद्धिं सन्निसेज्जागए विहरेज्जा॥ ३॥

लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे इत्थीणं कुड्डन्तरंसि वा दूसन्तरंसि वा भित्तन्तरंसि वा कूइयसद्दं वा रुइयसद्द वा गीयसद्दं वा हसियसद्दं वा थणियसद्दं वा कन्दियसद्दं वा विलवियसद्दं वा सुणेमाणे विहरेज्जा ॥ ५ ॥

नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरमाणस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्माय वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पुव्वरयं पुव्वकीलियं अणुसरेज्जा ॥ ६ ॥

नो पणीयं आहारं आहरित्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु पणीयं आहार आहारेमाणस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे पणीयं आहारं आहारेज्जा ॥ ७ ॥

नो अइमायाए पाणभोयणं आहारेत्ता हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु अइमायाए पाणभोयणं आहारेमाणस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेद वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालिय वा रोयायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे अइमायाए पाणभोयणं आहारेज्जा ॥ ८ ॥॥

नो विभूसाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। विभूसावत्तिए विभूसिय सरीरे इत्थिजणस्स अभिलसणिज्जे हवइ। तओ णं इत्थिजणेणं अभिलसिज्जमाणस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो निग्गन्थे विभूसाणुवादी हविज्जा ॥ ९ ॥

नो सद्दरूवरसगन्धफासाणुवादी हवइ से निग्गन्थे। तं कहमिति चे। आयरियाह। निग्गन्थस्स खलु सद्दरूवगन्ध फासाणुवादिस्स वम्भयारिस्स वम्भचेरे संका वा कंखा वा विइगिच्छा वा समुपज्जिज्जा भेदं वा लभेज्जा उम्मायं वा पाउणिज्जा दीहकालियं वा रोगायंकं हवेज्जा केवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसेज्जा। तम्हा खलु नो सद्दरूवरसगन्ध-फासाणुवादी भवेज्जा से निग्गन्थे। दसमे वम्भचेरसमाहिठाणे हवइ ॥ १० ॥

भवन्ति इत्थ सिलोगा। तं जहा—

जं विवित्तमणाइण्णं रहियं इत्थिजणेण य।
वम्भचेरस्स रक्खट्ठा आलयं तु निसेवए ॥ १ ॥
मणपल्हायजणणी कामरागविवड्ढणी।
वम्भचेररओ भिक्खू थीकहं तु विवज्जए ॥ २ ॥
समं च संथवं थीहिं संकहं च अभिक्खणं।
वम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ३ ॥
अंगपच्चंग संठाणं चारुल्लवियपेहियं।
वम्भचेररओ थीणं चक्खुगिज्झं विवज्जए ॥ ४ ॥
कूइयं रूइयं गीयं हसियं थणियकन्दियं
वम्भचेररओ थीणं सोयगिज्झं विवज्जए ॥ ५ ॥

हास किड्डं रइं दप्पं सहसावित्तासियाणि य।
वम्भचेररओ थीणं नानुचिन्ते कयाइ वि ॥ ६ ॥
पणीयं भत्तपाणं तु खिप्पं मयविवड्ढणं।
वम्भचेररओ भिक्खू निच्चसो परिवज्जए ॥ ७ ॥
वम्मलद्धं मियं काले जत्तत्थं पणिहाणवं।
नाइमत्तं तु भुंजेज्जा वम्भचेररओ सया ॥ ८ ॥
विभूसं परिवज्जेज्जा सरीर परिमण्डणं।
वम्भचेररओ भिक्खू सिंगारत्थं न धारए ॥ ९ ॥
सद्दे रूवे य गन्धे य रसे फासे तहेव य।
पंचविहे कामगुणे निच्चसो परिवज्जए ॥ १० ॥
आलओ थीजणाइण्णो थीकहा य मणोरमा।
संथवो चेव नारीणं तासिं इन्दियदरिसणं ॥ ११ ॥
कूइयं रुइय गीयं हासभुत्तासियाणि य।
पणीयं भत्तपाणं च अइमायं पाणभोयण ॥ १२ ॥
गत्तभूसणमिट्ठं च काम भोगा य दुज्जया।
नरस्सत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥ १३ ॥
दुज्जए काम भोगे य निच्चसो परिवज्जए।
संकाथाणाणि सव्वाणि वज्जेज्जा पणिहाणवं ॥ १४ ॥
धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरते दन्ते वम्भचेरसमाहिए ॥ १५ ॥
देव दाणव गन्धव्वा जक्खरक्खस्स किन्नरा।
वम्भयारिं नमंसन्ति दुक्करं जे करन्ति तं ॥ १६ ॥
एस धम्मे धुवे निच्चे सासए जिणदेसिए।
सिद्धा सिज्झन्ति चाणेण सिज्झिस्सन्ति तहावरे ॥ १७ ॥
त्ति बेमि ॥

★

आधार—२

पमायट्ठाणं

[उत्तराध्ययन अ० ३२]

[उत्तराध्ययन के १६ वें अध्ययन के अतिरिक्त उत्त० अ० ३२ तथा दशवैकालिक अ० ८ में भी शीलसमाधि के स्थानकों का विवरण है। सम्बंधित स्थलों को उद्धृत किया जाता है।]

रसा पगामं न निसेवियव्वा पायं रसा दित्तिकरा नराणं ।
दित्तं च कामा समभिद्दवन्ति दुमं जहा साउफलं व पक्खी ॥ १० ॥
जहा दवग्गी पउरिन्धणे वणे समारुओ नोवसमं उवेइ ।
एविन्दियग्गी वि पगामभोइणो न बम्भयारिस्स हियाय कस्सई ॥ ११ ॥
विवित्तसेज्जासणजन्तियाणं ओमासणाणं दमिइन्दियाणं ।
न रागसत्तू धरिसेइ चित्तं पराइओ वाहिरिवोसहेहिं ॥ १२ ॥
जहा बिरालावसहस्स मूले न मूसगाणं वसही पसत्था ।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे न बम्भयारिस्स खमो निवासो ॥ १३ ॥
न रूवलावण्णविलासहासं न जंपियं इंगियपेहियं वा ।
इत्थीण चित्तंसि निवेसइत्ता दट्ठुं ववस्से समणे तवस्सी ॥ १४ ॥
अदंसणं चेव अपत्थणं च अचिन्तणं चेव अकित्तणं च ।
इत्थीजणस्सारियझाणजुग्गं हियं सया बम्भवए रयाणं ॥ १५ ॥
कामं तु देवीहिं विभूसियाहिं न चाइया खोभइउं तिगुत्ता ।
तहा वि एगन्तहियं ति नच्चा विवित्तवासो मुणिणं पसत्थो ॥ १६ ॥
मोक्खाभिकंखिस्स उ माणवस्स संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे ।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥ १७ ॥
एए य संगे समइक्कमित्ता सुदुत्तरा चेव भवन्ति सेसा ।
जहा महासागरमुत्तरित्ता नई भवे अवि गंगासमाणा ॥ १८ ॥
कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि तस्सन्तगं गच्छइ वीयरागो ॥ १९ ॥
जहा य किंपागफला मणोरमा रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा एओवमा कामगुणा विवागे ॥ २० ॥
जे इन्दियाणं विसया मणुन्ना न तेसु भावं निसिरे कयाइ ।
न यामणुन्नेसु मणं पि कुज्जा समाहिकामे समणे तवस्सी ॥ २१ ॥

★

परिशिष्ट—ग

श्री जिनहर्ष रचित शील की नव बाड

श्री जिनहर्ष रचित

शील की नव बाड़

दूहा

श्री नेमीसर चरण युग प्रणमु ऊठि परभात ।
बावीसम जिन जगत गुरु ब्रह्मचार विख्यात ॥ १ ॥
सुदर अपछर सारिषी रति सम राजकुमार ।
भर जोवन मे जुगति सु छोडी राजुल नारि ॥ २ ॥
ब्रह्मचर्य जिण पाल्यो धरता दुद्धर जेह ।
तेह तणा गुण वरणवु जिम पावन हुवइ देह ॥ ३ ॥
सुरगुरु जो पोते कहै रसना सहस वणाइ ।
ब्रह्मचर्य ना गुण घणा ती पिण कह्या न जाइ ॥ ४ ॥
गलित पलित काया थई तउ ही न मूकै आस ।
तरुण पणे जे व्रत धरै हु बलिहारी तास ॥ ५ ॥
जीव विमासी जोइ तू विषय म राचि गिवारि ।
थोडा सुप ने कारणइ मूरख घणउ म हारि ॥ ६ ॥
दस दृष्टाने दोहिलो लाधउ नर भवसार ।
पालि सील नव वाडि सु सफल करी अवतार ॥ ७ ॥

ढाल : १ :

दूहा

हिव प्राणी जाणी करी रापि प्रथम ए वाडि ।
[1]जो ए भाजी पइसिसी प्राणे प्रथम महा घाडि ॥ १ ॥
जेहड तेहड पल्कती प्रमदा गय मयमत्त ।
सील वृक्ष ऊपाडिसी वाडि विभावि तुरत्त ॥ २ ॥

ढाल : २ :

(नणदल री)

भाव धरी नित पालीयइ गरुआ ब्रह्मव्रत सार हो भवीयण ।
जिण थी सिव सुप पामीयै सुदर तनु सिणगार हो भ० ॥ १ भा० ॥
स्त्री पसु पडग जिहा वसइ तिहा रहिवौ नही वास हो भ० ।
एहनी सगति वारीयै व्रत नी करै विणास हो भ० ॥ २ भा० ॥
मजारी सगति रमे कूकड मूसग मार हो भ० ।
कुसल किहा थी तेहनइ पामै दुप अघोर हो भ० ॥ ३ भा० ॥
अगनि कुड पासइ रहै प्रघले घृत नी कुभ हो भ० ।
नारी सगति पुरुपनइ रहइ किसी परि दभ हो भ० ॥ ४ भा० ॥
सीह गुफा वासी जती रह्यौ कोस्या चित्रसाल हो भ० ।
तुरत पड्यौ वसि तेहनइ देप गयौ नेपाल हो भ० ॥ ५ भा० ॥
विकल [illegible] विण वापडा पपी [illegible] हो भ० ।
दपी [illegible]पणा महासती [illegible] हो भ० ॥ ६ भा० ॥
चित चचल पडग [illegible] हो भ० ।
तजि सगति रति तेहनी [illegible] हो भ० ॥ ७ भा० ॥

दूहा

रमणि रूप इम वरणवै रे आण विषै मन रंग ।
मुगध लोकनइ रीझवइ रे वाधइ अंग अनंग रे प्रा० ॥ ४ ॥
अपवित्र मलनौ कोठलो रे कलह काजल नी ठाम ।
बारह स्रोत्र वहै सदा रे चरम दीवडी नाम रे प्रा० ॥ ५ ॥
देह उदारिक कारिमी रे पिण मे भगुर थाइ ।
सत धातु रोगाकुली रे जतन करता जाय रे प्रा० ॥ ६ ॥
चक्री चोथउ जाणीयै रे देवे दीठी आय ।
ते पिण पिण मे विणसीयो रे रूप अनित्य कहाय रे प्रा० ॥ ७ ॥
नारि कथा विकथा कही रे जिनवर बीजे[1] अंग ।
अनरथ दड अग मानमे रे कहै जिनहरष प्रसंग रे प्रा० ॥ ८ ॥

दूहा

ब्रह्मचारी जोगी जती न करै नारि प्रसंग ।
एकण आसन बइसता थायै व्रत नो भंग रे ॥ १ ॥
पावक गालै लोहनइ जा रहै पावक संग ।
इम जाणी रे प्राणीया तजि आसण त्रियरंग ॥ २ ॥

ढाल : ४ :

(ये सौदागर लाल चलण न देसु एहनी)

त्रीजी बाडि हिवै चित्त विचारो नारि सहित बइसवो निवारो लाल ।
एकइ आसण काम दीपावै चौथा व्रत नै दोष लगावै लाल त्री० ॥ १ ॥
इम देखता आसगो थावै आसगै काया फरसावै रे लाल ।
काया फरस विषै रस जागै तेहथी अवगुण थायै आगै लाल त्री० ॥ २ ॥
चोथा श्री जिनभूत प्रसिद्धो तन फरसै नीयाणो कीधो लाल ।
ब्रह्मदत्त चक्र अवतरीयौ चित्त प्रतिबोध तेहने दीयौ लाल त्री० ॥ ३ ॥
तेहने उपदेश न लागौ विरतन आदर पईं भागौ लाल ।
सातमी नरक तणा दुख सहीया, स्त्री फरसै अवगुण इम कहीया लाल त्री० ॥ ४ ॥
काल विलम्ब दवै दुख पा[illegible], नरक तणा साची सहिनाणा लाल ।
[illegible] निज आसन हिव आणो लाल त्री० ॥ ५ ॥
[illegible] देखी [illegible] ने देखी [illegible] लाल ।
[illegible] जिनहरख [illegible] लाल त्री० ॥ [illegible] ॥

दूहा

ढाल : ५ :

(मोहन मुंदरी ले गयो महुनी)

मनहरि इंद्री नारि ना दीठा वधै विकार ।
वागुल[1] कांमी मृग भणी हो पास रच्यो करतार ॥ १ ॥
सुगुण रे नारी रूप न जोईयै [2]जोईयै वधै राग मु० ।
नारी रूपै दीवलौ कामी पुरुष पतंग ।
भापै नृप ने कारणे हो दाजै अंग सुरंग मु० ना० ॥ २ ॥
ननगमना रमता हीयै[3] उर कुच वदन सुरंग ।
नहर अहर[4] भोगी डस्या हो जोवना ब्रन भग मु० ना० ॥ ३ ॥
कामणिगारी कामनी इण जीती सयल समार ।
जपी अजीव न को रह्यो हो सुरनर गया सह हार मु० ना० ॥ ४ ॥
हाथ पाव छेद्या हुवै कान नाक पिण जेह ।
ते पिण सो वरसा तणी हो ब्रह्मचारी तजै तेह मु० ना० ॥ ५ ॥
रूपे रूडा नारियो सीता [illegible] नारि ।
ती किम जोवै रहवी हो भर यौवन [illegible] धारि मु० ना० ॥ ६ ॥
अबला [illegible] जाणता मन धारै नहि प्रेम ।
राजमती देपी करी हो नुरत लियो [illegible]नमि मु० ना० ॥ ७ ॥
रूप कूप देपी करी मांहि पडे [illegible] ।
दुष माणे जाणे नही हो [illegible] मु० ना० ॥ ८ ॥

दूहा

काम वसै हड्हड हसै रे प्रिय मेटो तनु ताप रे ।
वात करै तन मन हरै रे विरहण करै विलाप रे वा० ॥ ५ ॥
राग विषै सुणि हुलसै रे हासै अनरथ दड[1] रे ।
रावणि[2] घरणि हासा थकि रे रावण वध थयौ जोय रे वा० ॥ ६ ॥
ब्रह्मचारी नवि सामलै रे एहवा विरही वैण रे ।
कहे जिनहरष [3]वीरज टलै रे चित्त चलै सुणि वैण रे वा० ॥ ७ ॥

दूहा

छठी वाडै इम कह्यो चचल चित्त म डिगाय ।
पावौ पीधौ विलसीयौ रे तिण सू चित्त म लगाय ॥ १ ॥
काम भोग सुष प्रारथ्या आपै नरक निगोद ।
परतिष तौ कहिवौ किसु विलसै जेह विनोद ॥ २ ॥

ढाल : ७ :

(आज निहेजो रे दीसइ नाहलौ एहनी)

भर जोवन धन सामग्री लही पामी अनुपम भोग ।
पांचे इद्री ने वसि भोगव्या पाचे भोग सजोग भ० ॥ १ ॥
ते वीतारे ब्रह्मचारी नही धुरि भोगवीया सुप ।
आसीविस विससाल समोपमा चीताख्या दे दुप भ० ॥ २ ॥
सेठ माकदी अगज जाणीयै जिणरक्षत इण नाम ।
जक्ष तणी सिष्या सहु वीसरी व्यामोहित वसि काम भ० ॥ ३ ॥
रयणा देवी सम मुख जोईयै पूरव प्रीत सभार ।
ते भापी तरवारै वीधीयौ नाप्यौ जलधि मझार भ० ॥ ४ ॥
जोवौ जिनपालिक पडित थयौ न कीधौ तास वेसास ।
मूलगी पिण प्रीति न मन धरी सुप सयोग विलास भ० ॥ ५ ॥
मेलग जक्षै तत षिण ऊधर्यौ मिलीयौ निज परिवार ।
कह जिनहरष न पुरव कीलीया सभारै नरनार भ० ॥ ६ ॥

दूहा

पाटा पारा चरचरा मीठा भोजन जेह ।
मधुरा म.ल कसायला रसना सहु रस लेह ॥ १ ॥
जेहन नी रसना वसि नही चाहु सरस आहार ।
ते पामे दुप प्राणीयौ चौगति रुलै ससार ॥ २ ॥

ढाल : ८ :

कमल[1] झरै उपाडता घृत बिंदु सरस आहारो रे ।
ते आहार निवारीयें तिण थी वधै विकारो रे व्र० ॥ २ ॥
सरस रसवती आहरै दूध दही पकवानो रे ।
पाप श्रवण तेहने कह्यौ उत्तराध्ययन सु जाणो रे व्र० ॥ ३ ॥
चक्रवर्त्ति नी रसवती रसिक थयो भूदेवो रे ।
काम विटंवण तिण लही वरजि २ नितमेवो रे व्र० ॥ ४ ॥
रसना जे जे लोलपी[2] लपट लयण सवादो रे ।
मजू आचारिज नी परै पामे कुगति विपादो रे व्र० ॥ ५ ॥
चारित छाडी प्रमादीयौ निज सुत नी राजधानी रे ।
राज रसवती वसि पड्यौ [3]जोईसेलममदमाषानी रे व्र० ॥ ६ ॥
सबल आहारै बल बधै बल उपसमय[4] न वेदो रे ।
वेदै व्रत षडित हुवै कहे जिनहरष उमेदो रे व्र० ॥ ७ ॥

दूहा

अति आहारै दुष हुवै गलै रूप सुगात ।
आलस नीद प्रमाद घण दोष अनेक कहात ॥ १ ॥
घणे आहारै विस चढै घणेज फाटै पेट ।
धान अमामौ ऊरता हाडी फूटै नेट ॥ २ ॥

ढाल : ९ :

(जम्बूद्वीप मज्झार एहनी)

पुरुष कवल बत्तीस भोजन विध कहा ।
अठावीस नारी तणो[5] ए पडग कवल चौवीस ॥
इधकै दूषण होइ असाता दुप[6] घणीए ॥ १ ॥
ब्रह्मव्रत धरनार[7] थायै तेहनै उणोदरीए गुण घणाए ।
जीमे जासक जेह तेहने गुण नही अतीचार ब्रह्मव्रत तणाए ॥ २ ॥
जोइ कुडरीक मुणिद सहस वरस लगी तप करि करि काया दही ए ।
तिण भागी चारित्र आयौ राजमे अति मात्रा रसवती लहीए ॥ ३ ॥
मेवा नें मिष्टान व्यजन नवनवा सालि दालि घृत लूचिका ए ।
भोजन करि भरपूर सुतौ निस समे हुओ तास विसूचिका ए ॥ ४ ॥
वेदन सही अपार आरत रौद्र मे मरीय गयौ ते सातमी ए ।
कहे जिन हरष प्रमाण ओछौ जीमीयें वाडि नहि ए आठमी ए ॥ ५ ॥

दूहा

नवमी वाडि विचार ने पालि[8] सदा निरदोष ।
पामिन तत पिण प्राणीया अविचल पदवी मोष ॥ १ ॥
आ विभूषा जे[9] करै ते नजोगी होइ ।
ब्रह्मचारी तन सोभवै तिण[10] कारण नवि होइ ॥ २ ॥

ढाल : १० :

(वीरा बाहूबल नी)

शोभा न करै देहनी न करै तन सिणगार ।
ऊगटणा पीठी वली न करै किण ही वारो रे ।
सुणि[1] चेतन[2] सुणि तू मोरी वीनती तो नें सीष कहूं हितकारो रे सु० ॥
उन्हा ताढा नीर सु न करै अग अघोल ।
केसर चदन कुकुंम पाते न करइ पोल्लो रे सु० ॥ १ ॥
घणमोला नें उजला न करै वस्त्र वणाव ।
घाते काम महा बली चौथा [3]व्रत ने थावी रे सु० ॥ २ ॥
काकड कुडल मुद्रडी मोला[4] मोतीआ हार पहिरै नही ।
सोभा भणी[5] जे थायैं व्रतधारो रे ॥ सु० ३ ॥
काम दीपत[6] जिणवर कह्या भूषण दूषण एह ।
अग विभूषा टालवी कहै जिनहरष सनेहो रे सु० ॥ ४ ॥

ढाल : ११ :

(आप सवारथ जग सहू रे एहनी)

श्री वीर दाइ दस परषदा मे उपदिस्या इम सील ।
जे पालसु नवे वाडि सु ते लहिसी हो शिव सपद लील ॥ १ ॥
सील सदा तुमे सेवज्यो रे फल जेह नो हो अति सरस अपीण ।
आठ करम[7] हणी रे ते पामैं हो ततषिण सुप्रीण[8] सी० ॥ २ ॥
जय[9] जलण अरि करि केसरी भय जाय सगला भाजि ।
सुर असुर नर सेवा करैं मन वछित हो सीझै सहु काम[10] सी० ॥ ३ ॥
जिन भुवन नीपावैं नवौ कचण तणौ नर कोइ ।
सोवन तणी कोइ कोडि द्यै[11] सील सम वडि हो तौ ही पुण्य न होय सी० ॥ ४ ॥
नारि ने दूसण नर थकी तिम नारि थी नर दोष ।
एकडि[12] विहु ने सारिषी पालेवी हो मन धरीय सतोष सी० ॥ ५ ॥
निधि नयण सुरस[13] भाद्रपदि वीज आलस छाडि ।
जिन हरष दृढ व्रत पालिज्यो नत धारी हो जुगती नव वाडि सी० ॥ ६ ॥

इति श्री नववाडि सुद्ध शील विषये चतुपदी समाप्त. । स० १८५८ वर्षे मिती जेठ वदि ८ दिने लिपत विक्रमपुर मध्ये गुरवारे दि० । प० सुगुणप्रमोदमुनि लिपि कृत ॥ श्रीः ॥ ६ : श्रीरस्तु ॥ श्री : ॥ प । महिमा प्रमोद मुनि हुकुम दियो लिदै लिद दाना ॥ श्री ॥ ६ : ॥ कल्याणमस्तु ॥ शुभ भवन ।

●

१—सुणि सुणि २—चेतन चेतन ३—चौथा व्रत नों वावो र ४—माला ५—सो पहिरै नहीं सोभा भणी ६—दीपत ७—करम अरियण ८—सुप्रवीण ९—जल १०—काज ११—छोड १२—एकडि १३—सुर सम

परिशिष्ट–घ

पुस्तक-सूचि

(क)

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
अकेलो जाने रे (१९५४)	मनु बहन गाधी	नवजीवन प्रकाशन मदिर, अहमदाबाद
अथर्ववेद	स० श्रीराम शर्मा आचार्य	गायत्री प्रकाशन, मथुरा
अनगारधर्मामृतम् (प्र० आ०)	प० आशाधरजी	श्री माणिकचन्द-दि० ग्रथ० समिति, बम्बई
अनीति की राह पर (१९४७)	महात्मा गाधी	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
अमृतवाणी (१९४५)	म० गाधी अनु० श्री रामनाथ 'सुमन'	साधना-सदन, इलाहाबाद
आचार्य सन्त भीखणजी	श्रीचन्द रामपुरिया	हमीरमल पूनमचन्द रामपुरिया, सुजानगढ
आचाराङ्ग सूत्र	अनु० मुनि श्री सौभाग्यमलजी	श्री जैन साहित्य समिति, उज्जैन
आचाराङ्ग (निर्युक्ति टीकायुक्त)		श्री सिद्धचक्र साहित्य प्र०स०, बम्बई
आत्मकथा (१९४०)	महात्मा गाधी	नवजीवन प्रकाशन मदिर, अहमदाबाद
आरोग्य की कुञ्जी (१९५८)	,,	,,
आरोग्य साधन (१९५०)	,,	हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता
उत्तराध्ययन (नेमिचन्द्र टीकायुक्त)		फूलचन्द खीमचन्द, वलाद
उत्तराध्ययन सूत्र नी चोरासी कथाओ	जीवनलाल छगनलाल सघवी	जीवन० छगन० अहमदाबाद
उत्तराध्ययनसूत्रम्	जे० शार्पेन्टियर	उपशाला
उपदेश माला (१९२३)	श्री धर्मदास गणि	मास्टर उमेदचद रायचद, अहमदाबाद
उपासगदसाओ	अनु० एन ए. गोर, एम ए	ओरियन्टयल बुक एजेन्सी, पूना
अेकला चलो रे (१९५७)	मनु वहन गाधी	नव० प्र० म०, अहमदावाद
औशनसस्मृति (स्मृति-सदर्भ तृ० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
ऋग्वेद सहिता	स० सातवलेकर	स्वाध्याय-मण्डल, पारडी, सुरत
औपपातिक सूत्रम्	स० एन जी सुरू, एम ए	पूना
कार्यकर्ता-वर्ग	विनोवा भावे	अखिल भारत सर्व सेवा-सघ, काशी
गाधी और गाधीवाद (विवरण पत्रिका वर्ष ८ अक ८)	श्रीचन्द रामपुरिया	जैन श्वे० तेरापन्थी महासभा, कलकत्ता
गान्धी वाणी (१९५२)	स० श्री रामनाथ 'सुमन'	सा० स०, इलाहावाद
गीता		गीता प्रेस, गोरखपुर
गौतम धर्मसूत्र		आनन्द शर्मा प्रेस
[illegible]	स० आचार्य श्री चन्द्रसागरसूरि	श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक स०, वम्बई
ज्ञानार्णव	मुनि शुभचन्द्र	श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, वम्बई
चरकसहिता	जयदेव विद्यालकार	मोतीलाल बनारसीदास, वनारस
चर्पट पञ्जरी	श्रीमद् शकराचार्य	भार्गव बुकडिपो, वाराणसी
छान्दोग्योपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
जैन दृष्टिए ब्रह्मचर्य (१९३१)	आ० सुखलाल सघवी अ० वेचरदास दोशी	गूर्जर ग्रथरत्न कार्यालय, अहमदावाद
जैन भारती (१९५३)	स० श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) भा० १, २	अकलङ्कदेव स० प० महेन्द्र कुमार जैन एम ए	भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (सभाष्य)	श्रीमदुमास्वाति अनु० प० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	श्री परमश्रुत प्रभावक जैनमण्डल, बम्बई
तत्त्वार्थवृत्ति	श्री श्रुतसागरसूरि	भा० ज्ञा०, काशी
तत्त्वार्थ सूत्र (गुजराती)	प० सुखलालजी	गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
तत्त्वार्थसूत्र सर्वार्थसिद्धि	स० प० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	भा० ज्ञा०, काशी
तैत्तिरीय सहिता		
त्यागमूर्ति अने बीजा लेखो (१९४५)	महात्मा गाधी	नव० प्र० म० अहमदावाद,
दक्षस्मृति		
दसवेयालिय सुत्त	स० डॉ० ल्यूमैन अनु० डॉ० श्यूब्रिग	सेठ आनन्दजी कल्याणजी, अहमदावाद
दशवैकालिक सूत्र	का० वा० अभ्यकर, एम ए	अहमदावाद
दशाश्रुतस्कन्ध	अनु० आ० श्री आत्मारामजी	जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर
दीघ-निकाय	अनु० भिक्षु राहुल साकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
The wonder that was India	ए० एल० वासम, बी ए, पीएच डी	सिडविक एण्ड जैकसन, लण्डन
The sayings of Muhammad	सर अब्दुल शुराहवर्दी	सर हसन शुराहवर्दी, कलकत्ता
दृष्टान्त और धर्मकथाएँ	श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा, कलकत्ता
धर्ममथन (१९३९)	महात्मा गाधी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
नवजीवन (२८।७।३९)		नव० प्र० म० ,,
नायाधम्मकहाओ	स० प्रो० एन० व्ही० वैद्य	पूना
निशीथसूत्रम्(सभाष्य,सचूर्णि) (चार भाग)	स० मुनि अमरचन्द्रजी	सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा
पथ और पाथेय	आचार्य श्री तुलसी (स० मुनि श्रीचन्द्र)	सेठ चादमल बाठिया ट्रस्ट
पातञ्जल योगसूत्र	अनु० रामाप्रसाद, एम०ए०	पाणिनी आफिस, इलाहाबाद
पुरुषार्थसिद्धयुपाय	श्री अमृतचन्द्रसूरि अनु० श्री नाथूराम प्रेमी	श्री परमश्रुत प्रभावक मडल, बम्बई
पच्चक्खाण	अनु० मुनिश्री हस्तिमलजी	श्री हस्तिमलजी सुराणा, पाली

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
प्रश्नोपनिषद्	अनु० नारायण स्वामी	सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, देहली
ब्रह्मचर्य (१९४९)	श्रीचन्द रामपुरिया	जै० श्वे० तेरा० महासभा
ब्रह्मचर्य (१९४९) (महा० गांधी के विचारो का दोहन)	स० श्रीचन्द रामपुरिया	„
ब्रह्मचर्य (प्र० भा० १९५७)	महात्मा गाधी	सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली
„ (दू० भा० १९५७)	„	„
बापू की छाया मे (दू० आ०)	श्री बलवतसिंह	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
बापुना पत्रो—५ कु० प्रेमाबहेन कटकने	महात्मा गाधी	„
बृहद्कल्प सूत्र	स० श्री पुण्य विजयजी	श्री आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
बृहदारण्यकोपनिषद्		गीता प्रेस, गोरखपुर
बौधायन सूत्र		
भगवती सूत्र	प० भगवानदास हरखचद दोशी	जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद
भगवान महावीरनी धर्मकथाओ	अनु० अ० बेचरदास दोशी	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
भागवत		गीता प्रेस, गोरखपुर
भारतीय सस्कृति का विकास (प्र० ख० वैदिक धारा)	डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री एम ए डी फिल (ऑक्सन)	समाज विज्ञान परिषद, बनारस
भिक्खु दृष्टान्त	श्रीमद्जयाचार्य	जै० श्वे० तेरा० महासभा
भिक्षु-ग्रन्थ रत्नाकर (खण्ड १, १९६०), (ख० २, १९६०)	स० आचार्य श्री तुलसी	„
भिक्षु-विचार दर्शन (१९६०)	मुनि श्री नथमलजी	„
मगल प्रभात (१९५२)	महात्मा गाधी	स० सा० म०, नई दिल्ली
Mahatma Gandhi—The Last Phase vol I	श्री प्यारेलालजी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
„ vol II		
मनुस्मृति (१९५४)	अनु० प० जनार्दन झा	हि० पु० ए०, कलकत्ता
महादेव भाई नी डायरी (प्र० भाग) (दू० भा० ती० भा०)	स० नरहरि द्वा० परीख अनु० रामनारायण चौधरी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
माण्डूक्योपनिषद्	स० मगनभाई प्रभुदास देसाई	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
My Days with Gandhi (१९५३)	श्री निर्मल कुमार बोस	इण्डियन एसोसियेटेड पब्लिशिंग क० लि०, कलकत्ता
मुण्डकोपनिषद्	स० मगनभाई प्रभुदास देसाई	गूजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
योगशास्त्र	आचार्य हेमचन्द्र सूरि	श्रीमद्विजयदानसूरीश्वर जैन ग्रंथमाला, सूरत
रामनाम	महात्मा गाधी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
वशिष्ठ स्मृति (स्मृति-सन्दर्भ: तृ० भा०)		श्री मनसुखराय मोर, कलकत्ता
विनय पिटक	अनु० प० राहुल साकृत्यायन	महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
विनोबा के विचार (प्र० भा० १९५७) (द्वि० भा० १९४६)	श्री विनोबा	स० सा० म०, नई दिल्ली
विवरण पत्रिका (वर्ष ८ अ० ८)		जै० श्वे० तेरा० महासभा
विशुद्धिमार्ग	अनु० भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ (वाराणसी)
विहारनी कोमी आगमा (१९५६)	मनुबहेन गाधी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
वैराग्य मजरी		ओसवाल प्रेस, कलकत्ता
व्यापक धर्मभावना	महात्मा गाधी	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
सत्याग्रह आश्रम का इतिहास (१९४८)	"	"
सप्तमहाव्रत अहिंसा (स० १९८७)	"	गीता प्रेस, गोरखपुर
समवायाङ्ग	अनु० शास्त्री जेठामल हरिभाई	श्री जैन धर्म प्रसारक सभा, कलकत्ता
सर्वोदय दर्शन (१९५८)	दादा धर्माधिकारी	अखिल भारत सर्व-सेवा सघ, वर्धा
St Matthew	(कीग जेम्स वर्सन)	दी जॉन सी० विन्स्टन क०, शिकागो
सुत्तनिपात	अनु० भिक्षु धर्मरत्न एम ए	महाबोधि सभा, सारनाथ
सूत्रकृताङ्ग		आगमोदय समिति
सूत्रकृताङ्ग	स० अम्बिकादत्तजी ओझा	शभूमलजी गगारामजी बेंगलोर
Self Restraint V Self Indulgence	महात्मा गाधी	नव प्र० म०, अहमदाबाद
स्थानाङ्ग (ठाणाङ्ग) (स० १९९४) (आ० बीजो)		शेठ माणेकलाल चुनीलाल, अहमदाबाद
स्त्री और पुरुष (१९३३)	सत टॉल्स्टॉय अनु० वैजनाथ महोदय	स० सा० म०, नई दिल्ली
स्त्री-पुरुष-मर्यादा	कि० घ० मशरूवाला	नव० प्र० म०, अहमदाबाद
सयम शिक्षा (१९३३)	महात्मा गाधी	
सयम अने सतति नियमन (१९५९)	"	"
सयुत्त-निकाय	अनु० भिक्षु जगदीश काश्यप भिक्षु धर्मरक्षित	महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस
शतपथ ब्राह्मण	स० वेबर मु० एफ० मैक्समूलर	क्लेरेन्डन प्रेस, ऑक्सफोर्ड

कृति	लेखक, अनुवादक, सम्पादक	प्रकाशक
Harijan (जून ८, १६४७)		नव० प्र० मदिर, अहमदाबाद
हरिजन सेवक (२७-६-'३५)		"
हरिभद्रसूरि ग्रन्थ-सग्रह (१६३६)		जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, अहमदाबाद
History of Dharmasastra	महामहोपाध्याय पा० वामण काने	भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स०, पूना